Digitized by the Harvard University, Ernst Mayr Library of the Museum of Comparative Zoology

113444

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CANCELLED
RT-153

Stock Verification-2

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

सम्पादक : यशदेव शल्य

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Lib. 11-3-97

COMPILED

दार्शनिक त्रैमासिक

विषय-सूची

शांकर अद्वैतवाद : युष्मत् का संवरण	भगवती	१
डेविड ह्यूम का धर्म-दर्शन	वेदप्रकाश वर्मा	२६
प्रागनुभविक ज्ञान	जगदीशसहाय श्रीवास्तव	४८
पुस्तक-समीक्षा	रा. स्व. भटनागर	५७

वार्षिक मूल्य : १५.००

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

113444
COMPILED
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष २० जनवरी १९७५ अंक १

113444

शांकर अद्वैतवाद : युष्मत् का संवरण

भगवती

यद्यपि शंकर, सांख्य से भिन्न, चिदद्वैतवादी हैं किन्तु तब भी वे सांख्य की प्रकृति के अनुरूप माया को और सांख्य की विकृतियों के अनुरूप उपाधियों को स्वीकार करते हैं। केवल वे माया को पृथक् तत्त्व स्वीकार नहीं करके उपादान रूप से चित् या ब्रह्म ही को एकमात्र सत् मानते हैं। सांख्य में प्रकृति के एक स्वतन्त्र तत्त्व होने से उसके लिये औपाधिक सृष्टि वास्तव परिणाम है और प्रस्तुत जगत् विवर्तरूप है, किन्तु शकर में माया के स्वतन्त्र सत् नहीं होने से औपाधिक और प्रस्तुत दोनों प्रकार की सृष्टि वितर्त-रूप ही है। सांख्य के समान ही शंकर भी मोक्ष और मोक्षाकांक्षा को स्वीकार करते हैं और उसके अनुरूप विवेक और अविवेक को भी, किन्तु सांख्य के विपरीत शंकर के लिये यह एक कठिनाई हो सकती है कि इनका अधिष्ठान कहां माना जाय ? ब्रह्म में अविवेक असम्भव है और इसी से विवेक भी असम्भव है। तब इनका अधिष्ठान माया में माना जा सकता है। यहां शंकर में थोड़ी अस्पष्टता प्रतीत होती है। शंकर के अनुसार ईश्वर माया-सापेक्ष ब्रह्म है, किन्तु ईश्वर मायोपाधि का स्वतन्त्रतः धारण करता है, अभिमानपूर्वक नहीं। इस प्रकार ईश्वर अविवेकी (अविद्यायुक्त) नहीं हो सकता।[1] इससे 'माया' और 'अविद्या'

१. परमेश्वर को देहादि में आत्मभाव अथवा दुःखाभिमान नहीं है। जीव को भी अविद्याकृत नाम-रूप से संपादित देह, इन्द्रिय आदि उपाधि के अविवेक से ही दुःखाभिमान है। (नैवं परमेश्वरस्य देहाद्यात्मभावो दुःखाभिमानोवाऽस्ति। जीवस्याविद्याकृत नामरूप निर्वृत्त देहेन्द्रियाद्युपाध्य-विवेकभ्रमनिमित्त एव दुःखाभिमानो—अ०२,पा०३, सूत्र ४६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
को भिन्न-भिन्न मानना चाहिये। वास्तव में शंकर इन्हें भिन्न ही मानते हैं और इसके लिये उनमें पर्याप्त स्पष्ट कथन मिलते हैं। उदाहरण के लिये शंकर अध्याय २, पाद १, सूत्र १४ में नामरूपात्मक बीज-शक्ति (माया) को अविद्या के लिये निमित्त कहते हैं, जिसका अर्थ है कि माया अविद्या की कारक है, उससे अभिन्न नहीं है। ऐसा मानना आवश्यक भी है क्योंकि अविद्या जीव की उपाधि है जबकि माया किसी की उपाधि नहीं है, यह उपाधि के लिये निमित्तमात्र है। कहा जा सकता है कि यह ब्रह्म की उपाधि है जिसके द्वारा ब्रह्म ईश्वरत्वोपेत होता है।[२] यह सही है, किन्तु एक मौलिक अन्तर है और वह यह कि माया जगत्-वैविध्य का सामान्य तत्त्व है जिससे इसे जगत् का बीज कहा गया है। यह बीज अविद्या के कारण अन्तःकरणादि उपाधियों में परिणत होता है। यहां पुनः सांख्य और शंकर में एक साम्य देखा जा सकता है। सांख्य के अनुसार भी प्रधान जगत् का सामान्य तत्त्व है और यह सामान्य तत्त्व अविद्या के कारण जगत्-रूप में परिणत होता है। तब सांख्य और वेदान्त में मौलिक अन्तर केवल एक ही है और वह यह कि सांख्य के अनुसार जबकि प्रधान स्वतन्त्र तत्त्व है, शंकर के अनुसार माया चैतन्य का स्वतन्त्र आत्म-सर्जन है, और स्वतन्त्र आत्म-सर्जन होने से चैतन्य प्रसंगतः मायोपम (ईश्वर) है और प्रसंगान्तर से उससे निरपेक्ष (ब्रह्म)।[३]

किन्तु सांख्य और शंकर पर विचार पुरुष और प्रकृति से तथा ब्रह्म और माया से आरम्भ करना सिर के बल चलने जैसा है। सांख्य जगत्-जन्य दुःखापघात के उपाय से और शंकर आत्म और अनात्म के अध्यास से आरम्भ करते हैं। इस प्रकार दोनों की समस्या उस बोध का स्वरूप समझने की है जो हम जगत् की सार्थकता में सन्देह के रूप में अनुभव करते हैं। इस प्रकार दोनों प्रस्तुत अनुभव से

२. अविद्या के लिये निमित्त बनना जिसका स्वभाव है ऐसे नाम–रूपात्मक बीज शक्ति के जगत् के के रूप में प्रकट होने पर ही ईश्वर का ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व आदि अवलम्बित है। इस बीज-शक्ति को ही माया कहते हैं और यह ईश्वर के अधीन रहती है। (सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूत इवाविद्या-कल्पिते नामरूपे तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसार-प्रपंच-बीजभूते सर्वज्ञेश्वरस्यमाया शक्तिः प्रकृतिरिति—अ०२,पा१.सूत्र १४।

३. Ishvara has a dual form, as weilding maya-shakti and thus immanent in the world (Vikarvarti), and as dissociated from it, transcendent (trigunatita), and merging back into Brahman. As transcendent, Ishvara is conceived as what is not Maya, as determined not by Maya but by freedom from maya, as other than the world that is put forth by him as an appearance, while Brahma is understood without reference to Maya and the world. K. C. Bhattacharya : The Advaita and its Spiritual Significance. **Thd Cultural Heritage of India.** Vol.3, Ed. Haridas Bhattacharya (The Ramakrishna Mission Institute of Cnlture, Culcutta. 1937)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
आरम्भ कर उसके अतिक्रमण की सम्भावना पर विचार करते हैं।

किन्तु यहां सांख्य और शंकर में एक बड़ा अन्तर है। सांख्य जबकि जगत् की निरर्थकता दिखाने के लिये जगत् के विवेचन को ही प्रमुखता देता है, शंकर इसकी निरर्थकता को सिद्ध मान कर हमारे परमार्थ स्वरूप के विवेचन को प्रमुखता देते हैं। पीछे हमने सांख्य-विवेचन के प्रसंग में शंकर पर विचार करते हुए उन्हें जगत् की समस्या के पक्ष से समझने का प्रयत्न किया था, यहां हम उन्हें मुख्यतः परमार्थ, या कहें परतत्त्व, के पक्ष से समझने का प्रयत्न करेंगे।

\+ \+ \+

शांकर अद्वैतवाद को उपयुक्तरूप से चिदद्वैतवाद की भी अपेक्षा ब्रह्माद्वैतवाद कहना अधिक उपयुक्त होगा और ब्रह्म उसके अनुसार सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है। सत् को एक पृथक् कोटि मानना और अद्वय तत्त्व को इस कोटि से निरूपित मानना सप्रयोजन है और यह वेदान्त को एक विशिष्टता देता है। इस कोटि की प्रतिकोटि यद्यपि असत् है किन्तु शंकर तथा वेदान्त के अन्य अनेक सम्प्रदायों ने एक अन्य कोटि (अनिर्वचनीय) की कल्पना की है जो यद्यपि 'सत्' की प्रतिकोटि नहीं है किन्तु जो 'सत्' को एक अधिक अर्थ-गर्भित कोटि बना देती है। और वास्तव में 'असत्' केवल ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से ही 'सत्' की प्रतिकोटि कही जा सकती है, तत्त्वमीमांसात्मक दृष्टि से नहीं। क्योंकि तत्त्वतः 'असत्' को कोई अर्थ नहीं दिया जा सकता। तत्त्वतः तो **जो है वही सब कुछ है, ऐसा कुछ नहीं है जो है नहीं**। यह कहा जा सकता है कि जो भी कुछ है वह साथ ही नहीं भी है—पुस्तक पुस्तक रूप से है किन्तु पैन रूप से नहीं है, पुस्तक क तद्रूप से है किन्तु पुस्तक ख रूप से नहीं है। सभी खण्ड-अस्तित्वों का यही स्वरूप है। इस पर दो बातें कही जा सकती हैं : पुस्तक के लिये यह कहना "कि वह पैन नहीं है" तत्त्वतः एक निरर्थक वाक्य है, केवल ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से इसका कुछ अर्थ है और वह यह कि कोई पैन की अपेक्षा से मेज़ की ओर देखता है किन्तु वहां वह पैन को नहीं पा कर पुस्तक को पाता है। किन्तु यह भी कहा जा सकता है कि यदि तत्त्वतः यह स्थिति है कि पुस्तक भी है और पैन भी तो यह तत्त्वतः स्थिति है कि पुस्तक पैन नहीं है। एक पुस्तक का अस्तित्व तदेतर से बाधित पुस्तकत्व के प्रकट होने से है, दूसरे शब्दों में, पुस्तक का भाव उसके अभाव से परिच्छिन्न हो कर ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार अभाव को तात्त्विक कोटि भी माना जा सकता है।

किन्तु वास्तव में भाव और सत् में अन्तर है। किसी वस्तु का देश-काल विशेष में भाव और अन्यत्र अभाव होता है किन्तु वह देश-काल विशेष में सत् और अन्यत्र असत् नहीं होती। सत्ता देश-काल-निर्विशिष्ट होती है। सद्वस्तु का कभी अभाव नहीं हो सकता जबकि भाव-रूप वस्तु का अभाव हो सकता है। यहां प्रश्न हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
सकता है कि क्या प्रत्येक भाव-रूप वस्तु के लिये यह अनिवार्य है कि उसका अभाव भी हो ? स्पष्टतः यह अनिवार्य नहीं हो सकता, क्योंकि सद्वस्तु का भाव तो होगा ही, और क्योंकि सद्वस्तु कभी असत् नहीं होती इसलिये उसका भाव देश-काल-निरवच्छिन्न रूप से रहता है। किन्तु असद्वस्तु भावाभाव रूप होती है, जैसे ऐन्द्रजालिक द्वारा रचित दृश्य और स्वप्न-गत दृश्य आदि। किन्तु यह कथन भी पूर्णतः युक्त नहीं है, क्योंकि असद्वस्तु पूर्णतः अभावरूप भी हो सकती है, उदाहरणतः आकाश-कुसुम। इसलिये युक्त कथन यह होगा कि ऐसी सब वस्तुएं, जो भावाभाव रूप हैं, असत् हैं, यद्यपि असद्वस्तु के लिये भावाभाव रूप होना अनावश्यक नहीं है। जगत् की सब वस्तुएं इसी प्रकार की हैं, यह तो स्पष्ट ही है, वे देश में भी परिसीमित हैं और काल में भी। किन्तु जगत् के लिये क्या कहा जाय ? जो बात जागतिक वस्तुओं के सम्बन्ध में लागू होती है वह स्वयं जगत् के सम्बन्ध में लागू नहीं होती। यह कहा जा सकता है कि देश-काल स्वयं जगत्-मूलक हैं—जगत् देश-काल का भी समावेश करता है—इसलिये जगत् भावाभाव-रूप नहीं हो सकता। वास्तव में शंकर भी माया-बीज को अनादि और अनन्त मानते हैं। किन्तु जगत् का अभाव कल्पनीय है और यह दो प्रकार से —१. जगत् है, किन्तु वह नहीं भी हो सकता था, और २. जगत् जिस प्रकार का है उससे भिन्न प्रकार का भी हो सकता था। और एक प्रकार से जगत् का अभाव प्राप्त भी है—जगत् युष्मत् प्रत्यय है और यह अस्मत् प्रत्यय से बाधित है। किन्तु यह कहा जा सकता है कि जगत् युष्मदस्मत् दोनों प्रकार के प्रत्ययों का संघात है और इस प्रकार निर्बाध है। किन्तु यह सही नहीं है। प्रत्यय को साधारण आनुभविक अर्थ में लेने पर तो जगत् सचमुच ही दोनों का संघात है, किन्तु जगत् के अभाव की कल्पनीयता अस्मत्-प्रत्यय की जगद्बाह्यता को सिद्ध करती है। जैसाकि हम सांख्य और डेकार्ट विषयक अध्यायों में देख आये हैं, यह कल्पनीयता मनोवैज्ञानिक नहीं है, तार्किक है और यह तात्त्विक कोटियों की ओर संकेत करती है। जगदोन्मुखता चेतना का एक सहज व्यापार है, जगन्निवृत्ति भी उसका उतना ही सहज व्यापार है, जैसाकि हम निद्रा में देखते हैं। किन्तु जगन्निवृत्ति का एक प्रयत्न-साध्य व्यापार भी है जिसे हम "जगन्निरास" कह सकते हैं। जगन्निरास जगत् की असत्यता की अवधारणा से सम्भव होता है जो अन्ततः चेतना की जगत् से पूर्ण निवृत्ति है। फिनोमिनलाजी दार्शनिकों का इपोखे (जगत् का स्थगन) इस जगन्निरास की ही पहली सीढ़ी है। इपोखे बौद्धिक प्रयत्न है, पूर्ण और समन्वित प्रयत्न ध्यान-योग है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सत् केवल अद्वितीय ही हो सकता है, क्योंकि दो तत्त्व परस्पराभाव को सूचित करते हैं। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि, जबकि सत् के लिये यह नहीं कहा जा सकता कि वह एक देश-काल में तो सत् है और अन्यत्र असत् है, इससे यह भी आपादित नहीं होता कि वह सर्वत्र और सर्वदा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
सत् है। क्योंकि "सर्वत्र" और "सर्वदा" देश-कालात्मक प्रत्यय हैं और देश-काल से विशेषित तत्त्वों के बारे में यह कल्पनीय है कि वे सर्वत्र और सर्वदा नहीं भी हों, उनका विभाजन भी सम्भव है और विभक्त खण्डों के बीच के स्थान में उस तत्त्व का अभाव होना सम्भव है। इसके विपरीत देश-काल से असम्बद्ध तत्त्व हैं जो अद्वितीय नहीं हैं किन्तु तब भी वे न किसी एक स्थान पर हैं, और इसी से, न सब स्थानों पर हैं। उदाहरणतः लाली और कालस, सौन्दर्य और सत्य द्रष्टव्य हैं। इसके विरुद्ध कहा जा सकता है कि ये तत्त्व हैं ही नहीं, ये तो मात्र कल्पनाएं हैं। इसके उत्तर में यहाँ हम केवल यही कहेंगे कि वेदान्त के अनुसार ये उतने ही "तत्त्व" हैं जितनी देश-कालगत वस्तुएं, क्योंकि देश-कालगत वस्तुएं संवेद-ग्राह्य प्रत्यय हैं और ये बुद्धि-ग्राह्य। इस प्रकार दोनों समान रूप से तत्त्व हैं। बल्कि, बुद्धि-ग्राह्य प्रत्ययों का उत्कर्ष अधिक है। वेदान्त की ओर से इसका उत्तर हो सकता है कि बुद्धि-ग्राह्य प्रत्यय भी परस्पर बाधक होते हैं और इसलिये परस्पर की सत्ता का बाध करते हैं। इसलिये "लाली" का "कालस" में और "सत्य" में अभाव है। इस प्रकार जो बाधा देश-कालात्मक वस्तुओं को सत् कहने में है वही बौद्धिक वस्तुओं को सत् कहने में भी है।

इसका निष्कर्ष हुआ कि या तो सब खण्ड तत्त्व असत् हैं अथवा ये किसी अखण्ड तत्त्व में खण्डात्मक प्रतीतियां हैं। पहला विकल्प मानने पर नितान्त कल्पना-मूलक और यथार्थ पदार्थों में कोई अन्तर नहीं रह जायगा। किन्तु इसका उत्तर हो सकता है कि कल्पना-मूलक पदार्थों को सत् या असत् कहना ही निरर्थक है क्योंकि वे सदसत् के प्रसंग में प्रस्तुत होते ही नहीं। शश-शृंग या तो केवल शब्द-प्रयोग मात्र है, या कल्पना है कि यदि यह हो तो शश कैसा लगेगा? किन्तु यदि कोई भ्रमवशात् सचमुच किसी भागते शश को शृंग-सहित देखता है तब इसे क्या कहा जाय? काल्पनिक या यथार्थ? स्पष्टतः इसे काल्पनिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि शश-शृंग स्पष्टतः देखा गया है, किन्तु इसे यथार्थ भी नहीं कह सकते क्योंकि इस दर्शन से अपेक्षित अर्थों की सिद्धि नहीं हो सकती। उदाहरणतः इस का स्पर्श नहीं किया जा सकता। किन्तु मनोविकारमूलक विषय जब देखे जाते हैं तब उनका स्पर्श भी किया जा सकता है। स्वप्नगत विषय स्वप्नावस्था में सभी अर्थों की पूर्ति करते हैं। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जागने पर उन अर्थों का बाध हो जाता है। यद्यपि शंकर इसी कारण स्वप्नमूलक विषयों को अयथार्थ मानते हैं[४] किन्तु यह उचित नहीं है, क्योंकि न केवल यही कि इसमें जागृति को मानदण्ड मान लिया गया है बल्कि जागृति में भी केवल वैज्ञानिक-दृष्टि को ही प्रमाण माना गया है। अन्यथा जादुई दृष्टि स्वप्न-जगत् और जागृति-जगत् में ऐसा मौलिक अन्तर नहीं देखती।

४. यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्था में स्थित मनुष्य के सर्पदंशनोदक स्नानादि कार्य असत्य है—(यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य सर्पदंशनोदकस्नानादि कार्यमनृतम्—, अ०२.पा०१,सूत्र १४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो भी हो, इससे स्थिति में मौलिक अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि इससे या तो यह विकल्प माना जा सकता है कि यथार्थ का मानदण्ड केवल वैज्ञानिक दृष्टि ही है या यह कि स्वप्न का अपना स्वायत्त यथार्थ-सन्दर्भ होता है। किन्तु वास्तव में अन्यान्य प्राणियों के यथार्थ-सन्दर्भों के मूलतः भिन्न-भिन्न -होने की सम्भावना मानने पर यही विकल्प युक्त प्रतीत होता है कि स्वप्न और जागृति के यथार्थ-सन्दर्भ ही पृथक्–पृथक् हैं। इनमें से एक को प्रमाण और दूसरे को अप्रमाण नहीं माना जा सकता।

अब यदि यह मान लिया जाय तो यथार्थ और कल्पना में अन्तर भाव की दृष्टि से अर्थ-साधकतामूलक और अर्थों की अनपेक्षामूलक है। इससे सत् और असत् के प्रश्न पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता, यद्यपि शंकर मानते हैं कि पड़ता है।शंकर व्यावहारिक जगत् को अनिर्वचनीय (सत्यानृत का मिथुन) मानते हैं, जिसका अर्थ है कि यह जगत् रूप में असत् है किन्तु ब्रह्म रूप में सत् है; रूपकात्मक पदावली में, घट रूप में असत् है किन्तु मिट्टी रूप में सत् है।[५] इस तरह शंकर उपर्युक्त विकल्पों में से दूसरे विकल्प को स्वीकार करते हैं। विवर्तवाद का यही अर्थ है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" में सर्व की सर्व के रूप में अस्वीकृति है किन्तु ब्रह्म के रूप में स्वीकृति है। उनके शब्दों में, ब्रह्म सत्तत्त्व है और सर्वत्व प्रतीति है : "फेन, तरंगें, लहरें, बुलबुले आदि, जो समुद्र के कार्य हैं वे समुद्र से भिन्न नहीं होते हुए भी भिन्न-से दीखते हैं। मिट्टी के बने सभी पदार्थ मिट्टी से भिन्न नहीं हैं, लेकिन आपस में वे एक–दूसरे से भिन्न रहते हैं। वैसे ही भोक्ता जीव और भोग्य पदार्थ एक-दूसरे से भिन्न ही रहते हैं। यानि वे एक-दूसरे की स्थिति को प्राप्त नहीं हो सकते हैं। और भिन्न होते हुए भी अपने कारण ब्रह्म से वे कभी भिन्न नहीं होते।[6] किन्तु इसमें शांकर मत थोड़ा जटिल है। शंकर सत्कार्यवादी हैं और उनके अनुसार जगत् ब्रह्म का कार्य है। इस प्रकार ब्रह्म के सत् होने पर और जगत् के ब्रह्म का कार्य होने पर और इस कार्य के पहले से ही अपने कारण में सन्निहित होने पर, जगत् भी सत् हो जाता है। वास्तव में वे अध्याय १, पाद ४, सूत्र २६ (आत्मकृतेः परिणामात्) के भाष्य में वे इसका जो निरूपण करते हैं, उससे तो यहां तक प्रतीत होता है मानो वे जगत् को जगत् के रूप में, उसकी सब विविधताओं के साथ, सत् मानते हों। उनके अनुसार- "तैत्तिरीयोपनिषद् के ब्रह्म

५. वास्तव में मृत्तिका रूप से ज्ञात एक मृत्तिका-पिण्ड मृत्तिकामय घट, सिकोरा, डोल आदि सभी पदार्थ मृत्तिकात्मक रूप अविशेष से विज्ञात होते हैं, क्योंकि वाचारंभण विकार केवल नाम मात्र हैं, घट,, सिकोरा और डोल आदि विकार केवल वाणी से कहे जाते हैं, वस्तु–वृत्ति से तो विकार कुछ भी नहीं है, नाम मात्र यह सब मिथ्या है, केवल मृत्तिका ही सत्य है। (एकेन मृत्पिण्डेन परमार्थतो मृदात्मना विज्ञातेन सर्वं मृन्मयं घटशरावोदञ्चनादिकं मृदात्मकत्वाविशेषाद्विज्ञातं भवेत्। यतो वाचारंणं विकारो नामधेयं वाचैव केवलमस्ती-त्यारभ्यते— विकारो घटः शराव उदञ्चनं चेति। ढतु वस्तुवृत्तेन विकारो नाम कंचिदस्ति। नाम धेय मात्र ह्येतदतृनं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति।)

६. अ०२, पा० १, सूत्र १३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
प्रकरण में यह कहा गया है कि "उस ब्रह्म ने स्वयं को पैदा किया (तैत्तिरीय २।७) इस वचन के 'अपने को' प्रयोग से ब्रह्म या आत्मा कर्म है, यानि विषय है, आधार या आश्रय है, और 'उसने स्वयं' प्रयोग से ब्रह्म या परमात्मा कर्त्ता है, ऐसा प्रतीत होता है। अर्थात् यहाँ 'पैदा' किया इस क्रिया का ब्रह्म या परमात्मा कर्त्ता है और वही कर्म है, ऐसा बताया है।" इस प्रकार ब्रह्म जगत् का निमित्त और उपादान दोनों प्रकार का कारण है। शंकर यहाँ घट का उदाहरण भी देते हैं जिसके कुम्हार और मिट्टी क्रमशः निमित्त और उपादान कारण हैं। किन्तु ब्रह्म जगत् रूप घट का कुम्हार और मिट्टी दोनों है। किन्तु यदि ब्रह्म जगत् का निमित्त और उपादान दोनों है तब जगत् का वैविध्य उसको अभिप्रेत है और इस प्रकार यह सत् है। किन्तु शंकर इसे सत् नहीं मानते। वे इस प्रसंग में सत्कार्यवाद को अपने अनुसार लागू करते हुए कहते हैं : कारण और कार्य अभिन्न हैं, इस प्रकार कार्य में ऐसा कुछ नहीं हो सकता जो कारण में नहीं हो। किन्तु कार्य के धर्म कारण को दूषित नहीं कर सकते। इसके लिए वे घड़े और मिट्टी का दृष्टान्त देते हैं : घड़ा मिट्टी का कारण है किन्तु घटत्व मृत्तिका को दूषित या संस्पृष्ट नहीं कर सकता। इस प्रसंग में वे बाजीगर द्वारा फैलायी माया का उदाहरण भी देते हैं। ये दो बहुत भिन्न प्रकार के उदाहरण हैं। पहले में निमित्त का विचार नहीं है और दूसरे में या तो निमित्त और उपादान एक-साथ ही हैं या दोनों नहीं हैं, केवल इनके होने की प्रतीति है। यही बात स्वप्न के लिये भी है और शंकर ने उसका उदाहरण भी दिया है। किन्तु बाजीगरी सृष्टि में और स्वप्न-सृष्टि में यह अन्तर है कि पहली में जबकि स्रष्टा अपने सर्जन की इच्छा-मूलकता के सम्बन्ध में जानता है, दूसरी में वह यह नहीं जानता है। किन्तु तब भी, दोनों में निमित्त और उपादान एक ही हैं। अन्तर केवल कार्य के मूल्य का है। एक में कार्य का मूल्य क्रीड़ा है और दूसरे में स्वतन्त्र रूप से सत्ता का उपभोग।

किन्तु घड़े के उदाहरण में निमित्त और उपादान कारण भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु जहाँ निमित्त और उपादान कारण पृथक्-पृथक् होते हैं वहां यह बात देखने की होती है कि उपादान कारण कार्य से केवल इस कारण अप्रभावित रहता है क्योंकि वह केवल उसका प्रसंग बनता है। उसका वास्तव अधिष्ठान निमित्त कारण में ही होता है। इस पर कहा जा सकता है कि जहां निमित्त कारण हो ही नहीं, जैसे मिट्टी के अपने-आप से बने विभिन्न आकारों में, वहां क्या होगा? इसका उत्तर होगा कि वहां मिट्टी और आकार में कोई अन्तर ही नहीं है। मिट्टी में आकार का आविर्भाव निमित्त कारण से ही होता है और जहाँ ऐसा होता है वहां मिट्टी अपने कार्य के लिये अनिवार्य उपादान नहीं है, स्वर्ण, मोम या अन्य बहुत कुछ भी इसके लिये उपादान हो सकता है।

किन्तु इस व्याख्या से वास्तव में कोई अन्तर नहीं पड़ता, इस व्याख्या का अर्थ यह होगा कि अन्ततः निमित्त कारण ही उपादान कारण है और इस तरह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वप्न-सृष्टि में, जादुई सृष्टि में और जाग्रत् सृष्टि में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। किन्तु यहां प्रस्तुत प्रश्न यह है कि क्या कार्य कारण को विकृत करता है ? अब यदि सब कार्यों का आश्रय चैतन्य ही है, जोकि निमित्त और उपादान के अभिन्न होने से आपादित होता है, तब सब उसी की वृत्तियाँ हैं और वृत्तियां चैतन्य को वितर्क करती ही हैं। यदि ऐसा नहीं हो तो घटादि आकार—समस्त नाम-रूप—की कोई व्याख्या देना सम्भव नहीं हो सकता। वेदान्त परिभाषा में वास्तव में ऐसा ही प्रतिपादन किया गया है।[७] किन्तु इस प्रश्न पर शांकर मत में कुछ कठिनाइयां सामने आती हैं:-शंकर बाह्य सृष्टि को, अथवा कहें, ज्ञानेन्द्रिय-ग्राह्य सृष्टि को, ब्रह्म-कारण का कार्य मानते हैं किन्तु जीव (आत्मा) को उपाधि-परिच्छिन्न ब्रह्म ही मानते हैं—घटाकाश के समान। इस प्रसंग में शंकर अध्याय २, पाद १ के सूत्र १३ की व्याख्या में तैत्तिरीयोपनिषद् को उद्धृत करते हैं-"तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" और कहते हैं कि यद्यपि भोग्य जगत् सागर से तरंग-फेन के समान कारण-ब्रह्म से अभिन्न है किन्तु तब भी उसका कार्य है, किन्तु भोक्ता उसका कार्य नहीं है, वह कारण रूप से ही रहता है।" तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् का अर्थ है—वह ब्रह्म उसका सर्जन कर उसी में प्रविष्ट हो गया। यहां मकड़े और उसके जाले की उपमा का ध्यान सहज ही हो आता है। इससे अगले सूत्र के भाष्य में इस कार्य के अर्थ की व्याख्या है। यहां वे बताते हैं कि कार्य जगत् अविद्यामूलक है—मैं नामरूप को अभिव्यक्त करूं (छान्दोग्य ६।३।२) "ईश्वर सब रूपों को उत्पन्न कर उन सब के नाम रख कर उनमें प्रविष्ट हो कर वदनादि व्यवहार करता हुआ स्थित है" (तै० आ० ३।१२।७)—"जैसे घट, करक आदि उपाधि-अनुरोधी आकाश होता है वैसे अविद्याकृत नाम-रूप का अनुसारी ईश्वर होता है। वह ईश्वर अविद्या से उपस्थापित नाम-रूप-कृत शरीरेन्द्रिय-संघात के अनुरोधी घटाकाश स्थानीय स्वात्म-भूत जीवाख्य विज्ञानात्माओं के ऊपर व्यवहार-विषय में शासन करता है। इस प्रकार अविद्या रूप उपाधि के परिच्छेद की अपेक्षा से ईश्वर में ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्व हैं।[८] जीव और ईश्वर वह्म से अभिन्न हैं किन्तु अविद्याकृत नाम-रूपादि के अनुसारी होने से उससे भिन्नवत् हैं। किन्तु शरीरेन्द्रिय-संघात और विषय-जगत्—नाम-रूप—उसके कार्य या परिणाम हैं। किन्तु इनके अविद्याकृत होने से, अविद्या के नाश के साथ ही इनकी कार्यरूपता का भी नाश हो जाता है।

७. और इस हेतु से भी ब्रह्म प्रकृति है क्योंकि ब्रह्म-प्रक्रिया में उसने स्वयं अपने को ही नाम-रूपात्मक जगत् रूप से रचा, इस प्रकार श्रुति (तै० २।८) आत्मा को कर्म और कर्तृ रूप से दिखलाती है। किन्तु पूर्वसिद्ध एवं कर्तारूप से व्यवस्थित पदार्थ से क्रियाविषयत्व कैसे संपादन किया जा सकता है ? परिणाम से, ऐसा हम कह सकते हैं। पूर्वसिद्ध होते हुए भी परमात्मा ने अविद्या-बल से अपने को विशेष विका ररूप से परिणत किया (अ० १, पा०४, सूत्र २६)।

८. अ०२, पाद १ सूत्र ९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहां शांकर मत की सांख्य-मत से तुलना उपयोगी होगी—सांख्य भी जगत् को अविद्यामूलक और कार्यरूप मानता है और वह भी सत्कार्यवादी है। किन्तु वह कार्य को शंकर से भिन्न सत्-परिणामरूप (लिंग-सृष्टि) तथा असत्-परिणामरूप (भाव-सृष्टि) दो प्रकार का मानता है। अब, सांख्य के अनुसार जबकि अत्मोपाधिक परिणाम सत् परिणाम है, विषयोपाधिक परिणाम असत् है। किन्तु यदि परिणाम को सत् (वास्तव) मान लिया जाय तब कार्य का कारण में कभी लय नहीं हो सकता और इस प्रकार प्रकृति कभी अपनी मूलावस्था को प्राप्त नहीं हो सकती। किन्तु यदि वेदान्त के समान यह माना जाय कि परिणाम वास्तव नहीं होता, यह केवल अविद्यामूलक और इस प्रकार केवल प्रातीतिक होता है, तब कठिनाई यह होगी कि इस अविद्या का अधिष्ठान कहां है और इस प्रकार प्रतीति किसे होती है ? यदि अविद्या का अधिष्ठान ब्रह्म या जीव में है तब ब्रह्म में या जीव में वास्तविक विकार मानना पड़ेगा और यदि ब्रह्म या जीव में नहीं है तो उसे प्रातीतिक कैसे कहा जा सकता है? इसे सांख्यीय सृष्टि के समान यथार्थ मानना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त, शंकर जीव और जगत् में यह अन्तर करते हैं कि जीव अपरिणत ब्रह्म है जबकि जगत् परिणत ब्रह्म है, वह परिणाम चाहे असत् ही क्यों न हो। इस अन्तर का कोई प्रयोजन तो होना ही चाहिये।

इस परिस्थिति को दो प्रकार से समझा जा सकता है—ब्रह्म के पक्ष से और जगत् के पक्ष से। ब्रह्म के पक्ष से, ब्रह्म एक और अखण्ड सत्ता है। इसकी तीन अविकृत अवस्थाएं हैं और दो विकृत अवस्थाएं हैं। अविकृत अवस्थाएं ब्रह्म, ईश्वर और जीव-रूप हैं और विकृत अवस्थाएं अखण्ड माया और जगत्-रूप। किन्तु ब्रह्म स्वरूपतः अविकारी है इसलिये माया और जगत् का अपना कोई सत्स्वरूप नहीं है, इसका सत्स्वरूप ब्रह्म ही है, माया और जगत्-रूप से ये दोनों असत् हैं। इसी से शंकर इन्हें अनिर्वचनीय कहते हैं : अनिर्वचनीय अर्थात् सदसद् उभयोपेत। माया जगत् का मूल बीज है, यह जगत् के विभिन्न और विविध रूपों का मूल रूप है—स्फुट शब्दों का जैसे आकाश। माया में और अविद्या में यह मौलिक अन्तर है कि माया ईश्वर की उपाधि है और जगत् जीव की। जागतिक उपाधि अध्यासमूलक है किन्तु मायोपाधि अध्यासमूलक नहीं है। ईश्वर और ब्रह्म में इतना ही अन्तर है कि ईश्वर मायोपाधि सापेक्ष है, अथवा कहें, मायोपाधि सापेक्ष ब्रह्म ईश्वर है और उससे निरपेक्ष रूप में वह शुद्ध चित्स्वरूप ब्रह्म है। माया को यदि युष्मत् प्रत्यय कहें तो कहा जायगा कि युष्मत् प्रत्यय की अपेक्षा से ब्रह्म ईश्वर है, इससे निरपेक्ष ब्रह्म है। किन्तु ईश्वर अध्यास-भ्रान्त नहीं होता, वह युष्मत् प्रत्यय का उस रूप में ही ग्रहण करता है, अथवा कहें, वह युष्मत् प्रत्यय को होने की अनुज्ञा देता है किन्तु अस्मत् से उसे अध्यस्त नहीं होने देता। "अविद्यारूप उपाधि के परिच्छेद से ईश्वर में ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्व है" का यही अर्थ है। यद्यपि सर्वज्ञत्व आदि गुणों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए अन्य की अपेक्षा रहती है किन्तु सर्वज्ञता में यह ज्ञान भी निहित है कि यह अन्यत् है, इसी प्रकार सर्वशक्तिमत्व में साध्य कुछ नहीं रहता, यद्यपि सिद्धि का भाव रहता है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि सर्वज्ञता अज्ञान का पूर्ण अभाव है और अज्ञान का पूर्ण अभाव होने पर द्वित्व या उपाधि नहीं रह सकती। इसका उत्तर होगा कि यह उपाधि स्वतन्त्र रूप से आरोपित उपाधि है, जैसे मानिये कोई आंख मूंद कर कल्पना-चित्रों को आंखों के सम्मुख यथार्थवत् देखे और उसका आनन्द ले। उनसे मन के निवृत्त हो जाने पर वे लुप्त हो जाते हैं, जैसे वे कभी थे ही नहीं, और सचमुच में वे थे भी नहीं। किन्तु बच्चा उन चित्रों से बातें करता है, उनके साथ हँसता, खेलता, रोता है। इस प्रकार, ईश्वर सोपाधिक है किन्तु यह सोपाधिकता जीव से भिन्न प्रकार की है। यह ब्रह्म की माया—कल्पना--है।

जगत् के पक्ष से माया, ईश्वर और ब्रह्म ऐसी ही कोटियां हैं जो जगत् की व्याख्या के प्रयत्न में उसकी अपूर्णता से लक्षित होती हैं। जगत् में विषयी-विषय, भोक्ता—भोग्य आदि का द्वैत दिखायी देता है। भोक्ता भोग्योन्मुख और विषयोन्मुख है। बल्कि ऐसा प्रतीत होता है जैसे भोक्ता और विषयी वास्तव में भोग्य और विषय के बिना अकल्पनीय हों। किन्तु यदि यह स्थिति है तब प्रत्येक अनुभव और प्रत्येक विषय अनुभविता अथवा विषयी को अपनी अपेक्षा से परिभाषित करता है। वास्तव में मनुष्य से निम्नतर कोटि की चेतना का यही स्वरूप दिखायी देता है। किन्तु मनुष्य में प्राप्त चेतना के स्तर पर प्रत्येक विषय एक ओर अपने से व्यापकतर सन्दर्भ में अपने को समर्पित करता है और दूसरी ओर विषयी को अपनी अपेक्षा से परिभाषित करने के बजाय अपने को विषयी से परिभाषित पाता है। यह स्थिति उस समय पूरी तरह उलट जाती है जब भोक्ता भोग्य से असन्तुष्ट या विरक्त अनुभव करता है और विषयी विषय को निरर्थक या निस्सार पाता है। मोक्षाकांक्षा इस अनुभव की पराकाष्ठा है जिसे सांख्य ने पराक् पुरुष के होने के प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार जगत् की दृष्टि से माया को परम जागतिक तत्त्व, अथवा कहें जागतिक परमता, कहा जा सकता है। जगत् को यदि प्रतिभास (फिमोमिना) कहें तो इसे प्रातिभासिकता सामान्य (फिनोमिना इन जनरल) कह सकते हैं।

इसी प्रकार जीव के लिये भी। जीव चेतना का वैयक्तिक अवगुण्ठन है, इसे वैयक्तिक अहंकार भी कह सकते हैं।[६] अन्तःकरण, इन्द्रियां आदि इसी आहंकारिक अवगुण्ठन से निरूपित होती है। इन्हें उपयुक्त रूप से चेतना की जगदोन्मुख वृत्ति की

६, शंकर पूर्व पक्ष में यह प्रश्न उठाकर कि "परमात्मा से भिन्न यह शरीर नाम वाला कौन है ?" उत्तर देते हैं कि "जैसे अपरिच्छिन्न आकाश घट, कमण्डलू आदि उपाधियों की अधीनता के वश परिच्छिन्न-सा भासता है, उसी प्रकार देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि रूपी उपाधियों से परिच्छिन्न हुए परमात्मा को ही अज्ञानी लोग जीव, ऐसा उपचार करते हैं। (अ० १, पा०२, सूत्र ६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधायें भी कहा जा सकता है। इन विधाओं के अनुसार ही जगत् या प्रतिभास अपने को निरूपित या रूपायित करता है: जैसे प्रिज्म में किरणें। **वेदान्त परिभाषा** में प्रत्यक्ष को इस प्रकार परिभाषित किया गया है : "एक ही आत्मा या ब्रह्म-चैतन्य जीवरूप से अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य (ज्ञाता) के रूप में, घटादि रूप से विषयावच्छिन्न चैतन्य (ज्ञेय) के रूप में और अन्तःकरण की घटादि वृत्तिरूप से वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य (ज्ञान) के रूप में विद्यमान है। घटादि पदार्थों के प्रत्यक्ष-ज्ञान के अवसर पर इन तीनों चैतन्यों में तादात्म्य या अभेद हो जाता है। यही उनका प्रत्यक्ष कहलाता है।"[१०]

इस आहंकारिक अवच्छेद से जीव की मुक्ति के साथ विषय की भी इन्द्रियादि के अनुसारी अवगुण्ठनों से मुक्ति हो जाती है और ये अपने परम स्वरूप को समर्पित हो जाते हैं। इस प्रकार आहंकारिक अवगुण्ठन से मुक्त जीव ईश्वर है और तदनुरूप अवगुण्ठनों से मुक्त विषय माया है। किन्तु जगत् का मूल आहंकारिक अवगुण्ठन में ही है, वह जगत् चाहे हमारा सामान्य व्यवहार-जगत् हो और चाहे अखण्ड मायां हो। किन्तु जीव में और ईश्वर में यह अन्तर है कि ईश्वर अहंकार और तदनुसारी माया को अपने संकल्प से धारण करता है, वह इन से बाधित नहीं होता, और इसी संकल्प के द्वारा वह ईश्वर है, इसी संकल्प के कारण माया अनादि शक्तिरूपा है जो भुवनों की सृष्टि करती है। किन्तु ईश्वर इस संकल्प से भी मर्यादित नहीं है यद्यपि वह इससे लक्षित होता है। इससे अलक्षित ईश्वर या चैतन्य ब्रह्म है जो स्वरूप-विश्रान्त अद्वय सत्ता है। उसमें सर्वशक्तिमत्व और सर्वज्ञत्व आदि लक्षण भी नहीं हैं।

यहां यह द्रष्टव्य है कि ईश्वरत्व और सर्वशक्तिमत्व आदि माया की अपेक्षा से हैं, किन्तु उतनी ही माया भी इनकी अपेक्षा से है। इनकी परस्परापेक्षा इनकी

यद्यपि शंकर ने 'जीव' को अन्तःकरणादि उपाधियों से अवच्छिन्न ब्रह्म ही कहा है किन्तु यदि इसे अन्तःकरणादि उपाधियों में ब्रह्म की छाया कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। स्वामी निश्चलदास ने 'विचार सागर' में वेदान्त की व्याख्या करते हुए जीवात्मा के दो भेद किये हैं—'कूटस्थ' और 'जीव'—और इनको इस प्रकार परिभाषित किया है : "बुद्धि अथवा व्यष्टि-अज्ञान का जो अधिष्ठान चेतन है सो कूटस्थ कहिये है, जा पक्ष में व्यष्टि अज्ञान–सहित चेतन जीव कहिये है ता पक्ष में व्यष्टि-अज्ञान जो अधिष्ठान है सो कूटस्थ कहिये है, यह स्थान विषे यह सिद्धान्त है : जीवपने का जो विशेषण है ताके अधिष्ठान का नाम कूटस्थ कहिये है, सो कूटस्थ अजन्य है, उत्पत्ति से रहित है, या का अभिप्राय यह है—: ब्रह्म सै न्यारा जैसे चिदाभास उत्पन्न होवे है, तैसे यह उत्पन्न नहीं हुआ किन्तु ब्रह्म रूपी ही है।.....नाना काम्य और कर्म-सहित जो बुद्धि है ता में जो चेतन का प्रतिबिम्ब है, ताकूं जीव कहे हैं" (पृ० १२७) इस भेद की युक्तता यह है कि इससे चैतन्य की पूर्ण अकलुषितता की रक्षा की जा सकती है और उपाधि–संवलित चैतन्य को सांख्य के समान वृत्ति रूप माना जा सकता है।

१०. वेदान्त परिभाषा, प्रत्यक्ष परिच्छेद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्ता की अपरमार्थता की द्योतक भी है क्योंकि एक का होना दूसरे पर निर्भर करता है और इनमें से किसी की भी निवृत्ति स्वयं दूसरे को निवृत्त कर देती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्रह्म अपने को जब प्रवृत्त करता है तब ईश्वरत्व और मायात्व की उत्पत्ति होती है और जब इससे निवृत्त है तब इनका लय हो जाता है। वेदान्त के, सांख्य के समान ही, सत्कार्यवादी होने से किसी वस्तु की नव्योत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिये ईश्वरत्व-मायात्व की या तो उत्पत्ति ही नहीं होती, ये शाश्वत रूप से हैं, या ये हैं ही नहीं। किन्तु यदि ये शाश्वत रूप से हैं तब वेदान्त अद्वैतवादी नहीं हो सकता, और यदि ये हैं ही नहीं तब जगत् को कैसे समझा जायगा ? सो, शंकर के अनुसार ये अनादि और अनन्त हैं, इनकी कभी उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु ये हैं, इसका भी कोई अर्थ नहीं है, ये इन्द्रजाल के समान हैं। शंकर के अनुसार, इनका आश्रय अविद्या है, अविद्या का और उसके नाश का, दोनों का कारण (निमित्त) ब्रह्म है। किन्तु अविद्या, अज्ञान के समान ही, नष्ट होने पर देखी जाती है कि वह कभी थी ही नहीं।[11]

यहां आपत्ति हो सकती है कि अविद्या और माया को अनादि-अनन्त कहने से यह नहीं कहा जा सकता कि इनका कभी—किसी काल में—नाश नहीं होता। इसका उत्तर होगा कि यहां अनादि-अनन्त का अर्थ कालातीत, अथवा कहें काल की कोटि से परे, है। काल स्वयं जगत्-मूलक कोटि है इसलिये यह उसकी अतिक्रामी कोटियों से पूर्व नहीं हो सकता। इस प्रकार परमार्थतः तो अविद्या और माया कालातीत रूप से हैं और नहीं हैं। इस युगपत् 'है' और 'नहीं है' का ज्ञानमीमांसात्मक पदावली में अर्थ होगा—"ब्रह्म-दृष्टि से नहीं हैं" और "जगत्-दृष्टि से हैं", और तात्त्विक पदावली में इसका अर्थ होगा ब्रह्म पूर्णता है जो जगत् का अपने में समावेश करती है। किन्तु इस समाविष्ट को स्वतन्त्र सत् के रूप में देखना भ्रममूलक है, यह ब्रह्म की, परम आत्म की, आत्म-पराङ्मुखता है। किन्तु ये दोनों पदावलियां अन्त में एक ही आत्यन्तिक पहेली के सामने हमें ला खड़ा कर देती हैं—यह जगद्दृष्टि, यह आत्म में अन्यद्भाव, कहां से आता है ? इसका अधिष्ठान कहां है ? इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि चैतन्य में दोनों उन्मुखताएं देखी जाती हैं—बाह्योन्मुखता, जो इसे जगत् के रूप में आत्मबहिष्कृत रखती है, जैसे मानो सागर से वाष्प के द्वारा सागर का वर्षा में बिखराव, और आत्मोन्मुखता, जैसे इस जल का नदियों आदि के द्वारा सागर की ओर लौटना। किन्तु यह उपमा पूरी तरह सहायता नहीं करती, क्योंकि इस आत्म-पराङ्मुखभाव का कोई प्रसंग होना चाहिये:- जैसाकि हमने पीछे देखा, इसकी उत्पत्ति के हेतु की बात वेदान्त में नहीं उठायी जा सकती क्योंकि यह

११. पूर्व पक्ष—: श्रुति कहती है कि मैं ब्रह्म ही हूं उससे भिन्न नहीं हूं, तो फिर अज्ञान किसका ? सिद्धान्ती: आपको ज्ञान हो गया हो कि मैं ब्रह्म हूं, मैं परमात्मा से भिन्न नहीं हूं, तो अज्ञान किसी का नहीं है। (अ०४, पा०१, सूत्र ४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
काल को पूर्वकल्पित करेगी किन्तु प्रसंग की बात उठायी जा सकती है, जैसाकि शंकर द्वारा अपने भाष्य के आमुख में अस्मत्–युष्मत् प्रत्ययों की समस्या को उठाने से स्पष्ट है।

+ + +

ऊपर हमने शंकर की ब्रह्ममीमांसा का संक्षिप्त विवरण देने का प्रयत्न किया। किन्तु शंकर की मुख्य चिन्ता वैयक्तिक अहंकार की भ्रममूलकता की व्याख्या करना है। इस अहंकार को वे अध्यास–रूप कहते हैं, अथवा कहें, यह (अहंकार) अध्यास का मूल है। अध्यास का अर्थ किसी वस्तु में अन्य वस्तु को देखना है। सब भ्रम अध्यास–रूप ही होते हैं। यह भी कह सकते हैं कि अध्यास भ्रम के स्वरूप की व्याख्या है। शंकर ने जिस भ्रम का प्रश्न उठाया है, अथवा कहें जिस भ्रम के प्रश्न को लेकर अपना भाष्य लिखा है, वह साधारण ज्ञानमीमांसीय प्रश्न नहीं है, वह वैश्व भ्रम का प्रश्न है। इस भ्रम का मूल उसके लिये वैयक्तिक अहंकार, अथवा कहें, वैयक्तिकता का होना है। उसके अनुसार अहंकार, वह उपाधि है जो अस्मत् रूप में भासित होती है किन्तु जो वास्तव में युष्मत् है। यह अस्मत् से इतर या बाह्य है। वास्तव में कहना चाहिये, यह अस्मत् को युष्मत् में बहिष्कृत रखती है। यह युष्मत् केवल अस्मद्-बाह्य ही नहीं है, यह परिसीमक या विभाजक भी है। इस प्रकार, इससे आत्मा प्रवासी ही नहीं बनती, बन्दी भी बनती है।

किन्तु शंकर इस युष्मत् को सांख्य के समान एक पृथक् सत् के रूप में नहीं देखते, उनके अनुसार यह आत्म का अपना अन्तर्गत भाव ही है जो उसे अपने से बहिष्कृत रखता है। आत्म का यह आत्मप्रवास उन सब अवसरों पर अपने को प्रकट करता है जिनमें हम अपना निराकरण करते हैं, यह निराकरण नैतिक बोध के द्वारा हो या ज्ञानात्मक बोध के द्वारा। प्रत्येक आत्म-निराकरण में उस युष्मद्–भाव का निराकरण होता है जो अस्मत् रूप में मेरे से अभिन्न बना हुआ था। "मैंने वह किया जो मुझे नहीं करना चाहिये था" में आत्म अपने सम्मुख निन्दित रूप में प्रस्तुत है और इसी से वह आत्म से अभिन्न नहीं है। किन्तु इस निराकृत आत्म की विचित्र स्थिति है, यह निराकृत है और अतएव यह सत् नहीं है, किन्तु तब भी यह है और अपने इस अस्तित्व के द्वारा ही मेरे पश्चात्ताप का स्रोत है। यदि यह नहीं होता तो मैंने वह कार्य नहीं किया होता, किन्तु यदि यह सत् होता तो इसका निराकरण असम्भव होता। इसकी विचित्रता इसका असद्भाव प्रकट होने पर भी इसके बने रहने में है। यही बात ज्ञान के सन्दर्भ में भी होती है। किसी धारणा की भ्रामकता प्रकट होने पर मुझे आश्चर्य होता है कि मैं इस प्रकार सोचता या देखता था–वास्तव में कहें : कि मैं इस प्रकार सोच या देख सकता था। यह आश्चर्य मेरे असत् आत्म को मेरे सम्मुख प्रस्तुत कर देता है। इसका यह निराकरण इसकी अनात्मता को सिद्ध कर देता है और इसका आत्म रूप में निषेध इसकी आत्म से भिन्न असत्ता को।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु निराकृत आत्म की आत्म से भिन्न असत्ता इसकी आत्म से अभिन्न सत्ता की पर्याय भी नहीं है, जैसाकि उपर्युक्त से स्पष्ट है। यह आत्म निराकृत होने से असत् तो है किन्तु प्रस्तुत होने से विषय है, किन्तु तब भी यह प्रातिभासिक विषय से भिन्न है। यह वह आत्म है जो आत्म-रूप से निराकृत और अवमानित हुआ है, और जो इस कारण पश्चात्ताप का विषय है क्योंकि यह अब भी मुझ से (आत्म से) पूर्णतः विलग नहीं है।

ज्ञानात्मक निराकरण में आत्म-निराकरण का वह रूप नहीं है जो नैतिक निराकरण में है, क्योंकि नैतिक निराकरण में "मैं यह था"—रूप बोध नहीं होता, वहाँ "मेरा ऐसा करना उचित नहीं था" ऐसा बोध रहता है। किन्तु यह भेद केवल ऊपरी है, वास्तव नहीं, क्योंकि ज्ञानात्मक निर्णयों की पदावली वस्तुपरक होती है। नहीं तो ज्ञानात्मक बोध में उतना ही आत्म-निराकरण रहता है जितना नैतिक बोध में रहता है। असल में ज्ञानात्मक बोध में आत्म की अनात्म से अवच्छिन्नता अधिक स्पष्टता के साथ प्रकट होती है। किन्तु तब भी एक अन्तर है:-अवच्छेदक अनात्म अभी तक आत्म से अभिन्न प्रकट था और अब निराकृत होने पर यह अवच्छेदक के रूप में या अनात्म के रूप में ही प्रकट होता है, निराकृत-आत्म के रूप में नहीं, जबकि नैतिक निराकरण में निराकृत-आत्म प्रस्तुत होता है। रज्जु में सर्प के अध्यास का निराकरण वहां रज्जु को प्रकट करता है, निराकृत सर्प को उसके साथ नहीं रहने देता। यह कहा जा सकता है कि आश्चर्य रज्जु में सर्प का निराकरण होने से होता है न कि रज्जु के प्रकट होने से और सर्प के निरस्त होने से। इस तरह "रज्जु में सर्प का निरास" स्थिति को इस प्रकट किया जा सकता है:- यह सर्प नहीं था, रज्जु थी, किन्तु तब भी सर्प रूप में प्रकट हो रही थी—यह (भ्रान्त) आत्म नहीं था, अनात्म था, किन्तु तब भी आत्म रूप में प्रकट था। इस तरह ज्ञानात्मक और नैतिक परिस्थितियों में वैसा मौलिक अन्तर नहीं है, एक में कर्तृ आत्म निरासक होता है और दूसरे में ज्ञातृ आत्म।

इस प्रकार के ज्ञान का प्रसंग अपनी चरम उत्कटता के साथ मृत्यु-विचार के प्रसंग में प्रकट होता है, यद्यपि जगत् के केवल संभावनात्मक रूप से अस्तित्व का बोध भी इस ज्ञान की ओर संकेत करता है। मृत्यु मेरे जागतिक अस्तित्व की नितान्त आगन्तुकता प्रकट करती है, यह एक ही झटके से मुझे और जगत् को तिरोहित कर देती है। इससे परे महदाश्चर्य और सन्त्रास और क्या हो सकता है? किन्तु तब भी यह निरस्त आत्म मेरे इस आश्चर्य और संत्रास के उद्दीपक के रूप में रहता है। यह आत्म के रूप में निराकृत है अतः अनात्म है, किन्तु आत्म से पृथक् उसका कोई अर्थ भी नहीं है। "जो मेरी अमृतत्व-प्राप्ति में कारक नहीं है उसका मुझे क्या करना?" यह प्रश्न उस सब को निरस्त कर देता है जो अनिवार्य नहीं है।

यह अनात्म-निराकरण ही शंकर के अध्यास-विचार का प्रेरक है, और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्तव में पूरा शांकर दर्शन इस अध्यास के स्वरूप का ही विवेचन है। शंकर के शब्दों में, 'अत्यन्त भिन्न धर्म और धर्मी का परस्पर भेद-ज्ञान नहीं होने के कारण एक का दूसरे में परस्पर स्वरूप तथा एक-दूसरे के धर्मों का अध्यास कर सत्य और अनृत का मिथुनीकरण कर "यह मैं" और "यह मेरा" इस प्रकार मिथ्या-ज्ञान निमित्तिक स्वाभाविक यह लोक-व्यवहार होता है।....."अहं प्रत्यय वाले अन्तः-करण का और अन्तःकरण की सम्पूर्ण वृत्तियों के साक्षीभूत प्रत्यगात्मा का अन्तः-करण आदि में अध्यास करता है तो इस प्रकार अनादि, अनन्त, नैसर्गिक मिथ्या ज्ञान रूप और कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का प्रवर्तक अध्यास सर्व-जन प्रत्यक्ष है।"[12]

\+ \+ \+

यद्यपि शंकर अनात्म की समस्या का समाधान यह कह कर करते हैं कि वस्तुतः वह है ही नहीं और इस प्रकार अन्ततः अध्यास भी नहीं है, क्योंकि वस्तुतः अन्तःकरण की वृत्तियां और इन्द्रियां आदि कुछ नहीं हैं, शंकर के शब्दों में, केवल नाम-रूप हैं, किन्तु तब यह प्रश्न रह जाता है, जो पीछे हमने साँख्य के द्वैतवाद के सन्दर्भ में उठाया है, कि नाम-रूप का उपादान क्या है? शंकर घटादि का उत्पादन मृत्तिका को बता कर घटत्व को नाम-रूप-जनित और इस प्रकार असत् घोषित कर देते हैं, किन्तु वास्तव में घटादि का उपादान मिट्टी को नहीं कह कर अन्तःकरण की घटादि वृत्ति को कहना चाहिये। ऐसा नहीं है कि शंकर यह स्वीकार नहीं करते हों, माया को सब अवच्छेदों-संस्कारों-का बीज कहने का यही अर्थ है। वास्तव में माया के सम्बन्ध में सांख्य की प्रकृति के अनुरूप कहा जा सकता है कि यह बुद्धि, अन्तः-करण, इन्द्रियों आदि सब अवच्छेदों की अधिष्ठानभूत है, किन्तु स्वयं इन अवच्छेदों से अतिक्रामी है। किन्तु इस अर्थ में प्रकृति से भिन्न है कि यह चित् का अपना ही आक्षेप है और इस प्रकार स्वतन्त्र सत् नहीं है। किन्तु कठिनाई यह है कि आक्षिप्त या अवच्छेदक आदि को, अथवा इनके अतिक्रामी अधिष्ठान को, यदि स्वतन्त्र सत् नहीं माना जाय तो इसे चित् के भीतर स्थान देना होगा जो शंकर को स्वीकार्य नहीं होगा। कठिनाई अद्वैतवाद को स्वीकार करने में नहीं है, क्योंकि चित् का स्वभाव अन्तःकरणादिपरक स्वीकार किया जा सकता है, कठिनाई शंकर के प्रकार के अद्वैत-वाद को स्वीकार करने में है। बहुत से वेदान्तिक मत, जिनमें एक श्री अरविन्द का है,[13] माया को ब्रह्म की शक्ति आदि के रूप में सत् मान कर उसे ब्रह्म का बाह्योन्मुख

१२. अ० १, पा० १, सूत्र १

१३. श्री अरविन्द—दिव्य जीवन, अध्याय १० : चित्-शक्ति, स्वामी केशवानन्द कृत अनुवाद, श्री अरविन्द सोसाइटी, पाण्डिचेरि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवर्तन मानते हैं, जिसका अर्थ होगा कि विषय-प्रवृत्ति और विषय-निवृत्ति दोनों चैतन्य के स्वभाव हैं। ब्रह्म को सृष्टि का उपादान और निमित्त दोनों प्रकार का कारण कहने से यह आपादित भी होता है, किन्तु दूसरी ओर वे कभी कार्य को घटित मानते ही नहीं, केवल कारण ही को मानते हैं।[14] किन्तु निमित्त कारण को स्वीकार करने पर कार्य को असत् स्वीकार नहीं किया जा सकता। कुम्हार के नहीं होने पर घट को केवल विवर्त कहा जा सकता था, घट-विनाश को मिट्टी का स्थानान्तरण मात्र। किन्तु कुम्हार के रहते मिट्टी घट के लिये केवल एक आगन्तुक साधन है, कुम्हार किसी अन्य उपादान को इसको चरितार्थ करने के लिए साधन बना सकता है अथवा इसके क्रियान्वयन को स्थगित रख सकता है। और इस परिस्थिति में मिट्टी का मिट्टी में मिलना घट-विनाश नहीं है, क्योंकि घट का अधिष्ठान निमित्त में था और मिट्टी केवल अनुषंगी थी।

इस प्रकार विषय-प्रवृत्ति को चैतन्य का स्वभाव माने बिना अद्वैत के अन्तर्गत जगत् की व्याख्या कठिन प्रतीत होती है और उसे चैतन्य का स्वभाव मान लेने पर विषय-निवृत्ति एक स्वीकृत मूल्य तो हो सकती है किन्तु चैतन्य का स्वरूप नहीं। अथवा, चैतन्य का स्वरूप उभयविध स्वीकार किया जा सकता है और इस प्रकार जिस भी रूप में वह हो, वही उसका सहज स्वरूप माना जा सकता है।

किन्तु शंकर को यह मान्य नहीं है, और ठीक ही, क्योंकि यदि विषय-प्रवृत्ति उसमें सहज हो, जैसाकि फिनोमिनोलोजीवादी मानते हैं, तो विषय-निवृत्ति के मूल्य होने पर भी, चैतन्य विषय-जगत् में अपने को प्रवासित अनुभव नहीं करेगा और जगत् दुःखरूप नहीं होगा। और वास्तव में, इस अवस्था में विषय-निवृत्ति का मूल्य होना भी सन्दिग्ध होगा। हुसर्ल की इपोखे की अवधारणा को इस प्रसंग में देखा जाय तो उसका अर्थ होगा चैतन्य का विशिष्ट विषयों से सामान्य विषयों में प्रवर्तन, वेदान्त या साँख्य की पदावली में, इन्द्रिय-विषयों से अन्तःकरण और बुद्धि-विषयों में प्रवर्तन, और कुछ नहीं। "स्थगन" के अर्थ में यद्यपि विषय-वृत्ति का निरोध अन्तर्निहित है किन्तु वास्तव में यह निरोध केवल स्थूल विषय-वृत्ति का ही है। यदि इस प्रयत्न को निर्विषयता की अवस्था की प्राप्ति के लिये प्रयत्न मानें तब यह मानना अनिवार्य प्रतीत होता है कि चैतन्य का स्वभाव निर्विषयता ही है और विषय-वृत्तिकता उसकी प्रवास की स्थिति है जिसका निवारण यद्यपि प्रयत्न-साध्य है किन्तु स्वरूपगत और इस प्रकार अनिवार्य है। और यदि ऐसा नहीं मानें तो यह

१४. कारण से कार्य तीन कालों मे अभिन्न रहता है। कार्य और उसके धर्म अज्ञान के कारण ही सत्य लगते हैं इसलिये कार्य के धर्म कारण को वास्तव में स्पर्श नहीं करते (अ० २, पा० १, सूत्र ९)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized By Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयत्न केवल विषय की दूसरे स्तर पर प्राप्ति का प्रयत्न ही है, विषय-निवृत्ति नहीं है।

किन्तु "जगत्, या कहें चैतन्य का जगद्भाव, चैतन्य की सहज अवस्था नहीं है" यह शंकर के लिये एक निस्सन्दिग्ध प्रस्थान-बिन्दु है। वे इसको सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करते। शंकर का ऐसा मानना तर्कोचित है, यह मनुष्य में जगत् के मूल्य में सन्देह उत्पन्न होने से लक्षित होता है।

किन्तु यह प्रश्न कि प्रवास का भाव किसी प्रकार के अन्यद्भाव के बिना नहीं हो सकता और इस प्रकार अन्यत् का होना आवश्यक है, पुनः आ खड़ा होता है। इसके लिये शंकर को सांख्य का यह समाधान तो स्वीकार है ही नहीं कि अन्यत् एक स्वतन्त्र सत् है, उसे यह भी स्वीकार्य नहीं है कि यह अन्यत् आत्म की ही अन्यद्-भावावस्था है। शंकर के आशय को समझने के लिये हम यहां अपने एक पिछले उदाहरण को दूसरे प्रकार से समझने का प्रयत्न करेंगे:–"सांख्य–विवेचन में हमने सदोष चित्र के दोष के अधिष्ठान पर विचार किया था और पाया था, कि शांकर दृष्टि से, दोष के निवारित हो जाने पर हम पाते हैं कि दोष कहीं था ही नहीं, यद्यपि उससे पूर्व वह चित्र में प्रकट था। किन्तु इस उदाहरण को चित्रकार के पक्ष से भी समझा जा सकता है जो वास्तव में चित्र और उसके दोष दोनों का अधिष्ठान है। चित्र चित्रकार के एक अवधारण की अभिव्यक्ति है। अवधारण अपने में पूर्ण और स्वायत्त है किन्तु तब भी यह अपने को एक अन्य माध्यम से फलित करता है, जैसे ऊर्णनाभ अपने को जाले के माध्यम से। यह अन्य माध्यम अवधारण से अभिन्न है किन्तु तब भी भिन्न है और अवधारणा का आत्म–प्रवास है। इसमें प्रवासित अवधारणा, जो आत्मपूर्ण और सहज-फलित है, अपूर्णता और फलन की प्रक्रिया में प्रविष्ट हो कर व्याकुल होती है और अपने स्वरूप की ओर लौटने के लिये छटपटाती है। यह अपूर्णता और प्रक्रिया वास्तव में कहीं भी नहीं है क्योंकि अवधारणा, जोकि अभिव्यक्त हो रही है, स्वतःपूर्ण है। किन्तु तब भी इस अपूर्ण-भाव की सृष्टि होती है और यह अपने सत् होने का छद्म करती है। इसका छद्मभाव इसी से सिद्ध है कि यदि पूर्णता मौलिक नहीं होती तो अपूर्णता का अनुभव सम्भव ही नहीं था। इस प्रकार उपाधियों की सृष्टि है, यह निस्सन्दिग्ध है, और यह भी निस्सन्दिग्ध है कि यह आत्मा को उपहित करती है, किन्तु आत्यन्तिक दृष्टि से ये उपाधियां और अवच्छिन्नताएं केवल छद्मावरण हैं। इस प्रकार मोक्ष आत्मा द्वारा किसी स्थिति से अन्य स्थिति की प्राप्ति नहीं है, यह उसकी सहज और सर्वदा सिद्ध स्थिति है। इस प्रकार मोक्ष सिद्ध नहीं करना पड़ता क्योंकि यह तो आत्मा का स्वरूप ही है। तो क्या उपाधियों का निवारण सिद्ध करना पड़ता है? इसका उत्तर यदि "हां" में दिया जाय तो यह सांख्य का-सा मत हो जायगा क्योंकि आत्मा या ब्रह्म स्वरूपविश्रान्त सत्ता है और वह सर्वथा स्वरूपसिद्ध है। ऐसी अवस्था में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धि केवल माया को अपने निवारण की करनी होती है, अथवा कहें माया को व्यष्टिमूलक अहंकार या अविद्या के स्वरूप को जानकर अपनी असत्ता को सिद्ध करना होता है। किन्तु स्पष्टतः यह शंकर को सम्मत नहीं हो सकता, क्योंकि माया स्वयं ब्रह्माश्रित है। यह प्रधान के समान स्वतन्त्र सत् नहीं है और ब्रह्म स्वरूप-विश्रान्त चित् सत्ता है।

यहां शंकर से एक संकेत और लेना उपयुक्त होगा। अध्यास का निरूपण करते हुए वे अपने मत के विरुद्ध एक आपत्ति उठाते हैं:—"अविषय प्रत्यगात्मा में विषय और उसके धर्मों का अध्यास कैसे होगा ? जबकि सब लोग पुरोवर्ती (इन्द्रिय-संयुक्त) विषय में अन्य (इन्द्रियासंयुक्त) विषय का अध्यास करते हैं और "तुम" ऐसी प्रतीति से रहित प्रत्यगात्मा को अविषय कहते हो।" इसका समाधान करते हुए शंकर कहते हैं:— "यह आत्मा अत्यन्त अविषय नहीं है, क्योंकि यह अस्मत् प्रत्यय का विषय है, अपरोक्ष है और प्रत्यगात्मा रूप से प्रसिद्ध है।"[१५] सारे शांकर भाष्य में यह सम्भवतः एकमात्र प्रकरण है जहां ब्रह्म को स्पष्ट रूप से सांख्यीय पुरुष के समान निष्क्रिय चैतन्य के विपरीत आत्मनिरूपण में सक्रिय, प्रकाश-स्वरूप के अतिरिक्त स्वप्रकाशक चैतन्य के रूप में प्रतिपादित किया गया है। इसकी पुष्टि इस बात से और होती है कि वे अध्यास के लिये स्वविषयता को आवश्यक नहीं मानते हैं और इससे अगले ही वाक्य में वे 'आकाश में तलमलिनता' के अध्यास का उदाहरण देकर इस बात को स्पष्टतः कह देते हैं। इस प्रकार यहां आत्म-प्रत्ययगोचरता की बात इसलिए नहीं कही गयी है कि यह अध्यास की सम्भावना के लिये आवश्यक है, बल्कि इससे निरपेक्ष रूप में कही गयी है। किन्तु इस 'आत्मप्रत्ययगोचरता' का अर्थ फिनोमिनलोजी दार्शनिकों के अनुरूप 'विषयोन्मुखता' लेना उपयुक्त नहीं होगा और न डेकार्ट के समान इसे 'अपने को घटित करने के माध्यम से अपना अवगमन करना' कहना उपयुक्त होगा। दूसरे शब्दों में, यह न आत्मोन्मुख निवर्तन है और न आत्मयौगपद्य, यह आत्मप्रत्यग्भाव है जो स्वरूपसिद्ध है। इस शाश्वत और अखण्ड प्रत्यग्भाव को प्रतिषेधक अर्थ में लेना भी ठीक होगा, जैसा फिनोमिनलोजिकीय स्थगन (इपोखे) की अवधारणा में तथा डेकार्टीय तात्त्विक सन्देह की अवधारणा में कल्पित है। यह प्रत्यग्भाव जगत्समावेशी भी हो सकता है और इस प्रकार माया की ब्रह्म की शक्ति के रूप में, अथवा उससे भी अधिक, इन्द्रजाल के रूप में कल्पना सार्थक हो जाती है। किन्तु यह प्रत्यग्भाव शुद्ध उपरामता की स्थिति भी हो सकती है जोकि अखण्ड ब्रह्म भाव है। ब्रह्म की दृष्टि से जगत्प्रत्यय के भाव और अभाव को समझने के लिये मौन को उदाहरण रूप में देखा जा सकता है—मौन को आप

१५. कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम् ? सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तर-मध्यस्यति, युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनो विषयत्वं ब्रवीषि १. उच्यते—न तावदयमेकान्तेनाविषयः अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्, अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्म प्रसिद्धेः (अ० १,पा० १, सूत्र१)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वचन का अवरोध भी कह सकते हैं और वचनोत्तर भाव की स्थिति भी। और इन दो प्रकारों को दो अवस्थाओं के रूप में नहीं देख कर दो दृष्टि-भेदों के रूप में ही देखना चाहिये। और वास्तव में जब शंकर ब्रह्म को ही अविद्या के प्रवर्तन और निवर्तन का कारण मानते हैं और उपाधियों को ब्रह्म का परिणाम, तब उपाधियों (जगद्भाव) की वस्तुता और अवस्तुता केवल दृष्टिभेद मात्र ही रह जाती है।

किन्तु दृष्टि-भेद से ही सही, उपाधियों की वास्तविकता वेदान्त के लिये बहुत बड़ी समस्या है। किन्तु शंकर की ओर से इसका उत्तर होगा कि यह केवल एक कोटिभ्रम मूलक तर्क के कारण है। मानसिक और भौतिक अनुभव के तर्क को अतिक्रामी, अथवा कहें पारमार्थिक, अनुभव के स्तर पर लागू करना अनुचित है। प्रवास की खिन्नता का अनुभव मानसिक स्तर पर अतिमानसिक अनुभव का संकेत देता है। उस संकेत को पुनः मानसिक के स्तर पर समझने का प्रयत्न केवल इसे पहेली ही बना सकता है। स्वयं शंकर इन दो कोटियों में कहीं व्यामिश्र नहीं करते। वे औपाधिक स्तर के रहते उपाधियों की उत्पत्ति और विनाश को केवल उनके प्रकट होने और अप्रकट रहने के रूप में ही देखते हैं। इस प्रकार, सुषुप्ति की अवस्था में और मृत्यु के समय शरीरादि उपाधियां अप्रकट रूप में (बीज रूप में) रहती हैं, नष्ट नहीं होतीं। इसी प्रकार महा प्रलय की अवस्था में भी उपाधियां बीज रूप में रहती हैं। किन्तु शंकर इनका पूर्ण विनाश भी देखते हैं और पूर्ण पारमार्थिक दृष्टि से इनकी असत्ता भी देखते हैं। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि औपाधिक ब्रह्म उन नियमों के अनुसार ही व्यवहार करता है जो इस सन्दर्भ के हैं और निरुपाधिक ब्रह्म इन नियमों से पूर्णतः अतिक्रामी है। और अनौपाधिक सन्दर्भ में औपाधिक संदर्भ की असत्ता प्रख्यात रहती है—इस रूप में नहीं कि उपाधियां निषिद्ध रहती हैं, बल्कि इस रूप में कि उपाधियां रहती ही नहीं। यहां शंकर और सांख्य में एक-रूपता देखी जा सकती है और वह यह कि प्रवास के अनुभव अथवा मोक्षाकांक्षा आदि का अधिष्ठान सांख्य के समान ही शंकर भी उपाधिमूलक (प्रकृतिमूलक) ही मानेंगे, चैतन्यमूलक नहीं। और इस प्रकार उनके अनुसार भी यह अनुभव औपाधिक के आत्म–उत्क्रमण-आत्मसमर्पण—की सिद्धि के साथ ही तिरोहित हो जाता है। इसीसे ब्रह्म केवल आनन्द-स्वरूप ही है।

मेरे पापा जी ने एक स्थान पर जगत् की व्यष्टिमूलक अहंकार में स्थिति का निरूपण इस प्रकार किया है: "अहंकार वैयक्तिक अवच्छिन्नता का, और विषय–विश्व का भी, मूल है—दृश्य विषयों का ग्रहण मैं किसी देश–बिन्दु पर स्थित होकर करता हूँ और अपना ग्रहण इतर से भेद के द्वारा। ये अवगुण्ठन व्यक्ति के रूप में मेरे आविर्भाव और अस्तित्व के भी मूल हैं। इनका निवारण व्यक्ति के रूप में मेरे अस्तित्व के निवारण द्वारा ही सम्भव है।.....

"किन्तु हमारे अस्तित्व के धर्मों से हमारी कोई मुक्ति नहीं है: मैं गोचर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुओं के ग्रहण के लिये अपनी इन्द्रियों से बँधा हूं। इसके बिना न गोचर विषयों का अस्तित्व सम्भव है न वैचारिक विषयों का—ये सब विषय इन अवगुण्ठनों पर आश्रित प्रतिभास मात्र हैं। सब दृष्टि-बिन्दुओं और सब किरण-दैर्घ्यों से देखी जा रही पुस्तक का कोई आकार और वर्ण नहीं हो सकता। किन्तु हमारे अस्तित्व का यह अनिवार्य अवगुण्ठन आत्म के प्रवास-जन्य दुःख को जन्म देता है।"[१६] शंकर इस अहंकार का पूर्ण उच्छेद सम्भव मानते हैं और हमने ऊपर इसका औचित्य समझने का प्रयत्न किया है।

\+ + +

मनुष्य की प्राप्त स्थिति दो ओर उन्मुख सत्त्व की स्थिति है। एक ओर यह जगदोन्मुख या इन्द्रियाश्रित (एम्पिरिकल) सत्त्व है और दूसरी ओर इस भाव से असन्तुष्ट हो कर अतिक्रामी भाव की खोज करने वाला। कलाएं, शास्त्र और धर्म आदि उसकी अतिक्रामी प्रवृत्ति के ही द्योतक हैं, यद्यपि ये उसके केवल संकेतमात्र हैं। किन्तु उसमें केवल जगत् के सत्य में सन्देह या जगत् के मूल्य में सन्देह की विद्यमानता स्पष्ट रूप से इस बात की द्योतक है कि वह जगत् में केवल एक दिग्भ्रान्त, सार्थ-भ्रष्ट, सत्त्व है। यदि जगत् उसका प्रवास नहीं हो कर निवास होता तब ये सन्देह उत्पन्न ही नहीं हो सकते थे। ये सन्देह मनुष्य के स्वरूप की अतिक्रामिता के असन्दिग्ध द्योतक हैं। किन्तु यदि मनुष्य अतिक्रामी स्वरूप का है तब विषय-ज्ञान वास्तव में उसके लिये ज्ञान की नहीं ज्ञान-भ्रष्टता की स्थिति ही होगी। इसीसे सांख्य और शंकर विषय-विमुखता की स्थिति को प्रत्यङ्मुखता की स्थिति और विषयोन्मुखता को पराङ्मुखता की स्थिति कहते हैं। शंकर के अनुसार तो केवलमात्र आत्मा ही एक वस्तु है और वही ज्ञातव्य है।

यहां आपत्ति की जा सकती है कि सन्देह तो किसी भी स्थिति में किया जा सकता है, ब्रह्म में सन्देह सब से अधिक किया जाता है। किन्तु यह आपत्ति इस भ्रम पर आधारित है कि ब्रह्म कोई विषय या वस्तु है। विषय या वस्तु का निषेध निश्चय ही सम्भव है, वह विषय तत्त्वमीमांसीय ही चाहे क्यों न हो (जैसे जगत् तत्त्वमीमांसीय विषय है)। किन्तु ब्रह्म विषय नहीं है, यह आत्म की ही परा सत्ता है, यह आत्म का पूर्णतः निरावृत स्वरूप है। इस दृष्टि से यह डेकार्टीय आत्म से भी अधिक असन्दिग्ध है, क्योंकि डेकार्टीय आत्म घटनात्मक होने से आगन्तुक है, उसकी सत्ता अनिवार्य नहीं है, केवल उसका ज्ञान अनिवार्य है। किन्तु यहां भी एक गम्भीर अन्तर है—डेकार्ट का "आत्मयौगपद्य" कहां तक (शांकर) आत्म की "स्वप्रकाशकता" के अनुरूप है, यह कहना कठिन है, क्योंकि यदि इस पक्ष को छोड़ भी दें कि वह सन्देह के द्वारा निवर्तन के चरम बिन्दु के रूप में प्राप्त होता है, तो भी उसके बौद्धिक होने से वह अपने में अन्तर्गत रूप से बँटा हुआ है। इस प्रकार

१६. यशदेव शल्यः मूल्य-विमर्श, प्रतीक, फरवरी १९७५, पृष्ठ ६१.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शंकर के आत्म की आत्मप्रत्ययगोचरता आत्मयौगपद्य रूप की नहीं है, क्योंकि शंकर के आत्म के लिये अपना ज्ञानात्मक ग्रहण बौद्धिक स्वरूप का नहीं है और न यह ग्रहण उसकी सत्ता के लिये पूर्वापेक्षित ही है। वह सत् पहले है। और उसकी ज्ञान-स्वरूपता भी, जोकि उसका अनिवार्य धर्म है और उस की सत्स्वरूपता से अभिन्न है, उसकी प्रत्ययगोचरता को पूर्वकल्पित नहीं करती। वास्तव में इसके उलट, शांकर आत्मप्रत्ययगोचरता आत्म की अनिवार्य सत्स्वरूपता और अनिवार्य ज्ञानस्वरूपता को पूर्वकल्पित करती है और इनकी मात्र अनुषंगी है। यह इससे भी स्पष्ट है कि पूरे शांकर भाष्य में आत्मप्रत्ययगोचरता की और कहीं चर्चा नहीं है और न इस एकमात्र चर्चा की कहीं कोई व्याख्या ही है।

किन्तु आत्म को 'प्रत्यगात्मा' स्थान-स्थान पर कहा गया है। उपर्युक्त उद्धरण में, जहां आत्म की प्रत्ययगोचरता का उल्लेख है, वहीं साथ ही इसे प्रत्य-गात्मा भी कहा गया है। इसकी दो व्याख्याएं हो सकती हैं— एक तो यह कि आत्मप्रत्ययगोचरता को ही प्रत्यक्ता कहा गया है और इस प्रकार इसके द्वारा प्रथम की व्याख्या और पुष्टि की गयी है, दूसरी व्याख्या यह हो सकती है कि ये दो पृथक् पद हैं और प्रथम में जबकि उसके मात्र एक धर्म का उल्लेख है, दूसरा उसके मूल धर्म का वाचक है। किन्तु दूसरी व्याख्या ठीक नहीं है। शंकर आत्म की एकान्त अविषयता का निषेध करते हुए उसके स्वरूप-धर्म को तीन पदों द्वारा कहते हैं जिन्हें एक-दूसरे के अर्थ का पूरक और विवेचक मानना चाहिये। वे कहते हैं-"न तावदयमे-कान्तेनाविषयः, आत्मप्रत्ययविषयत्वात् अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्म प्रसिद्धेः।" आत्मा का यह आत्मप्रत्यय विषयत्व अपरोक्ष अथवा प्रत्यक् प्रकार का है—युष्मत्-प्रत्यय-विषयत्व से भिन्न। तब क्या युष्मत् प्रत्यय परोक्ष है? शंकर के अनुसार इसका उत्तर होगा कि हाँ, यह परोक्ष ही और इस कारण यह प्रत्यक् विषय से मूलतः भिन्न प्रकार का है। यह विषय परतःप्रमाण-साध्य और इस प्रकार अनुमेय होता है। सब युष्मत् प्रत्यय इसी प्रकार के हैं। ये विषय व्यावहारिक हैं और व्यवहार ही इनका प्रमाण है। जब तक व्यवहार चलता है केवल तभी तक ये प्रमाण होते हैं, व्यवहार का बाध होने पर ये भी बाधित हो जाते हैं। इस प्रकार ये स्वरूपतः परोक्ष हैं। किन्तु आत्मप्रत्यय-विषय परोक्ष नहीं है, इसकी गोचरता ही इसकी प्रामाणिकता भी है, बल्कि कहना चाहिये, इसकी प्रामाणिकता स्वरूपसिद्ध है, जिसका अर्थ है कि इसमें सत्ता और प्रज्ञप्ति दोनों की एकभावता प्राप्त होती है। एक स्थल पर शंकर स्वप्न-विषयों के मिथ्यात्व-निरूपण के प्रसंग में इन विषयों की अवगति—ज्ञप्ति—को स्वरूपतः सत्य कहते हैं: "यद्यपि स्वप्न-दर्शनावस्थस्य स्वप्नदर्शनोदकस्नानादि कार्यमनृतं, तथापि तदवगतिः सत्यमेव फलम्।"[१७] और यह अवगति शंकर के अनुसार, आत्ममूलक है।

१७. अ० २, पा० १, सूत्र १४।

113444

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहां एक बात और देखने की है कि सांख्य के पुरुष की प्रत्यक्ता परोन्मुखता के निषेध पर प्रतिष्ठित है। वास्तव में सांख्य के पुरुष को प्रत्यगात्मा केवल इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि इसके प्रसंग से प्रकृति (विषय) का निषेध घटित होता है, अन्यथा पुरुष प्रकाश मात्र है, प्रत्यक् नहीं है। इस प्रकार सांख्य के पुरुष की प्रत्यगात्मता विषय-निषेध-पूर्वक है (यद्यपि इस निषेध को सांख्य प्रकृति में ही अधिष्ठित मानता है)। मेरे पापा जी ने एक लेख में वेदान्त को भी इसी दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया है। वे कहते हैं—शंकर के अनुसार, अविद्या के अनादि होने से चेतना में विषय-प्रवृत्ति सहज है किन्तु इसके सान्त होने से उसमें विषय-निवृत्ति साध्य है। इस तरह उनके अनुसार शंकर इस दृष्टि से सांख्य से भिन्न नहीं हैं।"[१८] किन्तु वह ठीक नहीं है (और वास्तव में इस लेख में पापा जी का उद्देश्य शंकर के अपने अभिप्राय का उद्घाटन करना है भी नहीं)। शंकर अविद्या को अनादि मानते हुए भी आगंतुक मानते हैं और इस प्रकार चेतना के लिये विषय-प्रवृत्ति को न केवल सहज ही नहीं मानते, इसे वस्तुतः असत् और असम्भव भी मानते हैं।

इस प्रकार शंकर के अनुसार, आत्म की आत्म-प्रत्यक्ता की अन्तर्वस्तु विषय-निषेध नहीं है, न विषय-निषेध उसके लिये पूर्वापेक्षित ही है, इसके विपरीत प्रत्यगात्मता उसका अनिवार्य धर्म है। विषय उसके लिये परोक्ष और आगन्तुक है।

किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि शकर विषय को पराक् मानते हैं। शंकर के अनुसार विषय को दो प्रकार से देखा जा सकता है: अध्यास रूप में और शक्ति-रूप में। अध्यास-रूप में विषय (युष्मत्) अस्मत् (आत्म) को अपने में समीकृत रखता है और अस्मत् आत्म-विस्मृत रहता है, किन्तु शक्ति-रूप में विषय आत्म में समीकृत रहता है और मानो इसके द्वारा आत्म अपने को पुनरधिगत करता है। शंकर के शब्दों में—"अविद्या के लिये निमित्त बनना जिसका स्वभाव है, ऐसे नाम-रूपात्मक बीज-शक्ति के जगत् के रूप में प्रकट होने पर ही ईश्वर का सर्वज्ञत्व अवलम्बित है।"[१९] इसका अर्थ यह नहीं है कि ईश्वर का सर्वज्ञत्व जगत् पर अवलम्बित है, बल्कि यह कि ईश्वर का सर्वज्ञत्व जगत् रूप में फलित होता है। इसके लिये इसी सूत्र की आगे व्याख्या में संकेत मिलता है:—"माया-शक्ति में से पैदा हुआ (अविद्या-कल्पित) नाम-रूप मानो सर्वज्ञ ईश्वर का आत्म (स्वरूप) ही है। यह नाम-रूप ईश्वर के साथ बिल्कुल एक-रूप है, ऐसा भी नहीं कह सकते, और बिल्कुल भिन्न है, ऐसा भी नहीं कह सकते। .....यह ज्ञानस्वरूप आत्मा सब रूपों

१८ यशदेव शल्य-निर्विषय ज्ञान, दार्शनिक त्रैमासिक, जुलाई १९७३।

१९. अ० २, पा० १, सूत्र १४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को पैदा करके, उन्हें नाम देकर, उन उन नामों से पुकारता रहता है ।"[२०] आगे पुनः.....परमात्मा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में रहता है तो देह में भी रहता है । ब्रह्माण्ड और देह की उपाधि धारण करते हुए भी ब्रह्माण्ड और देह का अभिमान परमात्मा को कभी नहीं होता । जीव को अभिमान का अनुभव अविवेक से होता है ।"[२१] इस प्रकार शंकर के अनुसार जगत् केवलमात्र नाम–रूप (फिनोमिना) है और इस प्रकार चैतन्य में अन्तर्भूत है, किन्तु कांट से भिन्न वे यह भी मानते हैं कि इसकी प्रातीतिक स्वतन्त्रता भी अनिवार्य नहीं है । विक्षिप्त के समान हम अपनी कल्पनाओं को यथार्थ मान कर तदनुरूप व्यवहार कर सकते हैं अथवा विवेकी के समान उन्हें मात्र कल्पना–चित्र के रूप में जानते हुए भी तात्कालिक आनन्द के लिये उनमें अपने को छोड़ सकते हैं ।

इस पर आपत्ति की जा सकती है कि शंकर व्यावहारिक जगत् को कांट के समान प्रातीतिक रूप से स्वतन्त्र अवश्य मानते हैं क्योंकि अन्यथा व्यावहारिक और स्वाप्न विषयों में कुछ अन्तर ही नहीं रह जायगा । व्यावहारिक जगत् की विशेषता उसके व्यक्ति-निर्भर नहीं होकर सर्वसामान्य नियमानुसारी होने में ही है, जिसे शंकर स्वीकार करते हैं ।

इस आपत्ति में बहुत सार है किन्तु शंकर को कांट के प्रसंग में देखने पर हमारे कथन का औचित्य स्पष्ट हो जायगा । कांट भी जगत् को केवल प्रातिभासिक ही मानते हैं और इस प्रकार उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते हैं, किन्तु वे उन प्रागनुभविक आकारों (अ–प्रायराइ फोर्म्स : ट्रांसेंडेंटल इन्ट्यूशन्स् एण्ड ट्रांसेंडेंटल कांसेप्ट्स) को, जो जगत् की मूल हैं, चेतना के स्वरूपगत मानते हैं, उपाधि-रूप नहीं । इस पर कहा जा सकता है कि कांट चेतना को थिंग–इन–इट्सेल्फ के रूप में और कर्त्ता के रूप में इन आकारों से अतिक्रामी मानते हैं जिससे स्पष्ट है कि वे भी इन आकारों को अपने ढंग से औपाधिक ही मानते हैं । किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि कांट के अनुसार चेतना आकारों से इस अर्थ में ही अतिक्रामी है कि यह आकारों की विषय नहीं है, इस अर्थ में नहीं कि यह आकार–धर्मी नहीं है । यदि वे आकारों को चेतना पर आरोपण मानते तो उनके सम्मुख भी इस आरोपण के अधिष्ठान की समस्या उपस्थित होती, जो उनमें दिखायी नहीं देती ।

किन्तु तब भी शंकर के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वे जगत् के दो अधिष्ठान मानते हैं–वैयक्तिक अहंकार को और माया को, और माया वैयक्तिक अहंकार-मूलक नहीं होने से जगत् की व्यक्ति-निरपेक्ष निर्धारक है । किन्तु यह सही नहीं है, माया की यह व्यक्ति–निरपेक्षता प्रातिभासिक जगत्–विषयक नहीं है, यह व्यक्ति की आत्मोपाधियों की अधिष्ठान है, जागतिक प्रतिभास तो आत्मोपाधि-मूलक ही है ।

२०. अ० २, पा० ३, सूत्र ४६ । २१. वही:

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार शांकर मत में पराक् के लिये कहीं स्थान नहीं है। किन्तु जैसाकि उपर्युक्त उद्धरणों से भी स्पष्ट है, जीव के लिए ईश्वर और ब्रह्म ज्ञानात्मक रूप से पराक् हैं क्योंकि जीव का "ज्ञान" बुद्धि,अन्तःकरणादि उपाधियों से निर्धारित होता है और इसलिए निरुपाधिक ज्ञान उसके लिए नितान्त अगम्य है।

\+ \+ \+

अब हम संक्षेप में शंकर की ज्ञानमीमांसा के सन्दर्भ में प्रत्यक् और पराक् के प्रश्न पर विचार करेंगे।

ऊपर हमने शंकर की तत्त्वमीमांसा के सन्दर्भ में देखा कि उनके अनुसार परमार्थतः एकमात्र स्थिति प्रत्यक्ता की स्थिति है और दूसरी कोई स्थिति नहीं है। किन्तु प्राप्त वस्तुस्थिति पारमार्थिक स्थिति नहीं है, यह परमार्थ पर असत् आरोपणों की स्थिति है, जिसे शंकर औपाधिक स्थिति कहते हैं। ज्ञानमीमांसा का प्रसंग इस औपाधिक स्थिति के सन्दर्भ में उपस्थित होता है।

किन्तु कोई ज्ञानमीमांसा तत्त्वमीमांसा से स्वतन्त्र नहीं हो सकती, क्योंकि ज्ञान, ज्ञान-साधन और ज्ञेय वस्तु का स्वरूप निश्चित किये बिना ज्ञानमीमांसा का आरम्भ भी नहीं किया जा सकता। इस प्रकार, जिसके लिये चिदानन्द-स्वरूप आत्म-सत्ता एकमात्र सत्ता है और जगत् केवल असत् और अवांछनीय स्थिति है, उसके लिए एकमात्र ज्ञान इस असत् को उसके यथार्थ रूप में जानलेना मात्र ही होगा। और बुद्धि तथा अन्तःकरणादि के उपाधि-रूप होने से ये ज्ञान के उपयुक्त साधन नहीं हो सकते। इसलिये ज्ञानमीमांसा को इन तक सीमित रखना सम्भव नहीं हो सकता। यही कारण है कि शंकर के शारीरिक भाष्य में या अन्यत्र भी प्रत्यक्ष, अनुमान आदि का विस्तृत विवेचन नहीं मिलता। उसमें अनुभव के अतिरिक्त एकमात्र असन्दिग्ध प्रमाण शब्द को माना गया है। और वास्तव में अनुभव का अर्थ भी प्रत्यक्षादि ऐन्द्रिय अनुभव नहीं है, इनका अधिष्ठान आत्मानुभव ही है जो जागतिक उपाधि की स्थिति में अनुपलब्ध रहता है। यह अनुभव केवल योग-सिद्ध ऋषियों को ही गम्य होता है और हमारे लिये वह इनसे प्राप्त संकेतों और वचनों आदि के द्वारा अनुमेय होता है। अथवा यह शब्द तब प्रत्यक्ष-प्रमाण होता है जब यह उपाधियों से अनावृत आत्मा को सीधे संप्रेषित होता है। उपनिषदों में गुरु शिष्य को इसी प्रकार आत्मज्ञान संप्रेषित करता है।

शंकर के अनुसार बुद्धि अवश्य ज्ञान का एक स्वीकृत साधन है, किन्तु जिस प्रकार कांट बुद्धि को केवल संवेदाभिमुखी होने पर ही ज्ञान-साधन स्वीकार करते हैं उसी प्रकार शंकर उसे ब्रह्मानुभवमुखी होने पर ही ज्ञान-साधन स्वीकार करते हैं। इसीसे वे बुद्धि को शब्द से अधिक उत्कृष्ट प्रमाण-साधन नहीं मानते, उसकी अनुषंगी साधन मानते हैं। किन्तु कांट के अनुसार बुद्धि जागतिक अनुभव की निर्धारक है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि स्वयं उससे पराक् रहती है, प्रत्यक्ष इससे निर्धारित संवेद होता है। शंकर की स्थिति इससे भिन्न है। शंकर ज्ञान को वस्तु-प्रकाशक मानते हैं और सम्पूर्ण ज्ञान-स्थिति को वस्तु. अन्तःकरण की वस्तु-अनुरूप वृत्ति और अन्तःकरण, इन तीनों का एकीभाव मानते हैं। इस प्रकार जागतिक ज्ञान में बुद्धि संवेद को अपने आकार में रचित कर वस्तु-रूप में घटित नहीं करती बल्कि वस्तु-ज्ञान को रूप देकर उसमें प्रकाशित होती है। यहां यह द्रष्टव्य है कि वस्तु उतनी ही स्वरचित है जितना अन्तःकरण; एक अन्तःकरणोपाधि है और दूसरी वस्तूपाधि। इस पर कहा जा सकता है कि यदि ज्ञान वस्तु-प्रकाशक है तब ज्ञान स्वप्रकाशक नहीं हो सकता, और इसी प्रकार, न वह अन्तः करण-प्रकाशक हो सकता है। परिणामतः अन्तःकरण और ज्ञान-वृत्ति दोनों को अतिक्रामी मानना होगा। यह सही है, किन्तु इनकी यह अतिक्रामिता केवल वस्तु-ज्ञान के सन्दर्भ में ही है, अन्यथा उपाधि मात्र के विषय होने से योगी और ईश्वर के लिये ये प्रत्यक्ष-गम्य हैं। इस प्रकार शंकर की ज्ञानमीमांसा में अतिक्रामी की कोटि स्वीकृत नहीं है, केवल अतिक्रामिता के स्तर हैं। औपाधिक स्तर पर शंकर सांख्य के बुद्धि, अहंकार, अन्तःकरण, तन्मात्र और महाभूत के स्तर-भेद को स्वीकार करते हैं और इस प्रकार औपाधिक ज्ञान के स्तर पर भी ऊपर का स्तर अतिक्रामी रहता है। यह कहा जा सकता है कि तन्मात्र-स्तर का ज्ञान महाभूत-स्तर के ज्ञान से निकृष्टतर है क्योंकि वह मात्र स्वप्न-संचरण है। किन्तु यह ठीक नहीं है। देहोपाधि के निग्रह से प्राप्त तन्मात्रोपाधि के स्तर का ज्ञान उत्कृष्टतर है और यह पूर्व के लिये अतिक्रामी भी है। यही ऊपर की कोटियों के लिए भी सही है। और इन कोटियों के लिए शुद्ध चैतन्य पूर्णतः अतिक्रामी है। यद्यपि परमार्थतः यह एकमात्र प्रत्यक् है।

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डेविड ह्यूम का धर्म–दर्शन

वेदप्रकाश वर्मा

१. प्रारम्भिक

ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा तथा आचारमीमांसा की दृष्टि से ही नहीं, अपितु धर्म–दर्शन की दृष्टि से भी अट्ठारहवीं शताब्दी के महान अनुभववादी दार्शनिक डेविड ह्यूम के विचारों का पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में विशेष महत्व है। अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, जब ह्यूम ने अपने धर्म-दर्शन का प्रतिपादन किया था, योरोपीय समाज पर ईसाई धर्म तथा पादरियों का अत्यधिक व्यापक प्रभाव था, क्योंकि तब सामान्य मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तिगत जीवन कुछ धार्मिक परम्पराओं तथा सिद्धांतों द्वारा ही शासित होता था। योरोप का इतिहास इस बात का साक्षी है कि पुनर्जागरण के उस युग में भी अंधविश्वासों, हठधर्मिता एवं धर्मान्धता की प्रधानता थी और जनसाधारण का दैनिक आचरण तर्कबुद्धि द्वारा नहीं, प्रत्युत पादरियों द्वारा बनाये गए धार्मिक नियमों द्वारा ही शासित होता था। चर्च के इस व्यापक प्रभाव के कारण धर्म के सम्बन्ध में स्वतंत्र चिंतन तथा वाद-विवाद सम्भव नहीं था। ऐसी स्थिति में किसी भी विचारक के लिए धर्म तथा उससे उत्पन्न अंधविश्वासों के विरुद्ध अपने विचार व्यक्त करना अत्यंत दुष्कर कार्य था जिसे करने के लिए उसे अपने प्राणों तक का बलिदान देना पड़ सकता था। इन कठिन तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में ह्यूम ने धर्म-जनित अंधविश्वासों, हठधर्मिता, धार्मिक असहिष्णुता तथा पादरियों द्वारा बनाये गए कठोर धार्मिक नियमों के तत्कालीन समाज पर व्यापक दुष्प्रभाव के विरुद्ध जो क्रांतिकारी विचार व्यक्त किये हैं वे निश्चय ही बहुत प्रशंसनीय एवं आश्चर्यजनक हैं। उनके इन परम्परा–विरोधी विचारों से स्पष्ट है कि वे धर्मान्धता के उस युग में भी स्वतन्त्र चिन्तन करने का साहस कर सकते थे।

धर्म-दर्शन के सम्बन्ध में ह्यूम ने दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। उनकी प्रथम पुस्तक है 'दि नैचुरल हिस्ट्री आफ रिलीजियन', जो १७५७ में प्रकाशित हुई थी। इस पुस्तक में उन्होंने अनुभववादी विचारधारा के अनुसार ही धर्म की उत्पत्ति तथा उसके विकास का विवेचन किया है और यह प्रमाणित करने का प्रयास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया है कि प्राचीन युग में सर्वत्र बहुदेववाद ही प्रचलित था जिससे अंततः एकेश्वर-वाद का उदय हुआ। इसी पुस्तक में अनेक उदाहरणों द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है कि प्राकृतिक शक्तियों के सम्बन्ध में मनुष्य के अज्ञान तथा उस से उत्पन्न भय के फलस्वरूप ही अंततः धर्म का जन्म हुआ है। इस प्रकार धर्म की उत्पत्ति और उसका विकास ही इस पुस्तक का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। ह्यूम द्वारा लिखित धर्म-दर्शन सम्बन्धी दूसरी पुस्तक है 'दि डाएलाग्स कन्सर्निंग नैचुरल रिलीजियन', जो १७५० तथा १७६० के बीच में लिखी गई थी और जो उनकी मृत्यु के तीन वर्ष पश्चात् १७७९ में प्रकाशित हुई। जैसाकि इस पुस्तक के नाम से ही स्पष्ट है, यह धार्मिक विषयों के सम्बन्ध में कुछ पात्रों के बीच परिसम्वाद के रूप में लिखी गई है। मुख्यतः सिसिरो की शैली का अनुकरण करते हुए इस पुस्तक में ह्यूम ने तीन पात्रों—डेमिया, क्लीनथेस तथा फिलो— के बीच परिसम्वादों के माध्यम से ईश्वर के अस्तित्त्व सम्बन्धी प्रमाणों, उसके स्वरूप, गुणों तथा उसकी शक्तियों के विषय में अनुभववादी तार्किक दृष्टिकोण से विचार किया है। इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य यह प्रमाणित करना है कि मनुष्य अपनी सीमित बुद्धि द्वारा ईश्वर सम्बन्धी इस सम्पूर्ण गहन विषय का स्पष्ट और निश्चित ज्ञान कभी प्राप्त नहीं कर सकता। इन दो पुस्तकों के अतिरिक्त ह्यूम ने अपनी 'इनक्वायरी कन्सर्निंग ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग' में चमत्कारों के सम्बन्ध में एक निबन्ध लिखा है जिसमें उन्होंने सभी प्रकार के चमत्कारों की सम्भावना का निषेध किया है। इसी प्रकार अपनी पुस्तक 'एसेजः मारल एण्ड पोलिटिकल' में उन्होंने आत्मा की अमरता से सम्बन्धित विश्वास तथा पुनर्जन्म के विचार का खंडन किया है। अपनी इन सभी कृतियों में उन्होंने मनुष्य के जीवन तथा उसके आचरण पर धर्म और उससे उत्पन्न अनेक अंधविश्वासों के घातक प्रभाव का विस्तृत विवेचन किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि तत्कालीन अधिकतर विचारकों के विपरीत ह्यूम धर्म को मानव-समाज के लिए उपादेय न मान कर हानिकारक ही मानते हैं और धर्म के प्रति उनका यही निषेधात्मक दृष्टि-कोण धर्म-दर्शन सम्बन्धी उनकी सभी कृतियों में स्पष्टतः परिलक्षित होता है। वस्तुतः अट्ठारहवीं शताब्दी में धर्म के प्रति ह्यूम का यह निषेधात्मक दृष्टिकोण उन के अदम्य साहस एवं मौलिक चिंतन का अकाट्य प्रमाण है।

२. धर्म का निषेध

अन्य बालकों की भांति ह्यूम की धार्मिक शिक्षा भी बाल्यकाल में ही आरम्भ हो गई थी। उन्हें प्रतिदिन गिरजाघर जाना पड़ता था और प्रति रविवार प्रातःकाल कम से कम तीन घण्टे चुपचाप गिरजाघर में बैठ कर पादरियों से धर्मोपदेश सुनने पड़ते थे। पादरियों द्वारा बनाये गए धार्मिक नियमों का उल्लंघन करने पर अन्य बालकों की भांति उन्हें भी कड़ा दंड दिया जाता था। इस प्रकार बाल्यकाल में ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्यूम को ईसाई धर्म सम्बन्धी सभी मूल सिद्धांतों का विस्तृत ज्ञान कराया गया जिससे धर्म के प्रति उनकी रुचि और श्रद्धा उत्पन्न हो सके। परन्तु ह्यूम के लिये इस कठोर धार्मिक शिक्षा का परिणाम पादरियों की आशा और इच्छा के ठीक विपरीत निकला। इसके फलस्वरूप बाल्यकाल से ही उन के मन में धर्म के प्रति अरुचि तथा उपेक्षा का भाव उत्पन्न हो गया जो आयु और अनुभव के साथ-साथ निरंतर बढ़ता ही गया। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में भी उन के मन में धर्म के प्रति यह अरुचि तथा उपेक्षा विद्यमान थी और वे तब भी आत्मा की अमरता एवं पुनर्जन्म के विचार को स्वीकार नहीं करते थे। जेम्स बोसवेल नामक एक व्यक्ति ने १७७६ में ह्यूम की मृत्यु से कुछ समय पूर्व उन से इस विषय पर वार्तालाप किया था। उनके इस वार्तालाप के कुछ अंश यहां प्रस्तुत हैं :—"ह्यूम ने कहा कि जब से उन्होंने लॉक और क्लार्क की सूचनाएं पढ़ी हैं तब से उन्होंने किसी धार्मिक विश्वास को स्वीकार नहीं किया।.....उन्होंने स्पष्ट कहा कि धर्म सम्बन्धी नैतिकता निकृष्ट ही होती है। .....उनका कथन था कि जब उन्हें यह मालूम होता है कि कोई व्यक्ति धर्मपरायण है तो वे यहां निष्कर्ष निकालते हैं कि वह अवश्य ही दुष्ट होगा, यद्यपि वे कुछ ऐसे व्यक्तियों से भी परिचित हैं जो धर्मपरायण होते हुए भी बहुत अच्छे हैं।.....मैंने उन से पूछा—क्या यह सम्भव नहीं है कि मनुष्य का पुनर्जन्म हो? उन्होंने उत्तर दिया कि यह कल्पना नितान्त अनुचित एवं अयुक्तिसंगत है कि हमारा अस्तित्व सदा बना रहे।.....मैंने उनसे पूछा कि सदा के लिये पूर्णतः नष्ट हो जाने के विचार से उन्हें कोई दुःख नहीं होता। उन्होंने कहा कि इस विचार से उन्हें बिल्कुल दुःख नहीं होता—ठीक उसी प्रकार जैसे उन्हें इस विचार से दुःख नहीं होता कि वे कभी थे ही नहीं।[1] बोसवेल के साथ ह्यूम के इस वार्तालाप से पूर्णतः स्पष्ट है कि उनके जीवन में सामान्य धार्मिक विश्वासों के लिये कोई ध्यान नहीं था।

परन्तु अपने व्यक्तिगत जीवन में धार्मिक विश्वासों को कोई महत्व न देते हुए भी ह्यूम मानवसमाज पर धर्म के व्यापक प्रभाव के प्रति उदासीन नहीं थे। उन्होंने धर्म सम्बन्धी इतिहास तथा तत्कालीन धार्मिक विचारधाराओं का गहन अध्ययन किया था और वे इस तथ्य से भी भलीभांति परिचित थे कि जनसाधारण का जीवन प्रचलित धार्मिक सिद्धांतों एवं आस्थाओं द्वारा ही शासित होता है। इसी प्रकार अपनी धर्म-दर्शन सम्बन्धी कृतियों में उन्होंने धर्म के सभी महत्वपूर्ण पक्षों—ईश्वर, आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, चमत्कार, अशुभ की अमरता, पुनर्जन्म, अशुभ की समस्या और चमत्कारों की सम्भावना के सम्बन्ध में ह्यूम के दृष्टिकोण पर हम अगले खंडों में विचार करेंगे। परन्तु धर्म-दर्शन सम्बन्धी इन गम्भीर समस्याओं पर

१. नारमन कैम्पस्मिथ, 'ह्यूम्स डायलाग्स कन्सर्निंग नेचुरल रिलीजियन', पृष्ठ ९७, ९८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार करने से पूर्व मानव-जीवन पर धर्म के व्यापक प्रभाव के विषय में ह्यूम के मत को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। जैसाकि पहले कहा गया है, वे मनुष्य के लिये धर्म के इस अनावश्यक व्यापक प्रभाव को बहुत हानिकारक मानते थे। उन का यह निश्चित मत था कि जिस रूप में धर्म मानव-समाज में प्रचलित है उसके साथ अंधविश्वास, हठधर्मिता, असहिष्णुता, प्रवंचना आदि दुर्गुण अनिवार्यतः सम्बद्ध रहते हैं जो व्यक्ति और समाज दोनों की सुख-समृद्धि के लिये अत्यधिक घातक सिद्ध होते हैं। इन दुर्गुणों को धर्म से अलग करना सम्भव नहीं है, अतः जब तक मनुष्य की धर्म में आस्था बनी रहेगी तब तक वह इन के दुष्प्रभाव से कभी मुक्त नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, धर्म अनेक आडम्बरपूर्ण विधिविधानों द्वारा मानव-जीवन को अस्वाभाविक एवं कृत्रिम बना कर मनुष्य को अपने सामाजिक उत्तरदायित्व तथा नैतिक कर्तव्यों के प्रति उदासीन कर देता है। आडम्बरपूर्ण धार्मिक कर्मकांड में ही वह इतना अधिक मग्न हो जाता है कि अपने सामाजिक उत्तरदायित्व तथा नैतिक कर्तव्यों की पूर्ति के लिये उसके पास समय और शक्ति दोनों ही शेष नहीं रह जाते। इस प्रकार ह्यूम के मतानुसार धर्म अपने प्रचलित रूप में मनुष्य के नैतिक आचरण पर बहुत घातक प्रभाव डालता है, अतः उसे नैतिकता का आधार मानना—जैसाकि बहुत से धर्मपरायण विचारक मानते हैं—नितांत अनुचित और अयुक्तिसंगत है।

यहां इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि समस्त धार्मिक विश्वासों एवं परम्पराओं के विरुद्ध होते हुए भी ह्यूम स्पष्टतः और प्रत्यक्ष रूप से धर्म का खंडन नहीं करते। उस युग की धर्मांधता और प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण वे बहुत सावधानीपूर्वक तथा अप्रत्यक्ष रूप से ही धर्म का निषेध करते हैं। फ्रांसीसी संदेहवादी दार्शनिक बेले की भांति वे भी यही कहते हैं कि वे वास्तविक धर्म का नहीं अपितु उस से सम्बद्ध अंधविश्वासों, हठधर्मिता, असहिष्णुता और प्रवंचना का ही विरोध करते हैं। उन का यह भी कथन है कि धर्म के पक्ष में दिये गये तर्कों का खंडन कर के वास्तव में वे आस्था के लिये ही मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। इस आधार पर ह्यूम ने उन सभी युक्तियों का खंडन किया है जिन पर धार्मिक विश्वास तथा परम्पराएं आधारित हैं। धर्म का निषेध करने की इस अप्रत्यक्ष विधि के कारण ही कुछ विचारकों ने यह मान लिया है कि ह्यूम धर्म के समर्थक थे और वे उस से सम्बद्ध केवल बुराइयों को ही अस्वीकार करते थे। परन्तु यह मत उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इस बात के अनेक प्रमाण विद्यमान हैं कि धर्म में ह्यूम की किंचिन्मात्र भी आस्था नहीं थी। उन के संदेहवाद तथा विशुद्ध अनुभववाद से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि वे ईश्वर अथवा अन्य किसी अनुभवातीत शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे। ईश्वर में जिस विधि से मानवीय गुणों को आरोपित किया जाता है उस की उन्होंने तीव्र आलोचना की है। इस के अतिरिक्त हम यह पहले ही बता चुके हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि वे चमत्कारों की सम्भावना, आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म में भी विश्वास नहीं करते थे। जहां तक बाह्य धार्मिक कर्मकांडों का प्रश्न है वे इस के तीव्र विरोधी थे और इसे नैतिकता के लिये बहुत घातक मानते थे। ये सभी तथ्य स्पष्टतः इस मत का खंडन करते हैं कि ह्यूम धर्मपरायण विचारक थे अथवा वे धर्म का समर्थन करते थे। यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या वास्तव में ह्यूम 'नास्तिक' थे। इस के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि वे स्पष्ट तथा निश्चित रूप से यह नहीं कहते कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है परन्तु उस का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिये प्रस्तुत किये जाने वाले परम्परागत प्रमाणों का उन्होंने जो खंडन किया है उस से इतना तो अवश्य सिद्ध होता है कि वे ईश्वर के अस्तित्व की सम्भावना में संदेह करते थे। अपनी पुस्तक 'दि नेचुरल हिस्ट्री आफ रिलीजियन' के अन्तिम अनुच्छेद में ईश्वर सम्बन्धी विषय पर अपने इसी संदेहवादी मत को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि "यह सम्पूर्ण विषय एक पहेली तथा अवर्णनीय रहस्य है। संदेह, अनिश्चयात्मकता तथा निर्णय को स्थगित कर देना ही इस विषय से सम्बन्धित ठीक-ठीक और सावधानीपूर्वक की गई जांच का एकमात्र परिणाम प्रतीत होता है। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि विश्व के अधिकतर धर्मों के मूल आधार ईश्वर के सम्बन्ध में ह्यूम वस्तुतः संदेहवाद तथा अज्ञेयवाद को ही स्वीकार करते हैं। इस से ईसाई धर्म तथा अन्य सभी ईश्वरवादी धर्मों का स्वतः ही खंडन हो जाता है।

ह्यूम को धर्म का समर्थक मानने वाले कुछ विचारकों का मत है कि धर्म के प्रति इस संदेहवाद को व्यावहारिक दृष्टि से उन्होंने उसी प्रकार अस्वीकार किया है जिस प्रकार वे व्यावहारिक जीवन में भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व के सम्बन्ध में संदेहवाद को अस्वीकार करते हैं। परन्तु वास्तव में यह मत उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इसका कारण यह है कि ह्यूम ने मनुष्य के लिये भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व तथा धार्मिक विश्वासों में स्पष्ट भेद किया है। वे यह मानते हैं कि भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व में संदेह करना मनुष्य के अनुभव तथा स्वभाव के नितान्त विपरीत है, अतः इन के अस्तित्व को स्वीकार करना उसके लिये अनिवार्य हो जाता है। परन्तु मानव-जीवन के लिये ईश्वर तथा अन्य धार्मिक विश्वासों की अनिवार्यता के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। धर्म तथा उस से सम्बद्ध विश्वासों को ह्यूम मनुष्य के जीवन के लिये अनिवार्य नहीं मानते। इसका अभिप्राय यही है कि समस्त धार्मिक विश्वासों को अस्वीकार कर के उनके अनुसार आचरण किये बिना भी मनुष्य स्वाभाविक रूप से अपना जीवन व्यतीत कर सकता है। स्वयं अपने व्यक्तिगत अनुभव तथा इतिहास के आधार पर ह्यूम ने यही निष्कर्ष निकाला है कि मनुष्य के लिये धर्म में उसी प्रकार विश्वास करना अनिवार्य नहीं है जिस प्रकार उस के लिए भौतिक वस्तुओं के अस्तित्व में विश्वास करना अनिवार्य है जिस के अभाव में यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वाभाविक रूप से जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। यही कारण है कि वे धर्म तथा उस से सम्बद्ध विश्वासों को सार्वभौमिक और मानव-स्वभाव का अनिवार्य अंग नहीं मानते। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ह्यूम धार्मिक विश्वासों की सत्यता के सम्बन्ध में संदेहवादी हैं और व्यावहारिक दृष्टि से वे मानव-जीवन के लिये धर्म को उपादेय एवं श्रेयस्कर न मान कर अत्यधिक हानिकारक ही मानते हैं।

३. धर्म का उदय और विकास

यद्यपि ह्यूम धर्म को मनुष्य के लिये श्रेयस्कर नहीं मानते थे, किंतु फिर भी वे यह अवश्य स्वीकार करते थे कि बहुत प्राचीन काल से मानव-जीवन पर धर्म का अत्यधिक व्यापक प्रभाव रहा है। प्रायः सामान्य व्यक्ति का जीवन दर्शन अथवा तर्कबुद्धि द्वारा शासित न हो कर कुछ धार्मिक परम्पराओं तथा विश्वासों द्वारा ही शासित होता रहा है। यही कारण है कि ह्यूम ने अपनी पुस्तक 'दि नेचुरल हिस्ट्री आफ रिलीजियन' में धर्म की उत्पत्ति और उसके विकास पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। पूर्णतः अनुभववादी दार्शनिक होने के कारण उन्होंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही धर्म की उत्पत्ति की व्याख्या की है। उनका विचार है कि धर्म का जन्म प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों में भय, प्रतिशोध, आशा आदि कुछ मनवीय संवेगों से ही हुआ है। आदिकाल में, जब मनुष्य का ज्ञान बहुत सीमित था, वह भूकम्प, बाढ़, तूफ़ान, सूखा, अतिवृष्टि आदि अनेक प्राकृतिक विपदाओं से निरन्तर भयभीत रहता था और उसमें इन विपत्तियों को नियन्त्रित करने की क्षमता नहीं थी। इसी भय से प्रेरित होकर और प्राकृतिक विपदाओं से मुक्ति प्राप्त करने के लिये मनुष्य ने अनेक देवी-देवताओं की कल्पना की जो धर्म का आधार बने। सूर्य, चन्द्र, जल, वायु, अग्नि आदि प्राकृतिक शक्तियों को ही देवता मान कर उसने उनकी पूजा करना आरम्भ किया जिससे वह प्राकृतिक विपदाओं से मुक्त हो कर अपने जीवन को सुरक्षित रख सके। इस प्रकार भय और अपने जीवन को सुरक्षित रखने की चिंता इन दोनों को धर्म की मूल प्रेरणाएं माना जा सकता है। धर्म के उद्गम के विषय में अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए ह्यूम ने लिखा है कि "धर्म सम्बन्धी प्रथम विचारों का उदय प्राकृतिक कार्यप्रणाली पर चिंतन के फलस्वरूप नहीं अपितु जीवन की घटनाओं के विषय में चिंता और उन आशाओं तथा भयत्रस्त करने वाले विचारों के परिणामस्वरूप हुआ जो मानव-मन को उत्तेजित करते हैं।.....सैद्धांतिक जिज्ञासा तथा विशुद्ध सत्यानुराग निश्चय ही धर्म के प्रेरक तत्त्व नहीं हैं।.....इसके प्रेरक कारण सुख-प्राप्ति की आकांक्षा, भावी दुःख की आशंका, मृत्यु का भय, प्रतिशोध की उत्तेजना, भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की क्षुधा आदि सामान्य मानवीय संवेग ही हैं।[२]

२. 'दि नैचरल हिस्ट्री आफ रिलाजियन', सी. डब्ल्यू. हैंडल द्वारा सम्पादित पुस्तक 'ह्यूम—सिलेक्शन्स' में संकलित, पृष्ठ २६०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार स्पष्ट है कि ह्यूम मनुष्य के कुछ नैसर्गिकसंवेगों के आधार पर ही धर्म के उद्गम की व्याख्या करते हैं।

मानव-समाज में धर्म के सम्बन्ध में ह्यूम का कथन है कि सर्वप्रथम बहुदेववाद का उदय हुआ और फिर इसी बहुदेववाद से धीरे-धीरे उस एकेश्वरवाद का विकास हुआ जो बहुत-से धर्मों का मूल आधार है। अपनी पुस्तक 'दि नेचुरल हिस्ट्री आफ रिलीजियन' में उन्होंने विस्तारपूर्वक अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि प्राचीन युग में लगभग सभी मानव-समुदाय बहुदेववाद में ही विश्वास करते थे। वे अनेक प्राकृतिक शक्तियों को देवी-देवताओं के रूप में स्वीकार करके अपनी सुख-समृद्धि के लिये उनकी आराधना करते थे। ह्यूम के मतानुसार, प्राचीन युग से मानव-जाति के इतिहास का अध्ययन करने से यही ज्ञात होता है कि उस समय विश्व में सर्वत्र यह बहुदेववाद ही प्रचलित था और सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान एक ईश्वर के विचार का उदय बहुत बाद में हुआ। इसका कारण यह था कि एक सर्वज्ञ, सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान ईश्वर के अमूर्त विचार को ग्रहण करने की बौद्धिक योग्यता प्राचीन युग के मनुष्य में विकसित नहीं हो पायी थी। वह भिन्न-भिन्न प्राकृतिक शक्तियों में व्यक्तित्व आरोपित करके अपने विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अलग-अलग उन की पूजा करता था। इसी बहुदेववाद को प्राचीन काल के मनुष्य की एकमात्र धार्मिक विधारधारा बताते हुए ह्यूम ने लिखा है कि "यदि हम प्रारम्भिक स्थिति से उच्चतर स्थिति तक मानव-समाज की उन्नति पर विचार करें तो हमें ज्ञात होता है कि बहुदेववाद अथवा मूर्तिपूजा ही मानव-जाति का सर्वप्रथम और प्राचीनतम धर्म रहा है।.....यह एक निर्विवाद तथ्य है कि लगभग सत्रह सौ वर्ष पूर्व सम्पूर्ण मानव-जाति बहुदेववाद में विश्वास करती थी।..... हम जितना प्राचीन युग की ओर जाते हैं उतनी ही अधिक हमें मानव-जाति बहुदेववाद का समर्थन करती प्रतीत होती है।.....उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम सभी दिशाओं में हमें इसी तथ्य के सर्वसम्मत प्रमाण प्राप्त होते हैं।.....अमेरिका, अफरीका तथा एशिया के जंगलों में रहने वाले सभी मानव-समुदाय बहुदेववादी और मूर्तिपूजक हैं। इस नियम का एक भी अपवाद दृष्टिगोचर नहीं होता।..... इस प्रकार यदि हम जिज्ञासापूर्वक धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में खोज करें तो हमारा ध्यान बहुदेववाद की ओर ही जाता है जो असभ्य एवं असंस्कृत मानव-जाति का प्राचीनतम धर्म है।[3] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धर्म के विकास की दृष्टि से ह्यूम ने बहुदेववाद को ही उस का सर्वप्रथम सोपान माना है और उनका यह भी निश्चित मत है कि इसी बहुदेववाद से धीरे-धीरे अन्ततः एकेश्वरवाद का जन्म हुआ है।

३. वही पुस्तक, पृष्ठ २५४, २५५, २५७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहां यह उल्लेखनीय है कि ह्यूम बहुदेववाद को एकेश्वरवाद की अपेक्षा अधिक प्राचीन ही नहीं अपितु अधिक उत्कृष्ट भी मानते हैं। अपनी इस मान्यता के लिये उन्होंने दो मुख्य कारण प्रस्तुत किये हैं। इसका प्रथम कारण यह है कि बहुदेववाद एकेश्वरवाद की अपेक्षा कहीं अधिक सहिष्णुतापूर्ण विचारधारा है। बहुदेववाद में विश्वास करने वाली जातियां अन्य जातियों के देवी-देवताओं को भी सरलतापूर्वक स्वीकार कर लेती हैं। अपने इस मत की पुष्टि के लिये ह्यूम ने यूनानियों तथा रोमन लोगों का उदाहरण दिया है जो दूसरों के देवताओं का भी अपने देवताओं के समान ही आदर करते थे। बहुदेववाद के विपरीत एकेश्वरवाद असहिष्णुता को जन्म देता है, क्योंकि इस के समर्थक स्वयं अपने देवता या ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी देवता का अस्तित्व स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं होते। दूसरों के मत का आदर न करने के कारण एकेश्वरवादी धर्म के विषय में अत्यधिक दृढ़ तथा कट्टर होते हैं जिस के परिणामस्वरूप मानव-समाज में हठधर्मिता के फैलने की कहीं अधिक आशंका रहती है। बहुदेववाद के अधिक उत्कृष्ट होने का दूसरा कारण यह है कि एकेश्वरवाद की अपेक्षा बहुदेववाद कम तर्कहीन विचारधारा है। बहुदेववादी दार्शनिक युक्तियों द्वारा अपने मत की पुष्टि नहीं करता, इस के विपरीत एकेश्वरवादी मिथ्या तर्कों द्वारा अपने मत को युक्तिसंगत सिद्ध करने का प्रयास करता है। ह्यूम यह स्वीकार करते हैं कि बहुदेववाद कोई युक्तिसंगत मत नहीं है, क्योंकि इस में अनेक अंधविश्वास तथा परस्पर असंगत विचार सम्मिलित रहते हैं परंतु उन का विचार है कि बहुदेववाद के समर्थक अपने मत की पुष्टि के लिये मिथ्या दार्शनिक युक्तियां प्रस्तुत नहीं करते जैसाकि प्रायः एकेश्वरवादी करते हैं। इसी कारण एकेश्वरवाद की अपेक्षा बहुदेववाद में प्रवंचना की कम आशंका रहती है। संक्षेप में इन्हीं दो कारणों से ह्यूम ने बहुदेववाद को एकेश्वरवाद की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट तथा जनसाधारण के लिये अधिक उपयुक्त माना है।

४. ईश्वर का अस्तित्व और स्वरूप

जैसाकि प्रथम खंड में बताया गया है, ह्यूम की पुस्तक 'दि डाएलाग्स कन्सर्निंग नेचरल रिलीजियन' का मुख्य उद्देश्य ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करना है। परन्तु इस में ईश्वर के अस्तित्व तथा स्वरूप के विषय में ह्यूम का अंतिम निष्कर्ष क्या है इस प्रश्न के उत्तर में विभिन्न विचारकों ने दो परस्पर विरोधी मत प्रस्तुत किये हैं। डुगाल्ड स्टिवार्ट, ब्रूस मेवेन, प्रिंगल-पैटिसन, ए. ई. टेलर, सी. डबल्यू. हैंडेल, रूडोल्फ मेट्स, एंड्रे लेराय आदि विचारकों का मत है कि ह्यूम ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि मनुष्य अपनी सीमित बुद्धि द्वारा उस के गुणों तथा उस की शक्तियों का ठीक-ठीक ज्ञान कभी प्राप्त नहीं कर सकता। इस के विपरीत नारमन कैम्प-स्मिथ, हेन्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डेविड आइकन, बी. ए. ओ. विलियम्स आदि दार्शनिकों का विचार है कि संदेहवादी होने के कारण ह्यूम ईश्वर के अस्तित्व सम्बंधी सभी परम्परागत प्रमाणों का दृढ़तापूर्वक खंडन कर के उस के अस्तित्व की सम्भावना को नितान्त संदिग्ध ही मानते हैं। इस मतभेद का मुख्य कारण वह सम्वादात्मक शैली है जो ह्यूम ने 'डाएलाग्ज़' लिखते समय अपनायी है। हम पहले ही बता चुके हैं कि यह पुस्तक डेमिया, क्लीनथेस तथा फिलो नामक तीन पात्रों के बीच परिसम्वादों के रूप में लिखी गई है जिन का नियमन पैम्पिलस नामक एक तटस्थ विचारक करता है जो स्वयं वादविवाद में अधिक भाग नहीं लेता। डेमिया परम्परावादी पात्र है जो ईसाई धर्म द्वारा मान्य ईश्वर में पूर्ण आस्था रखता है और उसके अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये प्रस्तुत किये गये सभी परम्परागत प्रमाणों का पूर्णतः समर्थन करता है। क्लीनथेस पूर्णतया परम्परावादी न हो कर कुछ उदार विचारक है और वह मुख्यतः अनुभवाश्रित प्रयोजनमूलक प्रमाण द्वारा ही ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास करता है। इन दोनों के विपरीत फिलो संदेहवादी विचारक है और वह ईश्वर के अस्तित्व से सम्बन्धित सभी प्रमाणों—विशेषतः प्रयोजनमूलक प्रमाण—का अनेक युक्तियों द्वारा दृढ़तापूर्वक खंडन करने का प्रयत्न करता है। अब प्रश्न यह है कि इन तीनों पात्रों में से ह्यूम किस के मत का समर्थन करते हैं और इसी प्रश्न के उत्तर के सम्बन्ध में उन विचारकों में तीव्र मतभेद है जिन के नामों का ऊपर उल्लेख किया गया है। स्टिवार्ट, मेवेन, टेलर, हैंडेल आदि विचारकों का कथन है कि ह्यूम डेमिया अथवा क्लीनथेस के मत का समर्थन करते हैं, अतः वे ईश्वर के अस्तित्व में संदेह नहीं करते। इसके विपरीत केम्प-स्मिथ, आइकन आदि विचारक यह मानते हैं कि वास्तव में फिलो का संदेहवादी दृष्टिकोण ही ह्यूम की सम्पूर्ण दार्शनिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है। इन दोनों विरोधी मतों में से दूसरा मत ही उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत होता है, क्योंकि वह ह्यूम के सामान्य अनुभववादी तथा संदेहवादी दर्शन के अनुरूप है। कैम्प-स्मिथ ने अनेक तर्कों द्वारा यह प्रमाणित किया है कि 'डाएलाग्ज़' में फिलो का मत ह्यूम के दार्शनिक मत को अभिव्यक्त करता है। उन के इसी विचार का समर्थन करते हुए विलियम्स ने भी स्पष्ट कहा है कि "कैम्प-स्मिथ ने यह दिखाया है कि फिलो का संदेहवादी विचार ही ह्यूम के विचारों को अधिक से अधिक व्यक्त करते हैं। वस्तुतः ह्यूम के जीवन से ज्ञात होता है कि उन्होंने ईसाई धर्म के सिद्धांतों को अस्वीकार कर दिया था। पन्द्रह-सोलह वर्ष की आयु में ही वे इन विश्वासों से मुक्त हो गये थे और उन्होंने अपने एक पत्र में स्पष्ट कहा है कि उन्होंने फिर कभी इन विश्वासों को स्वीकार नहीं किया और न ही ईसाई धर्म के किसी भी रूप का कभी समर्थन किया।[४] इस प्रकार यद्यपि 'डाएलाग्ज़' में ह्यूम

४. बी. ए. ओ. विलअम्स, 'ह्यूम आन रिलिजियन'. डी. पियर्स द्वारा सम्पादित 'डेविड ह्यूम, ए सिम्पोज़िप्रम' में प्रकाशित, पृ० ८०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईश्वर के अस्तित्व तथा स्वरूप के विषय में व्यक्तिगत रूप से स्पष्टतः कुछ भी नहीं कहते फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि फिलो के मुख से उन्होंने इस सम्बन्ध में अपने संदेहवादी मत को बहुत विस्तारपूर्वक अभिव्यक्त किया है।

वस्तुतः फिलो के विचारों के माध्यम से ही ह्यूम ने 'डाएलाग्ज़' में अनेक प्रबल युक्तियों द्वारा ईश्वर के अस्तित्व से सम्बन्धित सभी परम्परागत प्रमाणों का दृढ़तापूर्वक खंडन किया है और इस तथ्य को भी प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि यदि ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया जाय तो भी मनुष्य अपनी सीमित बुद्धि द्वारा उसके स्वरूप, गुणों तथा उसकी शक्तियों का स्पष्ट एवं सुनिश्चित ज्ञान कभी प्राप्त नहीं कर सकता। ह्यूम के समय में ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए 'प्रयोजनमूलक युक्ति' को सर्वाधिक प्रबल तथा अपने आप में पर्याप्त प्रमाण माना जाता था; इसी कारण उन्होंने इस प्रमाण के औचित्य पर बहुत विस्तारपूर्वक विचार किया है। 'डाएलाग्ज़' में क्लीनथेस मुख्यतः इसी प्रमाण द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास करता है। वह कहता है कि विश्व में सभी प्राकृतिक वस्तुएँ साधन–साध्य के रूप में एक–दूसरे से समायोजित की गई हैं जिससे सरलतापूर्वक यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस विश्व की रचना का एक निश्चित प्रयोजन है। जिस प्रकार विवेकयुक्त मनुष्य किसी विशेष उद्देश्य को ध्यान में रख कर ही प्रत्येक वस्तु का निर्माण करता है उसी प्रकार हमारा यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि इस विश्व की रचना भी एक महान विचारशील प्राणी–अर्थात् ईश्वर ने एक निश्चित प्रयोजन की पूर्ति के लिये ही की है। विश्व में सर्वत्र प्रयोजनशीलता को देखते हुए साम्यानुमान–संबंधी तर्क के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि इसका कोई रचयिता अवश्य है और इस विश्व की विराट्ता को ध्यान में रखते हुए हम यह भी कह सकते हैं कि यह रचयिता कोई सीमित प्राणी न होकर सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है। इस अनुभवाश्रित युक्ति के आधार पर ही हम ईश्वर की सत्ता प्रमाणित कर सकते हैं और विवेक तथा शक्ति की दृष्टि से हम कुछ सीमा तक मनुष्य के साथ उसकी समानता भी प्रदर्शित कर सकते हैं।[५] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रयोजनमूलक प्रमाण प्रस्तुत करने वाले विचारक विश्व को एक उद्देश्य-पूर्ण परिणाम मानकर उसके कारण के रूप में साम्यानुमान के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं।

परन्तु ह्यूम इस परम्परागत प्रयोजनमूलक प्रमाण को बहुत ही दुर्बल तथा असंगत मानते हैं। उन्होंने फिलो के माध्यम से इस प्रमाण के विरुद्ध अनेक गम्भीर आपत्तियां उठायी हैं। इसके विरुद्ध उनकी प्रथम आपत्ति यह है कि इस में कार्य-कारण के उस मूल नियम का ही उल्लंघन किया गया है जिस पर यह आधारित है।

५. देखिये हेनरी डेविड दारा सम्पादित 'डाएलाग्ज़', भाग २, पृ० १७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस नियम के अनुसार किसी कार्य के कारण में केवल उन्हीं गुणों के होने का अनुमान किया जा सकता है जो उस कार्य में पाये जाते हैं; कारण में ऐसे गुणों को आरोपित करना जो कार्य में नहीं पाये जाते युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता। प्रयोजनमूलक प्रमाण केवल सीमित कार्य—अर्थात् विश्व—के आधार पर असीमित कारण—अर्थात् ईश्वर—का अनुमान लगा कर उपर्युक्त कार्य-कारण सम्बन्धी नियम को भंग करता है। यदि इस प्रमाण को उचित मान लिया जाय तो इसके आधार पर अधिक से अधिक एक सीमित कारण को ही प्रमाणित किया जा सकता है, असीमित और सर्वशक्तिमान ईश्वर को नहीं। इस प्रकार यह प्रमाण उस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा असीमित ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर पाता जिसमें धर्मपरायण व्यक्ति विश्वास करते हैं। इस युक्ति के विरुद्ध ह्यूम ने दूसरी आपत्ति यह उठाई है कि जिस साम्यानुमान पर यह आधारित है वह बहुत ही दुर्बल तथा दोषपूर्ण है। केवल उसी साम्यानुमान को विश्वसनीय तथा युक्तिसंगत माना जा सकता है जिसकी पुनरावृत्ति सम्भव हो और जिस के बहुत-से उदाहरण उपलब्ध हो सकें। उदाहरणार्थ हम एक भवन को देख कर यह अनुमान लगा सकते हैं कि उसे किसी शिल्पकार ने बनाया है, क्योंकि इससे पूर्व भी हमने बहुत से भवनों को शिल्पकारों द्वारा निर्मित होते देखा है और यदि हम चाहें तो भविष्य में भी उनके द्वारा अन्य भवनों को निर्मित होते देख सकते हैं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि किसी भवन की उपस्थिति उसके निर्माता शिल्पकार के अस्तित्व का निश्चित प्रमाण है। परन्तु विश्व और ईश्वर में जो साम्यानुमान प्रस्तुत किया गया है उसके सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। इस का कारण यह है कि हम प्रयास करने पर भी बार-बार ईश्वर द्वारा विश्व को निर्मित होते हुए नहीं देख सकते। यदि ईश्वर ने विश्व की रचना की भी है तो यह एक ऐसी अद्वितीय घटना है जिसकी पुनरावृत्ति असम्भव है। ईश्वर द्वारा विश्व का निर्माण हमारे अनुभव का विषय नहीं है, अतः भवन तथा शिल्पकार के सादृश्य के आधार पर ईश्वर की सत्ता को निश्चित रूप से कभी प्रमाणित नहीं किया का सकता। इस आपत्ति का निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए ह्यूम की ओर से फिलो कहता है कि "जब दो घटनाएं एक साथ सम्बद्ध देखी जा सकती हैं तो मैं एक घटना के अस्तित्व को देख कर दूसरी घटना के अस्तित्व का अभ्यास अथवा पूर्वानुभव द्वारा अनुमान लगा सकता हूं और इसे मैं अनुभवाश्रित युक्ति कहता हूं। परन्तु यह कहना अत्यन्त कठिन है कि प्रस्तुत युक्ति उन घटनाओं के सम्बन्ध में कैसे लागू हो सकती है जो अकेली तथा अद्वितीय है और जिन के सादृश्य का कोई अन्य उदाहरण ही नहीं है।"[६]

प्रयोजनमूलक प्रमाण के विरुद्ध ह्यूम की तीसरी मुख्य आपत्ति यह है कि वर्तमान विषय की रचना के आधार पर पूर्ण, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा दयालु ईश्वर

६. वही पुस्तक, भाग २, पृ. २३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सत्ता को निश्चित रूप से कभी प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इस का कारण यह है कि हम जिस विश्व को जानते हैं उस में अनेक अपूर्णताएं तथा दोष हैं। विश्व की सभी वस्तुएं नश्वर हैं और समस्त प्राणियों के शरीर भी प्रायः अनेक प्रकार की व्याधियों से ग्रस्त रहते हैं और अन्ततः कुछ समय के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि यदि ईश्वर वास्तव में पूर्ण, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ है तो उसने ऐसे अपूर्ण एवं दोषयुक्त विश्व की रचना क्यों की है। ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने वाले व्यक्ति इस प्रश्न का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाते। यदि उनके इस मत को स्वीकार कर लिया जाये कि ईश्वर ने ही इस विश्व की रचना की है तो यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि वह भी अपूर्ण तथा सीमित ही है। परन्तु कोई भी ईश्वर-भक्त उसे मनुष्य की भाँति अपूर्ण तथा सीमित मानने के लिए उद्यत नहीं होगा। इसके अतिरिक्त प्रयोजनमूलक प्रमाण के आधार पर 'एक' ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। विश्व के एक रचयिता के विरुद्ध ह्यूम के इस मत को फिलो ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :—"आप अपनी परिकल्पना के आधार पर एक ईश्वर को प्रमाणित करने के लिए कौन-सा तर्क दे सकते हैं? एक भवन अथवा जहाज को बहुत से व्यक्ति मिल कर ही बनाते हैं,.....यह क्यों न मान लिया जाय कि इस विश्व की रचना भी बहुत से देवताओं ने मिल कर ही की है। इस मत का मानव-प्रयास के साथ कहीं अधिक साम्य अथवा सादृश्य है।"[७] इस प्रकार ह्यूम के मतानुसार प्रयोजनमूलक प्रमाण द्वारा अनिवार्यतः केवल एक ईश्वर की सत्ता प्रमाणित नहीं होती। अंत में प्रयोजन-मूलक युक्ति के विरुद्ध ह्यूम ने यह आपत्ति भी उठायी है कि इस युक्ति को स्वीकार कर लेने पर भी हमारे लिए तार्किक दृष्टि से यह मान लेना अनिवार्य नहीं है कि विश्व की रचना एक बुद्धिमान तथा विचारशील प्राणी—अर्थात् ईश्वर—ने की है। इसका कारण यह है कि विश्व में अनेक ऐसे प्राणी तथा ऐसी वस्तुएं हैं जिन की उत्पत्ति का विवेक या बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरणार्थ पौधे पौधों से तथा पशु-पशुओं से उत्पन्न होते हैं और भौतिक वस्तुओं की उत्पत्ति का भी कोई बुद्धियुक्त स्रोत दृष्टिगोचर नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह कहना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता कि विश्व की रचना का एक ही कारण है और वह है बुद्धिमान तथा विवेकशील ईश्वर। इस प्रकार प्रयोजनमूलक प्रमाण के विरुद्ध उपर्युक्त सभी आपत्तियों द्वारा ह्यूम ने यह सिद्ध किया है कि इसके आधार पर एक, पूर्ण, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् ईश्वर के अस्तित्व को कभी प्रमाणित नहीं किया जा सकता।

प्रयोजनमूलक प्रमाण के समान ही ह्यूम ने परम्परागत कारणमूलक प्रमाण का भी दृढ़तापूर्वक खंडन किया है। यह कारणमूलक प्रमाण इस मूल सिद्धांत पर

७. वही पुस्तक, भाग ५, पृ० ३९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधारित है कि प्रत्येक घटना अथवा वस्तु की उत्पत्ति का कोई कारण अवश्य होता है, क्योंकि अकारण कुछ भी घटित नहीं हो सकता। यदि हम एक वस्तु को दूसरी का और दूसरी को तीसरी वस्तु का कारण मान कर निरंतर कारणों की खोज करें तो हमारे समक्ष कारणों की अनन्त शृंखला उपस्थित हो जाती है जिससे हम कभी मुक्त नहीं हो सकते : ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए जो दार्शनिक यह कारणमूलक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं उनका कथन है कि कारणों की इस अनन्त शृंखला से बचने का एक ही उपाय है और वह यह है कि हम ईश्वर को ऐसे 'आदि कारण' के रूप में स्वीकार करें जो विश्व की सभी वस्तुओं तथा घटनाओं का मूल कारण है। स्पष्ट है कि इन दार्शनिकों के मतानुसार इस 'आदिकारण'—अर्थात् ईश्वर का कोई कारण नहीं हो सकता। कारणमूलक प्रमाण के इसी आत्मविरोध तथा उसकी इसी गम्भीर असंगति के आधार पर ह्यूम ने इसका खण्डन किया है। इस प्रमाण में निहित आत्मविरोध के सम्बन्ध में ह्यूम के मत को अभिव्यक्त करते हुए फिलो कहता है कि "जिस कारण को आपने संतोषप्रद तथा अन्तिय माना है हमें और आगे बढ़ कर उसके कारण की खोज करने के लिए भी बाध्य होना पड़ेगा।.....हम उस ईश्वर के कारण के सम्बन्ध में अपने आप को कैसे सन्तुष्ट कर सकते हैं जिसे आप प्रकृति और विश्व का रचयिता मानते हैं ?.....यदि हम ईश्वर को ही आदि कारण मान कर यहीं रुक जाते हैं और इस से आगे नहीं बढ़ते तो हमें इतना आगे बढ़ने की भी क्या आवश्यकता है ? हम भौतिक विश्व पर ही क्यों न रूक जांय—अर्थात् उसे ही आदि-कारण क्यों न मान लें ? हम कारणों की इस अनन्त शृंखला को स्वीकार किये बिना अपने आप को कैसे संतुष्ट कर सकते हैं ?"[८] वस्तुतः कारणमूलक प्रमाण के विरुद्ध ह्यूम की उपर्युक्त आपत्ति उचित एवं युक्तिसंगत ही प्रतीत होती है और मुख्यतः इसी आपत्ति के आधार पर उन्होंने इस प्रमाण का खण्डन किया है।

ईश्वर की सत्ता से सम्बन्धित उपर्युक्त दो मुख्य प्रमाणों का खण्डन करके ह्यूम ने यह सिद्ध किया है कि मनुष्य के लिए पूर्णतया अनुभवातीत विषय होने के कारण ईश्वर के अस्तित्व को किसी तर्क अथवा युक्ति द्वारा कभी प्रमाणित नहीं किया जा सकता। और यदि ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर भी लिया जाय तो ह्यूम के मतानुसार मनुष्य उसके स्वरूप के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकता। ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने वाले व्यक्ति अनेक गुणों तथा शक्तियों को ईश्वर में आरोपित कर के उसके स्वरूप का वर्णन करते हैं। वे उसे सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक तथा दयालु मानते हैं और यह कहते हैं कि हमारी पूजा अथवा आराधना से प्रसन्न हो कर वह हमारी सहायता करता है। ईश्वर के स्वरूप के विषय में धर्म-परायण व्यक्तियों के इस मत को अस्वीकार करते हुए ह्यूम ने कहा है कि हम अपने

८. वही पुस्तक, भाग ४, पृ० ३३–३४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीमित अनुभव द्वारा उसके गुणों तथा उसकी शक्तियों के सम्बन्ध में कुछ नहीं जान सकते। हम मनुष्य के कुछ गुणों तथा उसकी कुछ शक्तियों को ईश्वर में आरोपित करके उसके स्वरूप का वर्णन करने का निष्फल प्रयास करते हैं। वस्तुतः ईश्वर के अस्तित्व की भांति उस के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना भी हमारे लिए कदापि सम्भव नहीं है। ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में ह्यूम के इसी अज्ञेयवादी मत को अभिव्यक्त करते हुए फिलो कहता है कि "जब हम मानवीय विषयों तथा भौतिक वस्तुओं के गुणों से परे अपने चिंतन को ब्रह्मांड के उद्गम तथा निर्माण, आत्माओं के अस्तित्व एवं गुणों, अनादि, अनन्त सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, शाश्वत तथा असीमित ईश्वर की शक्तियों और उसके गुणों की ओर ले जाते हैं तो हम ज्ञान-प्राप्ति की अपनी सीमाओं से बाहर जाने का प्रयास करते हैं।....हम नहीं जानते कि इस विषय में हमें तर्कसम्बन्धी अपनी सामान्य विधियों में कहां तक विश्वास करना चाहिये।..... हमारे विचार हमारे अनुभव से आगे नहीं जा सकते। हमें ईश्वर के गुणों तथा उस की कार्यप्रणाली का कोई अनुभव नहीं है। मुझे अपने इस तर्क का निष्कर्ष प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है, आप स्वयं ही इस का अनुमान लगा सकते हैं।"[९] इस प्रकार ह्यूम के मतानुसार मानव के अनुभव तथा ज्ञान की परिधि से बाहर होने के कारण ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में धर्मपरायण व्यक्तियों का यह मत उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है कि उस में अमुक गुण और शक्तियां हैं।

अपने 'डाएलाग्ज़' के दसवें भाग में ह्यूम ने विश्व में अशुभ तथा दुःख की समस्या के आधार पर भी ईश्वर के उस स्वरूप को स्वीकार करने की तार्किक कठिनाई का विस्तृत उल्लेख किया है जिस का वर्णन प्रायः धर्मपरायण व्यक्ति करते हैं। यदि ईश्वर-भक्तों के इस दावे को स्वीकार कर लिया जाय कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा दयालु है तो प्रश्न यह है कि इस संसार में इतनी बुराई और इतना दुःख क्यों है? यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि सभी प्राणी एक-दूसरे को दुःखी तथा भयत्रस्त करते रहते हैं और मानव-समाज में घृणा, प्रतिशोध, अन्याय, अत्याचार, शोषण, निर्दयता आदि दुर्गुण विद्यमान है। इसके अतिरिक्त सभी प्राणी भूकम्प, बाढ़, सूखा, तूफान आदि प्राकृतिक विपदाओं से भी प्रायः दुःखी और भयभीत रहते हैं। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि यदि इस विश्व का रचयिता ईश्वर वास्तव में सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ तथा दयालु है तो वह इन सब बुराइयों तथा दुःखों का निराकरण क्यों नहीं करता? ह्यूम ने अनेक प्रबल तर्कों द्वारा यह सिद्ध किया है कि ईश्वर के परम्परागत धार्मिक स्वरूप को स्वीकार करने वाले व्यक्तियों के लिए इस प्रश्न का युक्तिसंगत तथा संतोषप्रद उत्तर देना असम्भव है। इसका कारण यह है कि यदि इस विश्व के रचयिता ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, दयालु तथा

९. वही पुस्तक, भाग १०, पृ. ९—१०, भाग २, पृ. १६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यायशील मान लिया जाय—जैसाकि ईश्वर-भक्त मानते हैं—तो संसार में सर्वत्र विद्यमान अशुभ और दुःख की गम्भीर समस्या का संतोषजनक एवं युक्तिसंगत समाधान प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इस समस्या के सम्बन्ध में ह्यूम के उपर्युक्त मत को अभिव्यक्त करते हुए फिलो कहता है :—"हम यह मानते हैं कि ईश्वर की शक्ति असीमित है, वह जो कुछ चाहता है वही होता है, परन्तु कोई भी मनुष्य अथवा अन्य प्राणी सुखी नहीं है, इसका अर्थ यह है कि वह प्राणियों को सुखी नहीं देखना चाहता। उसका ज्ञान असीमित है, वह किसी साध्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक साधनों के चुनाव में कभी भूल नहीं करता, परन्तु प्रकृति का विधान मनुष्य तथा अन्य किसी भी प्राणी के लिए सुखद एवं हितकर नहीं है, इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति के विधान का निर्माण इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं किया गया। सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान के इतिहास में उपर्युक्त अनुमानों की अपेक्षा अधिक निश्चित एवं सत्य अनुमान उपलब्ध नहीं है। फिर किस दृष्टि से ईश्वर की परोपकारशीलता और दया मनुष्य की परोपकारशीलता तथा दया के समान मानी जा सकती है ?.....क्या ईश्वर बुराई का निराकरण करना चाहता है किन्तु कर नहीं पाता ? यदि ऐसा है तो वह शक्तिहीन है। क्या वह बुराई को समाप्त कर सकता है किन्तु करना नहीं चाहता ? यदि ऐसी बात है तो वह परोपकारी और दयालु नहीं है। क्या वह बुराई का निराकरण कर सकता है और करना भी चाहता है ? यदि ऐसा है तो फिर संसार में बुराई क्यों है ?"[१०] जहां तक मुझे ज्ञात है, फिलो के माध्यम से पूछे गये ह्यूम के इस महत्वपूर्ण प्रश्न का ईश्वरवादियों के पास कोई युक्तिसंगत तथा संतोषजनक उत्तर नहीं है। वस्तुतः अशुभ की इस ससस्या का तर्कसंगत समाधान करने के लिए यह अनिवार्य प्रतीत होता है कि या तो ईश्वर के तीन गुणों—सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता एवं परोपकारशीलता--में से उस में किसी एक गुण को आरोपित न किया जाय या फिर बुराई तथा दुःख को भ्रम मात्र मान कर उसके अस्तित्व को ही अस्वीकार कर दिया जाय, जैसाकि लाइबनिज़, बर्कले तथा कुछ अन्य दार्शनिकों ने किया है। प्रथम विकल्प को ईश्वरवादी स्वीकार नहीं कर सकते और दूसरा विकल्प हमारे सामान्य अनुभव के नितांत विपरीत होने के कारण अयथार्थ तथा अमान्य है। इस प्रकार ह्यूम ने यह प्रमाणित किया है कि ईश्वर के परम्परागत धार्मिक स्वरूप को स्वीकार कर लेने पर अशुभ की समस्या का संतोषप्रद समाधान असम्भव हो जाता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि ह्यूम के मतानुसार हम अपने सीमित अनुभव एवं ज्ञान के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व तथा उसके गुणों और उसकी शक्तियों के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकते। वस्तुतः

१०. वही पुस्तक, भाग १०, पृ. ६६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह निष्कर्ष ह्यूम के संदेहवाद तथा अज्ञेयवाद की पुष्टि करता है जो उनके सम्पूर्ण अनुभववादी दर्शन के अनुरूप ही है। वे स्पष्टतः और निश्चयपूर्वक यह नहीं कहते कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है, अतः उन्हें संकुचित अर्थ में नास्तिक मानना कुछ कठिन ही प्रतीत होता है। परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वे किसी भी अर्थ में ईश्वरवाद तथा उस पर आधारित धर्म का समर्थन नहीं करते। इसके विपरीत धर्म तथा ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप के विषय में उन्होंने जो कुछ कहा है उससे पूर्णतया स्पष्ट है कि वे ईश्वर की परम्परागत अवधारणा तथा उस पर आधारित धर्म में विश्वास नहीं करते। कुछ विचारकों ने फिलो के एक कथन को उद्धरित कर के यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ह्यूम वास्तव में ईश्वर के अस्तित्व को तो स्वीकार करते हैं किन्तु वे केवल इतना ही कहते हैं कि हम अपने सीमित अनुभव एवं ज्ञान के आधार पर उसके स्वरूप के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकते। ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप के विषय में फिलो का यह कथन निम्नलिखित है:—"निश्चय ही जब विचारशील व्यक्ति तर्कसंगत रूप से इस विषय पर विचार करते हैं तो उनके समक्ष प्रश्न ईश्वर के अस्तित्व का नहीं अपितु उसके स्वरूप का ही होता है। ईश्वर के अस्तित्व के विषय में प्रश्न नहीं उठाया जा सकता, क्योंकि वह स्वतःसिद्ध है। कारण के बिना किसी वस्तु का अस्तित्व सम्भव नहीं है, अतः इस ब्रह्मांड के मूल कारण को, चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो, हम 'ईश्वर' कहते हैं और बड़े सम्मान के साथ उसमें सभी प्रकार की पूर्णता को आरोपित करते हैं।"[११] फिलो का उपर्युक्त कथन ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप से सम्बंधित ह्यूम के मत को युक्तिसंगत रूप से स्पष्ट करने में निश्चय ही बहुत बड़ी कठिनाई उत्पन्न करता है। इस का कारण यह है कि परम्परागत धार्मिक विचारधारा के कट्टर समर्थक डेमिया ने भी ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप के विषय में ठीक यही मत व्यक्त किया है। अब प्रश्न यह है कि क्या इस सम्बन्ध में फिलो का मत वास्तव में डेमिया के मत के समान ही है? यदि इस प्रश्न का उत्तर 'हां' में दिया जाय तो ईश्वर की सत्ता से सम्बन्धित प्रयोजनमूलक युक्ति और कारणमूलक प्रमाण के विषय में फिलो ने जो कुछ कहा है वह सब असत्य तथा असंगत हो जाता है। यह कहना अत्यंत कठिन है कि ह्यूम फिलो के उपर्युक्त कथन के इस परिणाम को स्वीकार करने के लिये उद्यत होंगे। सम्भवतः इसी कारण ए. एच. बेसन ने कहा है कि डेमिया के मत का समर्थन करने वाले फिलो के इस कथन का तार्किक दृष्टि से अधिक महत्व नहीं है।[१२] हम देख चुके हैं कि ईश्वर को विश्व का आदि कारण न मानते हुए उस का भी कारण जानने का आग्रह करके स्वयं फिलो ने कारणमूलक प्रमाण का युक्तिसंगत खंडन किया

११. वही पुस्तक, भाग २, पृ. १६.

१२. देखिये ए. एच. बेसन, 'डेविड ह्यूम' पृ. १०५—१०६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। ऐसी स्थिति में ईश्वर के अस्तित्व के विषय में फिलो का उपर्युक्त कथन निश्चय ही आत्मविरोधी माना जायगा, क्योंकि यदि उस का यह कथन सत्य है तो उसे परम्परागत कारणमूलक प्रमाण को पूर्णतया स्वीकार करना होगा जिस के लिये वह उद्यत प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार फिलो का उपर्युक्त कथन उस के सम्पूर्ण संदेहवादी दृष्टिकोण के ठीक विपरीत होने के कारण उस के विचारों में गम्भीर असंगति एवं आत्मविरोध उत्पन्न करता है। वस्तुतः इस प्रश्न का कोई युक्तिसंगत एवं संतोषजनक उत्तर देना अत्यंत कठिन है कि आखिर ह्यूम ने ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप के विषय में फिलो के मुख से उपर्युक्त मत क्यों अभिव्यक्त किया है। आरम्भ से अन्त तक फिलो के सम्पूर्ण संदेहवादी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए सम्भवतः यही कहा जा सकता है कि पूर्णतः असंगत एवं आत्मविरोधी होने के कारण ईश्वर के अस्तित्व और स्वरूप के सम्बंध में उस का यह कथन उस के वास्तविक मत को अभिव्यक्त नहीं करता। ऐसी स्थिति में फिलो के इस एक कथन के आधार पर ही यह निष्कर्ष निकालना उचित और तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता कि ह्यूम ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते थे। वस्तुतः इस सम्बंध में हेनरी डेविड आइकन ने ठीक ही कहा है कि "ह्यूम के सम्पूर्ण विश्लेषण से यही ज्ञात होता है कि ईश्वर का स्वरूप एक ऐसी पहेली है जिस का समाधान असम्भव है। इस के अतिरिक्त ह्यूम ने ईश्वर के—चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो—अस्तित्व से सम्बन्धित किसी भी प्रमाण को असंदिग्ध रूप से स्वीकार नहीं किया।....यदि ईश्वर के स्वरूप को निर्धारित करना असम्भव है और उस के अस्तित्व से सम्बंधित कोई भी प्रमाण सत्य एवं युक्तिसंगत नहीं है तो यह कहना पूर्णतया निरर्थक है कि उस का अस्तित्व है।"[१३] इस दृष्टि से विचार करने पर ह्यूम का मत निरीश्वरवाद के अधिक निकट प्रतीत होता है।

५. चमत्कारों और आत्मा की अमरता का खण्डन

ईश्वर के अस्तित्व में संदेह करने के साथ-साथ ह्यूम ने चमत्कारों की सम्भावना का भी दृढ़तापूर्वक खण्डन किया है। लगभग सभी लोकप्रिय धर्मों में इन चमत्कारों को धर्म का अनिवार्य अंग माना जाता है, क्योंकि इन्हीं के आधार पर धर्मगुरुओं तथा ईश्वर में जनसाधारण की आस्था उत्पन्न की जाती है और उसे निरंतर बनाये रखा जाता है। परन्तु चमत्कारों में आस्था रखने को 'अंध-विश्वास' की संज्ञा देकर ह्यूम ने इनकी सम्भावना का पूर्णतया निषेध किया है। चमत्कारों के विरुद्ध उनके मुख्य तर्कों का उल्लेख करने से पूर्व यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उन्होंने 'चमत्कार' की क्या परिभाषा दी है। प्रत्येक चमत्कार को प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध बताते हुए वे कहते हैं कि "किसी दैवी शक्ति अथवा अदृश्य व्यक्ति की विशेष

१३. हेनरी डेविड आइकन, 'डाएलाग्ज कन्सर्निंग नेचुरल रिलीजियन', 'इंट्रोडक्शन', पृ. १४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इच्छा या हस्तक्षेप के कारण प्रकृति के नियम का उल्लंघन कर के घटित होने वाली घटना ही चमत्कार है।"[१४] इस प्रकार ह्यूम केवल ऐसी घटना को ही 'चमत्कार' की संज्ञा देते हैं जो हमारे सम्पूर्ण अनुभव के विपरीत और समस्त प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है। उदाहरणार्थ काफी समय के पश्चात् मृत व्यक्ति का जीवित हो जाना, तथाकथित दैवी शक्तिसम्पन्न किसी धर्मगुरु के स्पर्श मात्र से किसी रोगी के असाध्य रोग का तुरन्त समाप्त हो जाना, किसी धर्मगुरु की कृपा के फलस्वरूप उपचार के बिना ही दृष्टिहीन अथवा बधिर को तुरन्त दृष्टि या श्रवणशक्ति प्राप्त हो जाना आदि घटनाओं को हमारे सामान्य अनुभव तथा प्राकृतिक नियमों के नितान्त विरुद्ध होने के कारण ह्यूम के मतानुसार चमत्कारों के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि किसी को 'चमत्कार' तभी कहा जा सकता है जब वह हमारे अनुभव तथा प्राकृतिक नियमों के नितान्त विपरीत हो और उसके घटित होने का एकमात्र कारण किसी दैवी शक्ति की इच्छा अथवा हस्तक्षेप हो। लगभग सभी धर्मगुरु तथा उन के अनुयायी इस प्रकार के चमत्कारों की सत्यता में विश्वास करते रहे हैं और उन्होंने इन के आधार पर स्वयं अपने धार्मिक सिद्धांतों एवं ईश्वरीय शक्ति में सामान्य व्यक्तियों की अंध श्रद्धा बनाये रखने का सदैव निरंतर प्रयास किया है। परन्तु अनुभव को सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान का एकमात्र आधार मानने के कारण ह्यूम ऐसे चमत्कारों की सम्भावना को भी स्वीकार नहीं करते।

चमत्कारों के विरुद्ध ह्यूम ने अनेक प्रबल तथा विश्वसनीय तर्क प्रस्तुत किये हैं। उनका प्रथम तर्क यह है कि चमत्कार उन प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध हैं जिन पर सम्पूर्ण मानवीय अनुभव तथा वैज्ञानिक सिद्धांत आधारित हैं। ह्यूम यह स्वीकार करते हैं कि प्राकृतिक नियमों के समुचित ज्ञान के आधार पर मनुष्य अनेक आश्चर्य-जनक एवं अद्भुत कार्य कर सकता है, किन्तु ये सभी कार्य इन नियमों के अनुरूप ही होंगे, अतः उन्हें 'चमत्कार' नहीं कहा जा सकता। केवल ऐसी घटना को ही 'चमत्कार' माना जा सकता है जिस की प्राकृतिक नियमों के आधार पर व्याख्या करना नितान्त असम्भव हो। ह्यूम का निश्चित मत है कि हमारा अनुभव ऐसी किसी घटना को न तो प्रमाणित करता है और न कर सकता है। इसके विपरीत हमारा अनुभव वास्तव में ऐसी चमत्कारपूर्ण घटनाओं का खण्डन ही करता है। चमत्कारों के विरुद्ध अपने इसी तर्क को प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है कि "चमत्कार' प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन है और हमारे दृढ़ तथा अपरिवर्तनीय अनुभव द्वारा इन नियमों की पुष्टि होती है, अतः चमत्कार के विरुद्ध अनुभव पर आधारित यह प्रमाण उतना ही सशक्त है जितना कोई अनुभवाधारित तर्क हो सकता है।....

१४. 'इन्क्वायरी कन्सर्निंग ह्यूमन अंडरस्टेंडिंग', खंड १०, ए. ए. बर्ट द्वारा सम्पादित 'इंग्लिश फिलॉसॉफीज़' में संकलित, पृ. ६५७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक चमत्कारपूर्ण घटना हमारे सम्पूर्ण अनुभव के विरुद्ध होनी चाहिए, अन्यथा उसे 'चमत्कार नहीं माना जा सकता। हमारा सार्वभौमिक अनुभव ही किसी घटना को प्रमाणित कर सकता है, अतः इस अनुभव के विपरीत होना ही प्रत्येक चमत्कार के विरुद्ध प्रत्यक्ष तथा विश्वसनीय प्रमाण है।"[१५] चमत्कारों के विरुद्ध ह्यूम का दूसरा तर्क यह है कि ये मानव की तर्कबुद्धि पर आधारित न हो कर अंध श्रद्धा पर ही आधारित होते हैं। चमत्कारों में विश्वास करने वाले व्यक्ति स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि तर्कबुद्धि द्वारा इनकी सत्यता की परीक्षा कहीं की जा सकती। इसका अर्थ यही है कि चमत्कारों की सत्यता में विश्वास करने के लिए किसी धर्मगुरु अथवा दैवी शक्ति में अंध श्रद्धा का होना आवश्यक है। यही कारण है कि प्रायः अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित व्यक्ति चमत्कारों की सम्भावना और सत्यता में अधिक सरलतापूर्वक विश्वास कर लेते हैं। ह्यूम ने स्पष्ट कहा है कि जिन जातियों तथा देशों में प्राकृतिक नियमों से अनभिज्ञ व्यक्तियों की संख्या जितनी अधिक होती है उनमें चमत्कारों के प्रति उतनी ही प्रबल आस्था पायी जाती है। चमत्कारों से सम्बन्धित झूठी कहानियाँ ऐसे व्यक्तियों में धर्मगुरुओं तथा दैवी शक्तियों के प्रति आश्चर्य और सम्मानमिश्रित भय उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार एकमात्र अंध श्रद्धा पर आधारित होने के कारण चमत्कारों की सम्भावना को स्वीकार नहीं किया जा सकता। चमत्कारों के विरुद्ध ह्यूम ने तीसरा तर्क यह भी दिया है कि इनकी सत्यता को कोई भी व्यक्ति निश्चित रूप से कभी प्रमाणित नहीं कर सका। सभी धर्मों के इतिहास में चमत्कारों की अनेक कहानियां प्रचलित हैं, किन्तु हमारे लिए यह जानना असम्भव है कि इनमें कितनी सच्चाई अथवा वास्तविकता है। ये कहानियां धार्मिक भावनाओं पर ही आधारित होती हैं, अतः अधिकतर व्यक्ति तर्कबुद्धि द्वारा इनकी सत्यता की परीक्षा किये बिना ही इनमें तुरन्त सरलतापूर्वक विश्वास कर लेते हैं, इसी कारण चमत्कारों के प्रति उनकी आस्था बढ़ती जाती है। संक्षेप में, इन्हीं सब तर्कों के आधार पर ह्यूम ने चमत्कारों की सम्भावना को पूर्णतया अस्वीकार किया है। इस विषय पर अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि "हम इस तथ्य को सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर सकते हैं कि किसी भी मानवीय प्रमाण में इतनी क्षमता नहीं है कि वह चमत्कार को प्रमाणित कर सके और उसे धार्मिक व्यवस्था का समुचित आधार बना सके।.....सब मिला कर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ईसाई धर्म केवल प्राचीन काल में ही चमत्कारों से सम्बद्ध नहीं था अपितु आज भी चमत्कारों के बिना इसमें कोई व्यक्ति विश्वास नहीं कर सकता। केवल तर्कबुद्धि इसकी सत्यता में हमारा विश्वास उत्पन्न करने के लिए अपर्याप्त है और जो व्यक्ति केवल आस्था

२५. वही पुस्तक, पृ. ६५६—६५७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के आधार पर इस को स्वीकार करता है उसके व्यक्तिगत जीवन में चमत्कार को मानने की निरन्तर इच्छा बनी रहती है जो उसकी तर्कशक्ति को नष्ट करके अपने अनुभव के नितान्त विपरीत बातों को भी मानने के लिए उसे बाध्य कर देती है।"[१६] इस प्रकार स्पष्ट है कि ह्यूम चमत्कारों को असम्भव ही नहीं प्रत्युत मनुष्य के सामान्य जीवन के लिए बहुत हानिकारक भी मानते हैं।

चमत्कारों के अतिरिक्त ह्यूम ने आत्मा की अमरता से सम्बन्धित विश्वास तथा पुनर्जन्म के विचार का भी खंडन किया है। हम द्वितीय खंड में ही यह बता चुके हैं कि उन्होंने अपनी मृत्यु से कुछ समय पूर्व जेम्स बासवेल से स्पष्ट कहा था कि वे आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करते। वास्तव में पूर्णतः अनुभववादी दार्शनिक होने के कारण ह्यूम के लिये आत्मा की अमरता को स्वीकार करना तार्किक दृष्टि से असम्भव था। उन की ज्ञानमीमांसा का मूल सिद्धांत ही यह है कि हम केवल उन्हीं वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जिन के संस्कार ग्रहण करना हमारे लिये सम्भव हो। इसका अर्थ यह है कि हम जिस वस्तु का संस्कार ग्रहण नहीं कर सकते उसके अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त करना भी हमारे लिये सम्भव नहीं है। इसी आधार पर ह्यूम ने आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार किया है। आत्मा की सत्ता में विश्वास करने वाले दार्शनिक यह मानते हैं कि वह अभौतिक और पूर्णतया अनुभवातीत है। स्पष्ट है कि यह आत्मा हमारे ज्ञान का विषय नहीं हो सकती, अतः हमारे पास इस के अस्तित्व में विश्वास करने का कोई तार्किक आधार नहीं है। इस सम्बन्ध में ह्यूम का वह वक्तव्य सर्वविदित ही है जिसमें उन्होंने स्पष्ट कहा है कि शीत, उष्ण, प्रेम, घृणा, सुख, दुःख आदि प्रत्यक्षों तथा भावनाओं से अलग द्रव्य के रूप में आत्मा की कोई सत्ता नहीं है—अर्थात् विभिन्न संकारों तथा भावनाओं के समूह का नाम ही आत्मा है। इस प्रकार बौद्ध दार्शनिकों की भांति ह्यूम भी स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करते हैं।

आत्मा के विषय में ह्यूम के उपर्युक्त मत का अनिवार्य निष्कर्ष यही हो सकता है कि आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म का विचार अंधविश्वास मात्र है। जब आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है तो उस के अमर रहने तथा दूसरा जन्म ग्रहण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी आधार पर आत्मा की अमरता के विचार को अस्वीकार करते हुए ह्यूम ने कहा है कि "केवल तर्कबुद्धि द्वारा आत्मा की अमरता को प्रमाणित करना कठिन प्रतीत होता है। .... इसे सिद्ध करने के लिये तत्त्वमीमांसा अथवा नैतिकता से सम्बन्धित युक्तियां दी जाती हैं। .... परन्तु तत्त्वमीमांसा हमें बताती है कि द्रव्य का विचार नितान्त अस्पष्ट तथा अपूर्ण है और हमारे मनस् में

२६. वही पुस्तक, पृ. ६६५, ६६७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेष गुणों के समूह के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य का प्रत्यय नहीं है।"[२७] इस प्रकार ह्यूम अपने अनुभववादी दर्शन द्वारा आत्मा की अमरता और उस पर आधारित पुनर्जन्म के विचार का खंडन करते हैं। वास्तव में इस से भी धर्म के प्रति उन की अनास्था ही व्यक्त होती है।

६. मूल्यांकन

हम पिछले खंडों में देख चुके हैं कि धर्म के सम्बंध में ह्यूम का दृष्टिकोण पूर्णतः निषेधात्मक है, क्योंकि वे ईश्वर की सत्ता, चमत्कारों की सम्भावना, आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म की अवधारणा आदि धर्म के सभी प्रमुख पक्षों का खंडन करते हैं। यहां यह उल्लेखनीय है कि उन का उद्देश्य किसी धर्म विशेष को अस्वीकार करना नहीं अपितु प्राचीन काल से मानव-समाज में प्रचलित धर्म की परम्परागत अवधारणा का ही निषेध करना है। वे धर्म की इस अवधारणा को मानव-जीवन के लिये अनावश्यक तथा अनुपादेय ही नहीं प्रत्युत बहुत हानिकारक और घातक भी मानते हैं। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि धर्म के प्रति ह्यूम का उपर्युक्त निषेधात्मक दृष्टिकोण कहां तक उचित एवं युक्तिसंगत है। कुछ आलोचकों ने उन पर यह आरोप लगाया है कि धर्म के प्रति उनका यह दृष्टिकोण नितान्त एकांगी है, क्योंकि वे मनुष्य में धर्म द्वारा उत्पन्न सद्गुणों की अवहेलना करके उसकी कमियों, बुराइयों तथा उसके दोषों को ही हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं। वे हमें यह तो बताते हैं कि धर्म ने मानव-समाज में अन्याय, अत्याचार, शोषण, घृणा तथा प्रतिशोध की भावना को जन्म दिया है, किन्तु वे इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते कि धर्म ने मनुष्यों में एक-दूसरे के प्रति प्रेम, करुणा तथा पारस्परिक सहायता की भावना भी उत्पन्न की है। इस आरोप के उत्तर में ह्यूम सम्भवतः यह कह सकते हैं कि प्रेम, सहानुभूति, परोपकारशीलता आदि भावनाएं मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियां हैं, अतः यदि मनुष्य इन के अनुकूल आचरण करता है तो इसके लिये धर्म को श्रेय देना उचित नहीं है। वे यह मानते हैं कि मनुष्य के सम्पूर्ण शुभाचरण का श्रेय उस के नेसर्गिक सद्गुणों पर आधारित नैतिकता को ही दिया जा सकता है जो धर्म से पूर्णतः भिन्न और स्वतंत्र है। ह्यूम का निश्चत मत है कि प्रचलित रूप में धर्म मनुष्य जी स्वाभाविक दुष्प्रवृत्तियों को उत्तेजित कर के मानव-समाज को बहुत बड़ी हानि पहुंचाता है। अपने इस मत के समर्थन में वे प्राचीन काल से चले आ रहे धर्म-युद्धों के रक्तरंजित दीर्घ इतिहास को प्रस्तुत कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में कुछ आलोचकों ने उन पर धर्म के प्रति एकांगी दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का जो आरोप लगाया है उस का औचित्य संदिग्ध ही प्रतीत होता है।

२७. डेविड ह्यूम, एसेज़—मारल एण्ड पोलिटिकल', वोल्यूम २, पृ. ३९९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः यदि वर्तमान युग की तर्कप्रधान वैज्ञानिक विचारधारा के अनुसार धर्म के प्रति ह्यूम के दृष्टिकोण पर विचार किया जाय तो उसे उचित एवं युक्तिसंगत माना जा सकता है। इस भौतिकवादी वैज्ञानिक विचारधारा के आधार पर परम्परागत धार्मिक विश्वासों का तर्कसंगत समर्थन करना बहुत कठिन है। वर्तमान काल में ऐसे विचारक बहुत कम हैं जो यह मानते हैं कि केवल तर्कबुद्धि द्वारा ईश्वर की सत्ता, चमत्कारों की वास्तविकता, आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म की आकांक्षा से सम्बंधित धार्मिक विश्वासों को प्रमाणित किया जा सकता है। इन धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में अधिक से अधिक यही कहा सकता है कि इन का आधार तर्क अथवा युक्ति न हो कर आस्था या श्रद्धा ही है। आधुनिक युग में ही नहीं अपितु प्राचीन युग में भी अधिकतर विचारक इस तथ्य को स्वीकार रहे हैं कि धर्म तर्कबुद्धि का विषय न होने के कारण धार्मिक विश्वासों को सत्य या असत्य प्रमाणित करना सम्भव नहीं है, इन्हें केवल आस्था अथवा श्रद्धा के आधार पर ही स्वीकार किया जा सकता है। इस दृष्टि से ह्यूम का यह मत उचित ही है कि ईश्वर के अस्तित्व, चमत्कारों की सम्भावना तथा आत्मा की अमरता को युक्तियों द्वारा प्रमाणित करने का प्रयास व्यर्थ है।

मानव-जीवन पर धर्म के प्रभाव के सम्बंध में भी ह्यूम के इस मत को स्वीकार करना पड़ता है कि इस से मानव-समाज को लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई है। प्राचीन काल से वर्तमान युग तक धर्म का इतिहास इस बात का साक्षी है कि धर्म के कारण मानव-समाज ऐसे अनेक विरोधी वर्गों में विभक्त हो गया है जिन में निरंतर संघर्ष चलता रहा है और आज भी चल रहा है। यहां धर्म के समर्थन में यह अवश्य कहा जा सकता है कि कुछ स्वार्थी व्यक्तियों ने राजनीति, कानून तथा विज्ञान की भांति धर्म का भी अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिये दुरुपयोग किया है। धर्म के नाम पर मानव-समाज को जो क्षति पहुंचायी गयी है उसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व इन्हीं स्वार्थी व्यक्तियों पर है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यदि ह्यूम इस तथ्य की ओर ध्यान देते तो वे धर्म का उतना तीव्र विरोध न करते जितना उन्होंने किया है। वस्तुतः इस सम्बन्ध में निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर हम सम्भवतः यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कानून, विज्ञान एवं राजनीति की भांति धर्म का भी दुरुपयोग किया जा सकता है तथा किया गया है और ह्यूम ने अपने धर्म-दर्शन द्वारा इसी सुखद तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करके हमें अधिक सावधान एवं सतर्क रहने के लिये प्रेरित किया है।

दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रागनुभविक ज्ञान

जगदीशसहाय श्रीवास्तव

पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा में ज्ञान के स्रोत के विषय में दो परस्पर विरोधी विचारधाराएँ पायी जाती हैं : प्रथम, अनुभववाद (एम्पिरिसिज़्म) जिसके अनुसार वस्तु-जगत् सम्बन्धी हमारे सभी ज्ञान का एकमात्र स्रोत इन्द्रियानुभव है। अनुभववाद इस बात का निषेध करता है कि मानवीय बुद्धि अनुभव का आश्रय लिये बिना वस्तु-जगत् के विषय में कोई ज्ञान प्राप्त कर सकती है। इस मत के विरोध में कहा जा सकता है कि अन्य विज्ञानों के विषय में अनुभववाद की उपर्युक्त बात भले ही सही हो पर मानवीय ज्ञान के भीतर कम से कम दो ऐसे विज्ञान अवश्य हैं जहां हम अनुभव से स्वतन्त्र वस्तु-जगत् के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और वे हैं तर्कशास्त्र (लॉजिक) एवं गणित। तर्कशास्त्र एवं गणित के आधार-वाक्य अनुभव-निरपेक्ष होते हैं पर फिर वे जगीभत् के विषय में हमें यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति कराते हैं। इस अपेक्षा का अनुभववादी दो प्रकार से उत्तर देते हैं : मिल जैसे अनुभववादियों के अनुसार गणित के आधार-वाक्य भी अनुभव पर आश्रित होते हैं। गणित के वाक्य अतिशय प्रमाणित सामान्यीकरण हैं।[1] अन्य अनुभववादी मिल के इस विचार से सहमत नहीं हैं। ए. जे. एयर. जॉन विज़डम इत्यादि प्रत्यक्षवादियों के अनुसार गणित के आधार-वाक्य अनुभवाश्रित नहीं हैं क्योंकि अनुभव द्वारा उन्हें न तो सत्यापित किया जा सकता है और न असत्यापित ही। वे द्विरुक्ति (टाटालाजी) मात्र हैं। अतः जगत् के विषय में वे हमें किसी नवीन ज्ञान की प्राप्ति नहीं कराते। गणित के वाक्यों में मनोवैज्ञानिक नवीनता भले ही पायी जाती हो पर उनमें कोई तथ्यपरक नवीनता नहीं पायी जाती।

पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा में उपर्युक्त मत के विरुद्ध बुद्धिवादियों (रैशनलिस्ट्स) का मत है जिनके अनुसार जगत् के विषय में वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र स्रोत बुद्धि है। इन्द्रियानुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं होता

१. मिल, जे. एस., सिस्टम आव लाजिक II, अध्याय ५, ६।

२. एयर, ए. जे., लैंग्वेज, ट्रुथ एण्ड लाजिक, पृ० ७८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि वह सापेक्ष, सम्भाव्य व अनिश्चयात्मक होता है। कोई भी ज्ञान वास्तविक ज्ञान तभी कहा जा सकता है जबकि उसके भीतर निश्चयात्मकता, अनिवार्यता एवं सार्वभौमता के गुण पाये जाते हैं। चूंकि अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान में उपर्युक्त विशेषताएं नहीं पायी जातीं अतः उसे हम ज्ञान की श्रेणी में नहीं रख सकते। जहां अनुभववादी पश्चानुभविक (एपॉस्टीरियोराई) ज्ञान में विश्वास करते हैं वहां बुद्धिवादी प्रागनुभविक (एप्रायोराई) ज्ञान को मानते हैं। बुद्धिवादी गणित को, विशेषकर रेखागणित को, अपने ज्ञान का आदर्श मानते हैं। वे अपने ज्ञान में उसी प्रकार की निश्चयात्मकता व सार्वभौमता लाना चाहते हैं जिस प्रकार की निश्चयात्मकता व सार्वभौमता गणित के वाक्यों में पायी जाती है। इन्द्रियानुभव द्वारा इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है। अतः बुद्धिवादियों का विश्वास था कि मात्र बुद्धि द्वारा ही हम जगत् के विषय में निश्चयात्मक व अनिवार्य ज्ञान की प्राप्ति कर सकते हैं। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में डेकार्ट, स्पिनोज़ा व लाइब्निज के दार्शनिक निकाय प्रागनुभविक ज्ञान के सर्वोत्तम उदाहरण हैं।

काण्ट ने अपने "क्रिटीक् ऑव प्योर रीज़न" में "प्रागनुभविक" एवं "पश्चानुभविक" ज्ञान का एक भिन्न विश्लेषण प्रस्तुत किया था। उसने "अनुभव से स्वतन्त्र" ज्ञान को "प्रागनुभविक" ज्ञान की संज्ञा दी थी तथा "अनुभव से व्युत्पन्न" ज्ञान को "पश्चानुभविक" ज्ञान कहा था। "प्रागनुभविक" ज्ञान भी दो प्रकार का होता है: प्रथम "विश्लेषणात्मक प्रागनुभविक" ज्ञान, जैसे 'प्रत्येक पिण्ड विस्तृत होता है' और द्वितीय "संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक" ज्ञान जैसे 'प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है।' काण्ट के अनुसार "प्रागनुभविक" ज्ञान संभव है पर इसके लिए "इन्द्रियानुभव" की आवश्यकता होती है। यदि कोई ऐसा "प्रागनुभविक" ज्ञान है जो इन्द्रियानुभव पर आश्रित नहीं है तो उसे हम सार्थक ज्ञान की संज्ञा नहीं दे सकते। प्रत्येक सार्थक ज्ञान "संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक" होता है। काण्ट के अनुसार ऐसा ज्ञान हमें गणित, भौतिक विज्ञान एवं ऐन्द्रिक तत्त्व-विज्ञान में प्राप्त होता है। बुद्धिवादियों एवं काण्ट दोनों के अनुसार "संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक" ज्ञान सम्भव होता है पर दोनों में अन्तर यह है कि जहां बुद्धिवादी मानते हैं कि विशुद्ध बुद्धि के आधार पर हमें अतीन्द्रिय तत्त्व-विज्ञान की प्राप्ति होती है वहां काण्ट मानता है कि अतीन्द्रिय तत्त्व-विज्ञान का ज्ञान असम्भव है। यदि हमें किसी तत्त्व-विज्ञान का ज्ञान होता है तो वह ऐन्द्रिक तत्त्व-विज्ञान (इम्मानेण्ट मैटॉफ़िज़िक्स) ही हो सकता है।

प्रागनुभविकता, सार्वभौमता, अनिवार्यता एवं निश्चयात्मकता

काण्ट के अनुसार यदि कोई ज्ञान प्रागनुभविक है तो वह निश्चित रूप में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सार्वभौम, अनिवार्य और निश्चयात्मक होगा। यह ठीक है कि ये सभी प्रत्यय समरूप नहीं हैं पर इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनके बीच कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। यदि कोई ज्ञान सार्वभौम है तो उसका प्रागनुभविक होना अनिवार्य नहीं है। विज्ञान के ऐन्द्रिक या आनुभविक सामान्यीकरण सार्वभौम होते हुए भी प्रागनुभविक नहीं होते। इसके विपरीत यदि कोई ज्ञान प्रागनुभविक है तो वह अवश्य ही सार्वभौम होगा। इस विश्वास का कारण यह है कि विशुद्ध बुद्धि के द्वारा हमें विशेषों का ज्ञान नहीं होता; इसके द्वारा हमें केवल सामान्य और सार्वभौम का ही ज्ञान प्राप्त होता है। इन्द्रियानुभव द्वारा हमें विशेषों का ज्ञान प्राप्त होता है तथा बुद्धि द्वारा हमें सामान्य या सार्वभौम ज्ञान प्राप्त होता है। काण्ट के अनुसार, प्रागनुभविक ज्ञान के सार्वभौम होने का तात्पर्य यह है कि हम उसे इन्द्रियानुभव द्वारा अप्रमाणित नहीं कर सकते।

इसी प्रकार प्रत्येक प्रागनुभविक ज्ञान अनिवार्य होता है। किसी प्रागनुभविक वाक्य के अनिवार्य होने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह किसी पूर्व-स्थापित आधार-वाक्य द्वारा तर्कतः आपादित होता है; इसके अनिवार्य होने का यहां अर्थ यह है कि इसके विरोध में कभी कोई बात नहीं कही जा सकती। दूसरे शब्दों में, यह कभी अन्यथा नहीं हो सकता। किसी वाक्य के सार्वभौम होने का अर्थ केवल इतना ही है कि अनुभव द्वारा इसे असत्यापित नहीं किया जा सकता, पर किसी वाक्य के अनिवार्य होने का तात्पर्य यह होता है कि यह किसी भी साधन द्वारा असत्यापित नहीं किया जा सकता। यदि कोई वाक्य प्रागनुभविक रूप में सत्य है तो उसकी वैधता अनुभव द्वारा सिद्ध न होकर, विचारों द्वारा सिद्ध की जाती है। अतः यदि प्रागनुभविक वाक्य सत्य है, उसकी असत्यता किसी न किसी प्रकार की असंगति या व्याघात अवश्य उत्पन्न करेगी। स्पष्ट है कि प्रागनुभविक वाक्य किसी न किसी रूप में अनिवार्य अवश्य होते हैं। इसी प्रकार इसका विलोम भी उतना ही सत्य है। यदि कोई वाक्य अनिवार्य है तो वह किसी न किसी रूप में प्रागनुभविक अवश्य होगा।

जिस प्रकार प्रागनुभविकता का सम्बन्ध सार्वभौमता व अनिवार्यता से है उसी प्रकार इसका सम्बन्ध निश्चयात्मकता से भी है। प्रत्येक प्रागनुभविक वाक्य सार्वभौम व अनिवार्य होने के साथ-साथ निश्चयात्मक भी होता है। अब प्रश्न यह है कि निश्चयात्मकता किसी वाक्य का आन्तरिक गुण है या किसी वाक्य के प्रति हमारी अभिवृत्ति का गुण है। यदि इसे वाक्य का आन्तरिक गुण स्वीकार किया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि यदि कोई वाक्य वास्तव में निश्चयात्मक है तो उसके प्रति हमारी अभिवृत्ति भी निश्चयात्मक होनी चाहिए, जो व्यवहार में नहीं देखा जाता। बहुत से ऐसे वाक्य हैं जो अनिवार्य न होते हुए भी हमें निश्चयात्मक प्रतीत होते हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसे: "यह कागज़ सफेद है।" इसी प्रकार कुछ अनिवार्य वाक्य भी हमें निश्चयात्मक नहीं दिखायी देते : जैसे गणित के जटिल वाक्य अनिवार्य और निश्चयात्मक होते हुए भी वे हमें निश्चयात्मक वाक्य के रूप में दिखायी नहीं देते। कुछ दार्शनिकों[1] के अनुसार बहुत से जटिल प्रागनुभविक वाक्य, जैसे अंकगणित के जटिल वाक्य, निश्चयात्मक नहीं होते क्योंकि उन्हें हल करने में हम गलतियां कर सकते हैं। पर इससे यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जा सकता कि यदि कोई वाक्य प्रागनुभविक रूप में सत्य है तो वह निश्चयात्मक नहीं हो सकता। वास्तविकता तो यही है कि यदि कोई वाक्य प्रागनुभविक रूप में सत्य है तो वह अनिवार्य रूप में भी सत्य होगा और वह इस कारण निश्चयात्मक भी होगा। किसी वाक्य के प्रति निश्चयात्मक अभिवृत्ति से ही वह वाक्य निश्चयात्मक नही हो जायगा। कोई वाक्य वस्तुतः निश्चयात्मक तभी होगा जब वह प्रागनुभविक व अनिवार्य रूप में सत्य हो।

पहले कहा जा चुका है कि प्रागनुभविक तर्क-वाक्य वे वाक्य हैं जो अनुभव से स्वतन्त्र होते हैं। गणित और तर्कशास्त्र के वाक्य इसी प्रकार के होते हैं। पर गणित एवं तर्क-शास्त्र के वाक्यों के अतिरिक्त भी कुछ वाक्य ऐसे होते हैं जिनकी सत्यता या असत्यता अनुभव पर आश्रित न होने पर भी किसी न किसी रूप में अनुभव से सम्बन्धित होती है। उदाहरण के लिए : "कोई भी वस्तु एक ही काल में और एक ही देश में लाल व हरी एक-साथ नहीं हो सकती।" यह वाक्य अपनी सत्यता के लिए अनुभव पर आश्रित न होने पर भी अनुभव से सम्बन्धित है। क्या ऐसे वाक्यों को भी गणित व तर्कशास्त्र के वाक्यों की तरह प्रागनुभविक मानना चाहिए? काण्ट ने इन दोनों प्रकार के वाक्यों में भेद किया था : गणित व तर्कशास्त्र के वाक्यों को विशुद्ध प्रागनुभविक वाक्य व दूसरे प्रकार के वाक्यों को सर्वथा प्रागनुभविक वाक्य (एप्रायोराई जजमेण्ट सिम्प्लिसिटर) के नाम से अभिहित किया गया। दूसरे शब्दों में, प्रथम प्रकार के वाक्यों को निरपेक्ष प्रागनुभविक व द्वितीय प्रकार के वाक्यों को सापेक्ष प्रागनुभविक कहा जा सकता है। निरपेक्ष प्रागनुभविक वाक्य वे वाक्य हैं जो प्रत्येक सम्भावित संसार में सत्य हैं; इसके विपरीत सापेक्ष प्रागनुभविक वाक्य वे वाक्य हैं जो केवल इस संसार के लिए सत्य हैं।

विश्लेषणात्मक व संश्लेषणात्मक वाक्य

काण्ट के समय से ही प्रागनुभविक व पश्चानुभविक वाक्यों के साथ एक अन्य समानान्तर प्रत्यय के विषय में विचार किया गया था जो विश्लेषणात्मक व संश्लेषणात्मक वाक्यों से सम्बन्धित है। विश्लेषणात्मक वाक्य वह वाक्य है जिसमें विधेय उद्देश्य के भीतर सूक्ष्म रूप में पहले से ही सन्निहित होता है। "पिण्ड विस्तृत

१. एयर, ए. जे., फिलासाफिकल एसेज़, पृ० २०५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है" विश्लेषणात्मक वाक्य है। इसके विपरीत, संश्लेषणात्मक वाक्य वह वाक्य है जिसमें विधेय का प्रत्यय उद्देश्य के प्रत्यय की परिधि के बाहर होता है। आगे इसका विश्लेषण करते हुए काण्ट कहते हैं कि विश्लेषणात्मक वाक्यों का निषेध आत्म-व्याघातक होता है पर संश्लेषणात्मक वाक्यों का निषेध आत्म-व्याघातक नहीं होता। विश्लेषणात्मक व संश्लेषणात्मक वाक्यों का अन्तर प्रागनुभविक व पश्चानुभविक वाक्यों के अन्तर को तिर्यक् रूप में काटता है। कारण यह है कि काण्ट के अनुसार संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक व संश्लेषणात्मक पश्चानुभविक वाक्य तो हो सकते हैं पर विश्लेषणात्मक पश्चानुभविक वाक्य सम्भव नहीं हैं। केवल विश्लेषणात्मक प्रागनुभविक वाक्य ही सम्भव हो सकते हैं। विश्लेषणात्मक पश्चादनुभविक वाक्य इसलिए सम्भव नहीं हैं कि यदि किसी वाक्य का विधेय उद्देश्य में पहले से ही सन्निहित है तो इसकी सत्यता को प्रमाणित करने के लिए किसी बाह्य अनुभव की कोई आवश्यकता नहीं है। "पिण्ड भारी होते हैं" संश्लेषणात्मक पश्चानुभविक वाक्य का उदाहरण है। "प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है" संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक वाक्य का सर्वोत्तम उदाहरण है।

काण्ट ने जो विश्लेषणात्मक व संश्लेषणात्मक वाक्यों के बीच भेद किया है उसकी दार्शनिकों ने पर्याप्त आलोचना की है। फ्रेगे के अनुसार काण्ट की विश्लेषणात्मक व संश्लेषणात्मक वाक्यों की अवधारणा केवल उद्देश्य-विधेय वाक्यों तक ही सीमित है। पर व्यवहार में उद्देश्य-विधेय वाक्यों से भिन्न प्रकार के वाक्य भी होते हैं जिन्हें विश्लेषणात्मक कहा जा सकता है। फ्रेगे का यहां संकेत गणित के तर्क-वाक्यों की ओर था। गणित के वाक्य पर्याप्त जटिल होते हैं जिन्हें केवल उद्देश्य-विधेय वाक्यों की परिधि के भीतर समाहित नहीं किया जा सकता। गणित के वाक्यों को भी विश्लेषणात्मक वाक्यों की परिधि में शामिल करने के लिए फ्रेगे ने विश्लेषणात्मक वाक्य की एक दूसरी परिभाषा प्रस्तुत की जो निम्न है: **विश्लेषणात्मक वाक्य वह वाक्य है जिसकी उपपत्ति में हमें केवल सामान्य तार्किक नियमों एवं परिभाषाओं की सहायता लेनी पड़ती है।**[1] इसी प्रकार **फ्रेडरिक वेज़मन** ने काण्ट के विश्लेषणात्मक वाक्य की आलोचना करते हुए लिखा है कि यदि काण्ट के विश्लेषणात्मक वाक्य के पदों के स्थान पर समानार्थक पद रख दिये जांय तो वह वाक्य एक तार्किक सामान्योक्ति (लॉजिकल ट्रुइज़्म) के रूप में परिणत हो जाता है।[2] जैसे, "सभी पिण्ड विस्तृत होते हैं" इस वाक्य में 'पिण्ड' के स्थान पर उसका समानार्थक पद "विस्तृत वस्तुएं" स्थापित कर दिया जाय तो मूल वाक्य का रूप होगा "सभी विस्तृत वस्तुएं विस्तृत होती हैं।" यह द्विरुक्ति मात्र है जो मूल वाक्य से सर्वथा भिन्न है। इसी आपत्ति

१. फ्रेगे, जी., फाउण्डेशन्स आव अरिथमेटिक, अनु० जे. एल. आस्टिन, पृ० ४।
२. वैज़मन, एफ., एनलिटिक-सेन्थेटिक, ऐनलसिस X, पृ० २५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को क्वाइन ने इस प्रकार व्यक्त किया है कि विश्लेषणात्मक सत्य वे सत्य हैं जिनमें यदि पर्यायों के स्थान पर पर्याय स्थापित कर दिये जांय तो वे तार्किक सत्य (लाजिकल ट्रुथ) के रूप में परिणत हो जाते हैं।

प्रो. क्वाइन ने विश्लेषणात्मक सत्यों की अवधारणा में कुछ मूलभूत दोष बताये हैं जिन्हें उन्होंने अपने निबन्ध 'द टू डॉग्माज़ ऑफ एम्पिरिसिज़्म" में स्पष्ट किया है। प्रथम आक्षेप पर्यायता सम्बन्धी है तथा द्वितीय आक्षेप विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक वाक्यों के भेद से सम्बन्धित है। इन पर क्रमशः विचार किया जायगा।

पर्यायता सम्बन्धी आक्षेप का सार यह है कि दार्शनिकों ने विश्लेषणात्मकता की परिभाषा पर्यायता के माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा की है। क्वाइन के अनुसार यह सम्भव नहीं है क्योंकि इसमें चक्रिक दोष है। दो भाषिक रूप एक-दूसरे के पर्याय तब कहे जाते हैं जब किसी भी परिस्थिति में एक के स्थान पर एकान्तरण कर देने से उसके सत्य-मूल्य में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। पर्यायता से यहां तात्पर्य पूर्ण तादात्म्य से नहीं है वरन् ज्ञानात्मक पर्यायता (कॉग्निटिव साइनॉनिमी) से है। इसमें चक्रिक दोष किस प्रकार शामिल है, निम्न रूप से समझा जा सकता है :—

हमें 'ज्ञानात्मक पर्यायता' के माध्यम से सिद्ध करना है कि

(क) 'सभी और केवल कुमार ही अविवाहित मनुष्य होते हैं।' यदि 'कुमार' और 'अविवाहित मनुष्य' परस्परान्तरणीय हैं तो इससे उपर्युक्त वाक्य निम्न रूप में परिणत हो जायगा—

(ख) 'सभी ओर केवल कुमार ही कुमार होते हैं'

(ख) वाक्य अनिवार्यतः सत्य है, अतः

(क) वाक्य भी अनिवार्यतः सत्य होगा।

(क) के अनिवार्यतः सत्य होने से (क) वाक्य विश्लेषणात्मक समझा जायगा क्योंकि विश्लेषणात्मक वाक्य अनिवार्यतः सत्य होते हैं।

(क) के विश्लेषणात्मक होने से 'कुमार' और 'अविवाहित मनुष्य' में 'ज्ञानात्मक पर्यायता' समझी जायगी। यहां हमने 'परस्परान्तरण' द्वारा 'विश्लेषणात्मकता' को सिद्ध किया तथा 'विश्लेषणात्मकता' के द्वारा 'ज्ञानात्मक पर्यायता' को सिद्ध किया। अतः इसमें चक्रिक दोष परिलक्षित होता है। परस्परान्तरण को विश्लेषणात्मकता और ज्ञानात्मक पर्यायता के बीच खड़ा कर देने से समस्या का कोई विशेष समाधान नहीं हो जाता। यहां ध्यान देने की बात यह है कि केवल ऐसी दो विधियों के बीच ही परस्परान्तरण सार्थक हो सकता है जिनके व्याप्त्यर्थ और गुणार्थ दोनों समान हैं। उदाहरण के लिए, 'कुमार' और 'अविवाहित मनुष्य' परस्परान्तरणीय हैं पर 'हृदयवान् जीव' और 'गुर्दावान जीव' परस्परान्तरणीय नहीं हैं क्योंकि इनके व्याप्त्यर्थ समान होते हुए भी इनके गुणार्थ समान नहीं हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रो० ग्राइस और प्रो० स्ट्रॉसन[1] ने क्वाइन के उपर्युक्त मत का खण्डन किया है। उनके अनुसार यदि क्वाइन की बात मान ली जाय तो 'ज्ञानात्मक पर्यायता' की संतोषप्रद व्याख्या तभी हो सकती है जब इसकी व्याख्या किसी समानार्थक पद द्वारा न करके किसी असमानार्थक पद द्वारा की जाय, जो बिल्कुल असम्भव है। वास्तविकता यह है कि **'विश्लेषणात्मकता' और 'ज्ञानात्मक पर्यायता' एक ही परिवार के सदस्य** हैं तथा क्वाइन एक सदस्य की संतोषजनक व्याख्या के लिए दूसरे सदस्य की सहायता नहीं लेना चाहते। किन्तु एक परिवार के प्रत्यय की व्याख्या के लिए किसी दूसरे परिवार के असमान प्रत्यय की सहायता लेने से भी संतोषजनक व्याख्या प्रस्तुत नहीं की जा सकती। प्रो० क्वाइन ने यही ग़लती की। उन्होंने 'ज्ञानात्मक पर्यायता' की व्याख्या 'विश्लेषणात्मकता' के माध्यम से न कर 'परस्परान्तरण' के द्वारा करने का प्रयत्न किया जो मान्य नहीं हो सकता।

प्रो० क्वाइन का दूसरा आक्षेप विश्लेषणात्मक व संश्लेषणात्मक वाक्यों के भेद से सम्बन्धित है। उसके अनुसार इन वाक्यों का भेद सापेक्षिक ही हो सकता है, निरपेक्ष नहीं। इसकी व्याख्या क्वाइन कार्नप के अर्थ-विज्ञान (सिमेण्टिक्स) के नियमों के माध्यम से करते हैं। अर्थ-विज्ञान के अनुसार प्रत्येक तर्क-वाक्य में दो अवयव होते हैं : प्रथम **तथ्यात्मक** और द्वितीय **भाषिक**। अतः हम एक ऐसी स्थिति की भी कल्पना कर सकते हैं जब किसी प्रतिज्ञप्ति में या तो तथ्यात्मक अवयव शून्य हो या भाषिक अवयव शून्य हो। जब किसी प्रतिज्ञप्ति में तथ्यात्मक अवयव शून्य होता है तो विश्लेषणात्मक वाक्य की उत्पत्ति होती है पर जब भाषिक अवयव शून्य होता है तो मूल प्रतिज्ञप्ति (बेसिक प्रपोजीशन) की उत्पत्ति होती है। क्वाइन के अनुसार मूल प्रतिज्ञप्ति (प्रपोजीशन) की कल्पना अनुभववादियों का एक मताग्रह ही है क्योंकि यह कुछ चीज़ नहीं होती। प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति में तथ्यात्मक व भाषिक दोनों प्रकार के अवयव पाये जाते हैं। उनमें मात्रा का भेद भले ही हो पर प्रकार-भेद नहीं पाया जाता।

यहां ध्यान देने की बात यह है कि प्रो० क्वाइन ने विश्लेषणात्मक व मूल प्रतिज्ञप्तियों में जो भेद प्रस्तुत किया है वह बहुत कुछ समीचीन नहीं है। यह ठीक है कि हम ऐसी किसी प्रतिज्ञप्ति की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें भाषिक तत्त्व न हो, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐसी कोई प्रतिज्ञप्ति नहीं हो सकती जिसमें तथ्यात्मक तत्त्व न हो। **ग्राइस एवं स्ट्रासन** विश्लेषणात्मक व संश्लेषणात्मक वाक्यों के भौतिक भेद को स्वीकार करते हैं और वे उन्हें निम्न प्रकार से परिभाषित करते हैं : **किसी विश्लेषणात्मक कथन के विषय में अयथार्थ सिद्ध करने वाली परिस्थिति हमारे प्रत्ययों में संशोधन उत्पन्न करती है, किसी संश्लेषणात्मक कथन के विषय में**

१. ग्राइस, एच. पी., तथा स्ट्रासन, पी. ऐफ., इन डेफेन्स आफ ऐ डाग्मा' फिलासाफिकल रिव्यू, ६५ (१९५६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अयथार्थ सिद्ध करने वाली परिस्थिति तथ्य सम्बन्धी दृष्टिकोण में परिवर्तन लाती है। प्रथम स्थिति विज्ञान में उत्पन्न होती है जहां सैद्धान्तिक कथन प्रत्ययों के संशोधन द्वारा अयथार्थकरणीय नहीं माने जाते। पर ग्राइस एवं स्ट्रासन की इस बात से क्वाइन सहमत नहीं होंगे, क्योंकि यह विश्लेषणात्मक एवं संश्लेषणात्मक वाक्यों के मौलिक भेद को स्वीकार करती है।

संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक सत्य

बुद्धिवादियों के अनुसार प्रागनुभविक वाक्य संश्लेषणात्मक होते हैं, अर्थात् वे जगत् के विषय में हमें ज्ञान की प्राप्ति कराते हैं। समीक्षावादी काण्ट ने भी संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक वाक्यों में विश्वास प्रकट किया था पर काण्ट के संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक वाक्य ऐन्द्रिक अनुभवों के आधारभूत सिद्धान्त थे। बुद्धिवादियों के अनुसार हम बुद्धि द्वारा तत्त्व-साक्षात्कार कर सकते हैं, पर काण्ट के अनुसार बुद्धि द्वारा हमें केवल संवृति या व्यवहार का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, परमार्थ का नहीं। जब बुद्धि संवृति से अतीत परमार्थ का ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करती हैं तब वह नाना प्रकार के अन्तर्विरोधों में फँस जाती है। बुद्धि तत्त्व को नहीं जान पाती, अतः उसके द्वारा तत्त्व के विषय में संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक ज्ञान प्राप्त होने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। हाँ, बुद्धि हमें संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक ज्ञान अवश्य प्राप्त कराती है जो किसी न किसी रूप में सम्भाव्य अनुभव का निर्धारक होता है। "देश-काल सम्बन्धी प्रतिज्ञप्तियां या नित्य द्रव्य अवश्य होने चाहिए," अथवा "प्रत्येक घटना का कोई न कोई कारण अवश्य होता है," सभी सम्भाव्य अनुभविक ज्ञान के निर्धारक हैं और इस प्रकार संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियां हैं।

अनुभववादी संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक सत्य के सर्वथा विरोधी रहे हैं। वे बुद्धिवादियों के बुद्धिवादी तत्त्व-विज्ञान के ही विरोधी नहीं थे वरन् काण्ट के तत्सम्बन्धी विचारों के भी विरोधी थे। **देश-काल व कारणता सम्बन्धी प्रतिज्ञप्तियां सम्भाव्य अनुभव की निर्धारक हैं, अतः वे स्वयं अनुभव की अंश नहीं हो सकतीं।** इस दृष्टि से वे प्रागनुभविक हैं। प्रागनुभविक होते हुए भी वे विश्लेषणात्मक नहीं हैं क्योंकि वे वस्तु-जगत् पर लागू होती हैं।

ऊपर जिस सार्वभौम कारणता-सिद्धान्त का वर्णन किया गया उसका थोड़ा विश्लेषण आवश्यक है। **प्रो० हैम्पशायर** के अनुसार, कारणता-सिद्धांत में दो प्रकार से सामान्यों का योग है क्योंकि इसमें दो सामान्य शब्द विद्यमान हैं: **प्रत्येक** घटना का **कुछ** कारण अवश्य होता है। चूंकि इस प्रतिज्ञप्ति का सम्बन्ध **प्रत्येक** घटना से है अतः इसे पूर्ण रूप में सत्यापित नहीं किया जा सकता; इसी प्रकार यह वाक्य आग्रह करता है कि **कुछ कारण** हैं, अतः इसे असत्यापित भी नहीं किया जा सकता। इससे सिद्ध है कि कोई वाक्य जो इन दोनों बातों पर आग्रह करता है, वह न तो पूर्ण रूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से सत्यापन-योग्य है और न पूर्ण रूप से असत्यापन-योग्य ही है। स्पष्ट है कि जो वाक्य सत्यापन और असत्यापन दोनों के अयोग्य है वह पश्चानुभविक न होकर प्रागनुभविक ही होगा। यहां ध्यान देने की बात यह है कि संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की अनिवार्यता जिस प्रकार प्रत्ययों पर आश्रित है उस प्रकार की अनिवार्यता, प्रत्ययों पर आश्रित होने पर भी, विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों में नहीं पायी जाती। दोनों प्रकार की अनिवार्यताओं में मौलिक भेद है : प्रथम वास्तविक अनिवार्यता है जबकि द्वितीय केवल आकारिक अनिवार्यता है।

प्रत्ययात्मक सत्य (कॉन्सेप्चुअल ट्रुथ)

"कोई भी वस्तु एक समय में और एक ही स्थान पर लाल और हरी नहीं हो सकती" उपर्युक्त प्रतिज्ञप्ति विश्लेषणात्मक है या संश्लेषणात्मक, प्रागनुभविक है या पश्चानुभविक ? इसे विश्लेषणात्मक इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि न तो "लाल" का अर्थ "हरा न होना" होता है और न "हरा" का अर्थ "लाल न होना" ही होता है। इसे संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह हमारे सम्भाव्य अनुभवों का निर्धारक नहीं है। यह प्रागनुभविक भी नहीं है क्योंकि इसे समझने में "लाल" और "हरा" का अनुभव होना अनिवार्य है। इसे संश्लेषणात्मक व पश्चानुभविक प्रतिज्ञप्ति भी नहीं माना जा सकता क्योंकि यह अनिवार्य है। ऐसी प्रतिज्ञप्तियों को दार्शनिकों ने "प्रत्ययात्मक सत्य" की संज्ञा दी है जिसे समझने के लिए हमें "लाल" और "हरा" के प्रत्ययों की जानकारी रखने के साथ "रंग", "रंगों के पारस्परिक सम्बन्धों" "संवेदनग्राहिता के रूपों", या जिसे विट्गेन्स्टाइन ने "जीवन शैली"[1] कहा है उसकी भी जानकारी होनी चाहिए। इसीलिए उपर्युक्त वाक्य को दार्शनिकों ने "प्रत्ययात्मक सत्य" कहा है। इस दृष्टि से विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियां प्रत्ययात्मक प्रतिज्ञप्तियों के विकृत रूप कही जा सकती हैं क्योंकि वे हमें तथ्यों के विषय में किसी प्रकार की सूचना प्रदान नहीं करतीं। इन्हें "विकृत" कहने का एक कारण यह भी है कि विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों में "विधेय" उद्देश्य के भीतर सदा निहित होना चाहिए जो सभी प्रत्ययात्मक वाक्यों में नहीं पाया जाता। "सभी अनिवार्य सत्य विश्लेषणात्मक होते हैं" कथन इस बात पर आधारित है कि संसार में पारमाणविक प्रत्ययों का अस्तित्व है। पर प्रत्ययात्मक सत्य के लिए पारमाणविक प्रत्ययों का होना अनिवार्य नहीं है।

किसी प्रत्ययात्मक सत्य में एक प्रत्यय के वास्तविक अर्थ को समझने में तत्सम्बन्धी अन्य प्रत्ययों के समझने की भी आवश्यकता होती है जिसे विट्गेन्स्टाइन ने "प्रत्यय का व्याकरण" कहा है। वे प्रत्ययात्मक सत्य, जो विश्लेषणात्मक हैं, निरपेक्षतः अनिवार्य हैं पर जो विश्लेषणात्मक नहीं हैं उन्हें सापेक्षतः ही अनिवार्य कहा जा सकता है।

प्रयाग विश्वविद्यालय

१. विट्गेन्स्टाइन, फिलासाफिकल इन्वेस्टिगेशन्स्. पृ० २२६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक-समीक्षा

लिंग्विस्टिक फिलासोफी एण्ड अदर ऐस्सेज़*

लेखक : एस. एच. दिवेटिया, प्रकाशक : गुड कम्पेनियन्स् पब्लिशर्स, बड़ौदा, (१९७५), मूल्य २७.५०, पृष्ठ १३२।

भूमिका की प्रथम पंक्तियाँ हैं: "ये निबन्ध भाषायी दर्शन में १५ वर्षों के शोध का परिणाम हैं। चाहे किसी को अच्छा लगे या बुरा, भाषायी दर्शन भारत में अब ठहरेगा ही और उसकी प्रमुख स्थापनाओं को स्पष्ट रूप में समझना चाहिए।" जैसाकि शीर्षक से स्पष्ट है, पुस्तक में भाषायी दर्शन के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी निबन्ध हैं, यथा तादात्म्य, लाइब्नीत्स, वैज्ञानिक व्याख्या, कारणता, स्वातन्त्र्य, प्रजातन्त्र, दर्शन का शिक्षण, मनस् की अवधारणा, गाँधी, हेगेल। इतनी सारी विषय-सामग्री में से केवल कुछ का चयन, कुछ सार्थक बात कहने के लिए, समीक्षक के लिए अनिवार्य-सा है। वर्तमान विवेचन के लिए मैं उसी बिन्दु को आधार बनाकर कहना चाहूंगा जो लेखिका का भी प्रमुख विचार-बिन्दु प्रतीत होता है, और यह है भाषायी विश्लेषण।

संक्षेप में, लेखिका का मत यह प्रतीत होता है कि भाषायी विश्लेषण दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रखता है और यह इस बात से पुष्ट किया जा सकता है कि अनेक दार्शनिक समस्याओं के अन्वीक्षण में यह विश्लेषण सहायक सिद्ध हुआ है, होता है। परन्तु उसे आवश्यकता से अधिक महत्त्व देना भी उपयुक्त नहीं है। यह अस्वीकार्य है कि भाषायी विश्लेषण दर्शन का सर्वस्व है। यही नहीं, भाषायी विश्लेषण को स्वीकार करना तत्त्वमीमांसा को अस्वीकार करना नहीं है। (१६)

पाठक यह आशा करेंगे कि पुस्तक में कहीं यह स्पष्ट किया गया होगा कि दार्शनिक विश्लेषण के प्रमुख चरण क्या हैं, उसका क्या स्वरूप है, उसकी क्या स्थापनाएँ हैं, दार्शनिक समस्याओं के समाधान में उसका क्या योगदान है तथा उसकी क्या सीमाएँ हैं, परन्तु उनकी आशा फलवती होगी इसकी समीक्षक को आशा कम है। ऐसा नहीं है कि इन प्रश्नों के सम्बन्ध में लेखिका के पास कुछ कहने को नहीं है,

* भाषायी दर्शन तथा अन्य निबन्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु जिस प्रकार वह इन लेखों में कहा गया है, उसमें बड़ा बिखराव है। यत्र-तत्र जो कहा गया है वह ऐसा नहीं है जिस से किसी का विशेष मतभेद हो, परन्तु संयत, व्यवस्थित, क्रमिक विचार-विमर्श की दृष्टि से उसके अभाव की ओर ही ध्यान जाता है। किसी विशिष्ट लेख को लीजिए, यह स्पष्ट नहीं होता कि युक्ति की दिशा क्या है, यद्यपि कोई भ्रान्त अथवा असंगत वाक्य भी नहीं मिलता।

अन्य मनस्' के ज्ञान के प्रश्न को लीजिए जिसकी चर्चा प्रथम निबन्ध में हुई है। लेखिका का मत है कि 'तुम्हें पीड़ा है', तथा 'मुझे पीड़ा है'—ये वाक्य समान लगते हुए भी समान नहीं हैं। जहाँ यह कहना उपयुक्त होगा कि 'मैं अपनी पीड़ा का अन्तर्वीक्षण कर सकता हूं' वहाँ यह कहना उपयुक्त नहीं होगा कि 'मैं तुम्हारी पीड़ा का अन्तर्वीक्षण कर सकता हूं।' यह अनुपयुक्तता ही यह सिद्ध कर देती है कि अन्य मनस् के ज्ञान का (निश्चित ज्ञान के अर्थ में) प्रश्न उठाना साधारण भाषा के प्रयोग को न समझना है। दूसरे, 'जानना' स्वयं अनेक अर्थ रखता है। 'ज्ञान' के निश्चय की मात्रा के आधार पर उसके अनेक अर्थ निर्धारित किये जा सकते हैं। यदि एक सन्दर्भ में प्रयुक्त 'जानना' को 'मैं जानता हूं कि (५ + ७=१२ होते हैं)' दूसरे सन्दर्भ के 'मैं जानता हूं कि (अमुक भला आदमी है)' भिन्न नहीं रखा जायगा तो कठिनाई उत्पन्न होगी। ज्ञान की जो निश्चय-मात्रा एक सन्दर्भ में प्राप्त है वह दूसरे में नहीं। स्पष्टतया यहाँ दो प्रकार की युक्तियाँ देखी जा सकती हैं। पहली युक्ति का स्वरूप है, यदि कोई अभिव्यक्ति प्रयोग में नहीं है, अनुपलब्ध है, अथवा प्रयोग से बेमेल लगती है, तो वह की भी नहीं जा सकती। फलतः वह सार्थक भी नहीं हो सकती। दूसरी युक्ति का स्वरूप है: एक ही शब्द के विभिन्न प्रयोगों की समझ भ्रान्त प्रयोग के प्रति चेतावनी का काम करती है।

प्रश्न यह है कि क्या भाषायी विश्लेषण इतने में ही निश्शेष हो जाता है कि साधार प्रयोग की ओर इशारा कर दिया जाय अथवा शब्दों के बहुविध प्रयोगों की ओर ध्यान आकर्षित कर दिया जाय? इसके अतिरिक्त, क्या मूर, राइल, विट्गेन्स्टाइन तथा ऑस्टिन एक ही प्रकार का विश्लेषण करते हैं?

समीक्षक को यह आवश्यक प्रतीत होता है कि यदि भाषायी विश्लेषण का मूल्यांकन किया जाय तो उसके स्वरूप का स्पष्टीकरण होना पहली अपेक्षा है तथा इस सन्दर्भ में भाषायी विश्लेषण अन्य प्रकार के विश्लेषणों से किस प्रकार भिन्न है, यह बताया जाना आवश्यक है। परन्तु ऐसा लगता है कि लेखिका ने संप्रत्ययात्मक विश्लेषण, तार्किक विश्लेषण, रूपान्तरण (रिडक्शन), तथा भाषायी विश्लेषण को एक ही मान लिया है। उदाहरणार्थ, कान्ट का यह कथन कि "तत्त्वमीमांसीय पद्धति 'केवल प्रत्ययों' में भटकती रही है," इस रूप में ग्रहण किया गया है मानो यहां 'प्रत्ययों' के स्थान पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'शब्दों' का प्रयोग हुआ हो—कारण कि आगे इसी आधार पर प्राचीन तथा आधुनिक विचार-परम्पराओं में सातत्य दिखाने का प्रयास हुआ है तथा यह संकेत दिया गया है कि भाषायी दर्शन एकदम नयी चीज़ नहीं है (पृष्ठ १–२)। इसी निबन्ध के अन्तिम अनुच्छेद में 'भाषायी विश्लेषण' एवं 'तार्किक विश्लेषण' पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुए हैं।

'भाषायी विश्लेषण' के दो प्रकारों का वर्णन (पृष्ठ ९) स्पष्टतः ही दो प्रकार के रूपान्तरणों का वर्णन है। रूपान्तरण भाषायी विश्लेषण का अंग अथवा चरण तो हो सकता है, परन्तु वह उसका पर्यायवाची नहीं है। यदि इन दो प्रकार के रूपान्तरणों के परिणाम तथा भाषायी विश्लेषण के स्वरूप पर उसके प्रभाव का वर्णन किया गया होता तो वह पाठक के लिए अधिक उपादेय होता।

यद्यपि मूर, ऑस्टिन, विट्गेन्स्टाइन तथा राइल आदि के विचारों को लेकर चर्चा हुई है, परन्तु उनकी विश्लेषण-प्रणालियों पर गंभीर रूप में विचार नहीं हुआ है, फलतः उनकी प्रणालियों के अन्तर भी नहीं उभर पाये हैं और भाषायी विश्लेषण का स्वरूप-विवेचन नहीं हो पाया है। विट्गेन्स्टाइन पर दो लेख स्वतन्त्र रूप में हैं। यदि भाषायी खेल (लैंग्विज गेम्स) लेख को भी लें तो विट्गेन्स्टाइन पर तीन लेख हैं। परन्तु पाठक का उपर्युक्त असन्तोष बना ही रहता है।

भाषायी विश्लेषण दार्शनिक समस्याओं पर क्या प्रकाश डालता है, अथवा उनका क्या समाधान प्रस्तुत करता है, अथवा उन से बचने का क्या उपाय बताता है, इसका उल्लेख तो है, परन्तु असंतोष-वर्धक। पांच पृष्ठों में चार समस्याओं का वर्णन तथा समाधान दोनों प्रस्तुत हैं (३–६)। संक्षेप अपने में कोई दोष नहीं है; यही नहीं, गागर में सागर हो तब तो वह प्रतिभा का परिचायक ही है। किन्तु इन पृष्ठों में बहुत कुछ जो आवश्यक है, अनकहा रह जाता है, जैसा अन्य मनस् की समस्या के सन्दर्भ में ऊपर संकेत किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य निबन्धों में इन्हीं कथनों की पुनरावृत्ति भी हुई है। अन्य निबन्ध भिन्न अवसरों पर लिखे गये हैं अतः पुनरावृत्ति यूं तो कोई दोष नहीं है परन्तु क्या विचार इतने स्थिर होते हैं कि उनमें कालान्तर में कोई परिवर्तन नहीं होता? परिवर्तन का अर्थ विचार को छोड़ना ही नहीं है, अपितु उसमें परिवर्धन भी हो सकता है।

यह संतोष की बात है कि लेखिका 'भाषायी विश्लेषण' से इस प्रकार चमत्कृत नहीं हैं कि वही उनके लिए दर्शन का पर्याय बन गया हो। परन्तु उन्होंने 'भाषायी विश्लेषण' की सीमाओं को युक्तियुक्त रूप में दिखलाने का प्रयास नहीं किया है, और न ही अपने इस मत को कोई आधार देने की चेष्टा की है कि 'हमें तत्त्वमीमांसक की समस्याओं को समझना चाहिए तथा उनका आदर करना चाहिए।' (पृष्ठ ९)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान्य रूप में भाषायी दर्शन अथवा भाषायी विश्लेषण, (जैसा लेखिका का प्रयोग है) से सम्बन्धित निबन्धों के पठन से वैसी ही अनुभूति होती है जैसी कॉफी-ब्रेक के समय किसी दार्शनिक की फुटकर टिप्पणियों से उत्पन्न होती है। पुस्तक में अनुक्रमणिका का अभाव खटकता है।

राजेन्द्रस्वरूप भटनागर
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के प्रकाशन

१.	अनुभववाद	सं. यशदेव शल्य	५.५०
२.	समकालीन दार्शनिक समस्याएं	सं. यशदेव शल्य	१३.००
३.	दार्शनिक विश्लेषण	ले. यशदेव शल्य	१२.००
४.	विषय और आत्म	ले. यशदेव शल्य	२०.००
५.	समकालीन भारतीय दर्शन	सं. के. सच्चिदानन्द मूर्ति	१२.००
६.	भारतीय मनोविज्ञान	सं. नारायण शास्त्री द्राविड़	९.००
७.	अपोहसिद्धि, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	३.००
८.	न्यायबिन्दु, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	८.००
९.	नृतत्त्व तथा समाजदर्शन (७ खंड)	सं. दयाकृष्ण, गोविन्दचन्द्र पाण्डे यशदेव शल्य	५२.००

श्री यशदेव शल्य द्वारा अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लिए डी ३१, बापूनगर जयपुर से सम्पादित तथा प्रकाशित एवं मनोज प्रिन्टर्स, गोदीकों का रास्ता, किशनपोल बाजार, जयपुर से मुद्रित ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ष २१, अंक २, अप्रैल १९७५

सम्पादक : यशदेव शल्य

पुस्तकालय
गुरुकुल काँगड़ी
१२/२१५

दार्शनिक त्रैमासिक

विषय-सूची

१. संज्ञान	सुरेन्द्र बारलिंगे	६१
२. भारतीय दार्शनिकों से	भीखनलाल आत्रेय	७४
३. सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक तर्क	रमाशंकर मिश्र	८०
४. सामान्यवाद	अभेदानन्द	९३
५. धार्मिक अनुभव का स्वरूप तथा धर्म-विज्ञान की संभावना	नन्दकिशोर	१०४
गोष्ठी : आत्मन् और अनात्मन्		
६. आत्मवाद एवं अनात्मवाद	रमाकांत त्रिपाठी	११५
७. आत्मन् और अनात्मन्	रघुनाथ गिरि	१२३
८. भारतीय दर्शन में आत्मन् और अनात्मन्	सरल झिंगरन	१३२
गोष्ठी : समकालीन भारतीय दार्शनिक परिस्थिति		
९. समकालीन भारतीय दार्शनिक परिस्थिति	राजेन्द्रप्रसाद पांडेय	१३८
१०. समकालीन भारतीय दार्शनिक परिस्थिति	या. मसीह	१५२

वार्षिक मूल्य : १५.००

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस अंक में अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के २०वें वार्षिक अधिवेशन की कार्यवाही के अध्यक्षीय और विभागाध्यक्षीय भाषण तथा गोष्ठियों में प्रस्तुत व्याख्यान प्रकाशित किये जा रहे हैं। दूसरी गोष्ठी का एक व्याख्यान इस अंक में प्रकाशित नहीं किया जा सका। अधिवेशन में प्रस्तुत अन्य निबन्धों में से प्रकाशन-योग्य निबंध अगले अंक में प्रकाशित किये जांयगे।

सम्पादक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष २१ अप्रैल १९७५ अंक २

संज्ञान*

सुरेन्द्र बारलिंगे

यद्यपि दार्शनिक लोग इस जगत् के परस्पर विरोधी स्पष्टीकरण देते आये हैं, जैसे "यह जगत् अचेतन और जड़ वस्तु है' या' यह जगत् चेतन (स्पीरीचुअल) है', फिर भी हमें इस जगत् में भिन्न स्वभाववाली घटनाएं मिलती हैं, इसमें संदेह नहीं है। यदि हम प्रतिवाद के लिए भी कुर्सी और उस पर बैठे मनुष्य को जड़ या चेतन किसी एक ही प्रकार की वस्तु मानें तो भी उन में कुछ भेद तो करना ही पड़ेगा। जैसे, कुर्सी पर बैठे मनुष्य से बातचीत की जा सकती है, लेकिन उस कुर्सी से किसी भी तरह का वार्तालाप नहीं हो सकती। कुर्सी तो उपयोगी है लेकिन स्वयं के लिए उपयोगी नहीं है। वह मनुष्य भी औरों के लिए उपयोगी नहीं हो सकता हैं परन्तु उसका स्व उपेक्षित नहीं किया जा सकता। वह अपने संकल्प से कुछ भी हो सकता है, प्रसन्न या अप्रसन्न हो सकता है, खुद के लिए किसी वस्तु की चाह भी कर सकता है। कुर्सी का बर्ताव इस तरह से नहीं होता। अतः मुलतः दोनों, कुर्सी और उस पर बैठा मनुष्य, चाहे किसी भी द्रव्य (तत्त्व) से बने हों, जड़ या चेतन, फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि मनुष्य और कुर्सी जैसी वस्तु में मौलिक भेद है। यह भेद कैसे होता है ? एक उत्तर है कि मनुष्य जीता है, वह चेतन है, जब कि कुर्सी न तो

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के रांची विश्वविद्यालय में २१–३० नवम्बर, १९७५ को सम्पन्न २०वें वार्षिक अधिवेशन के अध्यक्ष-पद से भाषण '

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीती है न उसे चेतनता है, यद्यपि दार्शनिक अभ्युपगम के द्वारा यह कहा जा सकता है कि कुर्सी भी चेतन है और वह चेतन अवयवों से बनी है। मनुष्य की यह चेतनता क्या चीज़ है? वह शरीर से स्वतंत्र है या उससे तदात्म है? देकार्त जैसे दार्शनिकों ने चेतना को ऐसा द्रव्य माना है जो स्वयं अस्तित्ववान् होता है। इसका अर्थ है कि ऐसे दार्शनिकों के अनुसार चेतना और जड़ शरीर पृथक् किये जा सकते हैं, याने, बिना शरीर के चेतना रह सकती है, और बिना चेतना के होते हुए शरीर का अस्तित्व है। दूसरे पर्याय का अनुभव मनुष्य की मृत्यु के समय होता है। अवश्य ही यह सच है कि मनुष्य की मृत्यु के समय उसकी चेतना नष्ट हो जाती है, लेकिन उसका शरीर नष्ट नहीं होता। लेकिन इस पर्याय से यह तो सिद्ध नहीं होता कि चेतना का अपने-आप में अस्तित्व है। पहले पर्याय का कोई अनुभव नहीं होता, लेकिन ऐसा प्रतिपादित किया जाता है कि आत्मा और भूत-प्रेत देह-विहीन अवस्था में अस्तित्व में रह सकते हैं और मृत्यु के उपरांत ऐसा अस्तित्व रहता है। यहां भी इस बात की ओर ज़रूर ध्यान देना चाहिए कि जो बहुत से लोग मृत्यु के बाद जीवन मानते हैं वे चेतना को लिंग शरीर या कारण शरीर जैसे किसी शरीर की उपाधि मानते हैं। प्रस्तुत लेख का उद्देश्य न तो एसे भूत-पिशाचों का अस्तित्व मानना है न निषेध करना है। इस तरह का खोज-कार्य तो कल्पनात्मक (स्पेकुलेटिव) तत्त्वमीमांसा (मेटाफिज़ीक्स) से संबन्धित है। हमारे अनुभव के आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि जब आदमी जीता है, उसके शरीर और चेतना एक-दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते, और वास्तव में लिंग-देह या कारण-देह में किया जाने वाला विश्वास इस अभ्युपगम की ही पुष्टि करता है। लिंग-देह या कारण-देह के अभ्युपगम के समर्थक सिर्फ यही बतलाते हैं कि यद्यपि स्थूल शरीर और चेतना में भेद किया जा सकता है, किन्तु चेतना को शरीर मात्र से पृथक् नहीं किया जा सकता। कम से कम सूक्ष्म शरीर को तो उससे अविलग ही रहना चाहिये। अतः अपने-आप में अस्तित्ववान् चेतना का अनुभव नहीं होता। अतएव, चेतना का अपने-आप में अस्तित्व है या नहीं हम इस बात पर विचार नहीं करेंगे। हम सिर्फ इतना ही भेद करेंगे कि किसी वस्तु की चेतना है और किसी वस्तु की चेतना नहीं है। कभी कभी यह, "चेतना अस्तित्व में है," इस प्रकार की क्रिया से तब व्यक्त की जाती है जब जब 'है' का प्रयोग सजीव वस्तुओं के साथ किया जाता है।

'चेतना' या 'चेतन' यह शब्द तो काफी संदिग्धता से प्रयोग में आता रहा है। एक तो इस शब्द से अमूर्तता की गंध आती है। जब हम कहते हैं कि मृत शरीर में चेतना नहीं होती। इसका अभिप्राय यह है कि मृत शरीर में चेतनता हो ही नहीं सकती। लेकिन जब कोई मूर्च्छित होता है तब भी हम कहते हैं कि वह अचेतन है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसमें चेतना नहीं है। लेकिन जब हम कहते हैं कि मुर्च्छित आदमी में चेतना नहीं होती तब हमारा यह अभिप्राय नहीं होता कि वह मृत है। वास्तव में एक तरह से हम उसमें चेतनता का होना स्वीकार करते हैं। दूसरी दृष्टि से हम उसमें चेतना पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पाते। फिर कौन से ऐसे भिन्न भिन्न अर्थ हैं जिनमें हम चेतना शब्द का व्यवहार करते हैं? जब आदमी मृत होता है और हम कहते हैं कि उसमें चेतना नहीं है, उसका मतलब है कि शरीर कोई ऐसी ज्ञानेन्द्रिय है जिसमें जीवन नहीं है (शरीर एक जीवन-विहीन ज्ञेन्द्रिय द्रव्य है)। जब आदमी मूर्च्छित होता है, हम समझते हैं कि न तो वह जान सकता है, न याद कर सकता है, न कामना कर सकता है, अर्थात् सचेत रूप में वह कुछ नहीं कर सकता है, यद्यपि वह सजीव है और उसके शरीर में कुछ क्रियाएँ बिना किसी रुकावट के हो सकती हैं। उदाहरण के लिए वह श्वसन करता है, उसके हृदय की गति अविरल रहती है और उसके फेफड़े आदि कार्यरत रहते हैं। इस प्रकार आदमी मूर्च्छित होने पर भी एक तरह से चेतन है, अर्थात् जीवित है। दूसरे शब्दों में आदमी चेतन है, और बिना जीवित हुए या चेतना के रहते हुए कोई भी चेतन नहीं कहला सकता है। लेकिन चेतन होना और सिर्फ कुछ मात्रा में चेतनता होना, इसमें अंतर है। इस प्रकार चेतन होना आदमी की संज्ञानता (अवेयरनेस) सूचित करता है। 'चेतना' या 'चेतन' इस शब्द के पहले प्रयोग का सिर्फ जैविक महत्व ही है तो दूसरा प्रयोग ज्ञानात्मक (इपिस्टेमिक) महत्व रखता है।

यह तो सर्वसम्मत ही होगा कि जब कोई मूर्च्छित होता है तब वह न तो जानता है और न यह जानता है कि वह जानता है या नहीं। अतः किसी के (१) जानने और (२) किसी के यह जानने कि वह जानता है, इन दोनों में भेद करना पड़ेगा। इसमें से दूसरे को ही कभी कभी आत्म-चेतन (सेल्फ-कांशसनेस) से अभिहित किया जाता है। यह तो कोई आवश्यक नहीं कि जब आदमी जानता है तब वह चेतन रूप से यह जानता है कि वह जानता है। लेकिन कभी कभी तो वह जानता है कि वह नहीं जानता है, या वह जानता है कि वह नहीं जानता है। अतः आदमी अपने जानने को जानता है इस बात की संभावना है। जब वह सिर्फ जानता है या किसी वस्तु का प्रत्यक्ष उसे होता है तब क्या उस दूसरी अवस्था, आत्मचेतना, का उसमें सपूर्ण अभाव ही रहता है? प्रायः ज्ञान की अवस्था या प्रत्यक्ष की अवस्थाएँ संकलित या मिश्रित (काम्प्लेक्स) होती हैं और ऐसी अवस्थाओं में अभिज्ञान (रिकोग्नीशन) का तत्त्व होता है। क्या अभिज्ञान में किसी की संज्ञान या अवगति (अवेयरनेस) गृहीत है? (इस स्मृति की स्थिति के बारे में भी प्रश्न हो सकता है: क्या, बिना किसी के चेतन हुए स्मृति हो सकती है?) जैसे अध्यवसाय को लीजिए। या इस अवस्था में (१) अहं या ज्ञाता, या (२) अहं या ज्ञाता का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान ये दोनों ही गृहीत हैं? देकार्त की युक्ति "मैं सोचता हूं, अतः मैं हूं" पहले पर्याय पर खड़ी रह सकती है। बिना अहँ के संज्ञान के अहँ हो सकता है? लेकिन यदि यह अहँ चेतनता से भिन्न नहीं है तो उस स्थिति में क्या हम यह कह पायेंगे कि हमारी चेतनता हमारे संज्ञान से रहित है? दूसरे शब्दों में, अगर किसी ज्ञान-अवस्था में अहँ गृहीत है और अगर अहँ संज्ञान से भिन्न नहीं है, तो क्या मैं यह कह सकता हूं कि अहँ है लेकिन यह अहँ ज्ञान-अवस्था में ज्ञात नहीं है? (क्योंकि, अहँ किसी सत्ताशास्त्रीय वस्तु को इंगित करने के बिना किसी ज्ञान-अवस्था को ही सूचित करेगा। ज्ञान के लिए सचेतन देह का गृहीत होना और अहँकार गृहीत होना इसमें भेद है। एक ही वस्तु का एक ही समय में ज्ञान होना और न होना संभव नहीं है)। मुझे ऐसा लगता है कि जब देकार्त ने कहा कि "मैं सोचता हूं अतः मैं हूं," तब उसके मन में शायद यह ज्ञान विषयक अहँ, याने संज्ञान ही था, यद्यपि उसके बदले में गलती से उसने सत्ताशास्त्रीय अहँ को स्वीकारा। सत्ताशास्त्रीय अहँ (याने जैविक चेतनता) को शरीर से अलग नहीं किया जा सकता। ज्ञानात्मक अहँ को शरीर से अलग करने का तो सवाल ही नहीं उठता। वस्तुतः सच बात तो यह है कि, जब मैं वस्तुओं के बारे में भी चेतन हूं, याने मैं उन्हें जानता हूं, अभिज्ञ हूं, क्या मैं वस्तुओं के बारे में इस अर्थ में भी चेतन हूं कि मैं उनके बारे में अवगत हूं, याने मैं जानता हूं कि मैं जानता हूं? लेकिन मैं अपने बारे में या चेतना के बारे में अवगत होऊं या नहीं होऊं किन्तु मेरी वस्तु विषयक चेतना अवश्य ही चेतनता को गृहीत समझती है। और इस चेतनता तथा संज्ञान इन दोनों को एक-दूसरे से पूरी तरह से भिन्न नहीं माना जा सकता। इसी कारण मैं अपनी चेतना के बारे में चेतन हूं और मैं अपनी चेतना से चेतन हूं इसके बारे में भी चेतन रहता हूं। लेकिन आप यह तो नहीं कह सकते कि इनमें आत्मा भिन्न-भिन्न है। अतः जबकि मेरा शरीर और मेरी जैविक चेतना इसमें भेद किया जा सकता है और मेरी जैविक चेतना तथा ज्ञानात्मक चेतना में भी भेद किया जा सकता है, मेरी ज्ञानात्मक चेतना मेरी जैविक चेतना से पूर्ण रूप में अलग और भिन्न नहीं मानी जा सकती। यह ज्ञानात्मक चेतना संज्ञान ही है और मेरी दृष्टि से यही आत्मचेतना का आधार है।

(अर्थात् हमें, आत्मचेतना (सेल्फकांशसनेस), चेतनता और चेतनता की ऐसी अंतिमवास्था कि जहां चेतना जीवित होना मात्र है, एक प्रकार से ऐसी अवस्थाओं में भेद करना चाहिए।

मुझे अपनी इस बात को और अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है: आदमी और अन्य प्राणियों में क्या अंतर है? इस प्रश्न को ही लीजिए। एक तरह से दोनों चेतन हैं, याने सजीव हैं। जहां तक प्रेरणाओं (ड्राइव्स) तथा वासनाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(अरजेज़) का प्रश्न है, आदमी और प्राणियों में कोई भेद दिखाई नहीं देता। भूख, काम वासना, भय तथा निद्रा आदि तो आदमी और प्राणियों के लिए एक-जैसी ही हैं। एक ही बात में महत्त्वपूर्ण भेद दिखाई देता है कि प्राणियों में होने वाली अंध प्रेरणा की जगह मनुष्य में अपनी क्रियाओं की जानकारी होती है। मनुष्य की ये क्रियाएँ प्रयोजनात्मक हैं। अन्य प्राणियों को ये नियुक्त करती हैं किन्तु मनुष्य इनका उपभोग करता है। ऐसा इन प्रेरणाओं के संज्ञान से होता है। इसी संज्ञान से उसे भूख या आनन्द का आधिक्य प्राप्त होता है। आदमी और प्राणियों में यह भेद इस तरह से दिखाया जा सकता है : पशु अपनी काम-वासना विशिष्ट काल में ही पूर्ण कर सकता है किन्तु आदमी किसी भी समय इसे कर लेता है उसी तरह, चाहे आदमी कामवासना से आकृष्ट हो किन्तु वह इसकी क्रिया से अपने को रोक भी सकता है। उसकी यह सामर्थ्य आत्मचेतन होने के कारण है। पशुओं में यह संज्ञान नहीं है, इसलिए वे अपने को कर्म करने से परावृत नहीं कर सकते। मनुष्य में विद्यमान चेतना का यह विशेष (अधिक) तत्त्व उसकी शिक्षा तथा अनुशासन में बहुत महत्व रखता है, और जब उनके अनुकूल समय आता है तब वह आदत से सीखी बातों को प्रयोग में लाता है। तोता और बच्चा दोनों को कुछ शब्द सिखाये जा सकते हैं। लेकिन कुछ देर बाद बच्चा, तोते के विपरीत, अपने सीखे शब्दों का औरों से बोलने के लिए प्रयोग कर सकता है। इस बात को और भी स्पष्ट करना आवश्यक है। अपने हाथ-पैर हिलाने वाले शिशु अवश्य ही चेतन हैं। मैं नहीं समझता कि इन क्रियाओं को आत्मचेतन क्रियाएँ कहा जायगा। हम यह भी देखते हैं कि बालक कभी कभी हँसता है। क्या यह असल में हँसना है या मात्र शारीरिक क्रिया है? क्योंकि, उसका हँसना इस बात की ओर तो लक्ष्य नहीं करता कि वह अपनी क्रिया के प्रति अभिज्ञ है, सुस्पष्ट सम्प्रेषण तो दूर की बात रही। कुछ अधिक आयु के किशोर से बालक की हँसी की तुलना कर देखिए। यह हँसी इस बात को सूचित करती है कि किशोर की हँसी संज्ञानपूर्वक है। इसलिए संप्रेरण, या ऐसी हँसी जो सिर्फ चेहरे की हलचल है और किसी तरह के संज्ञान से रिक्त है, ऐसी हँसी से भिन्न माननी चाहिए जो संज्ञानपूर्वक है।

दूसरी बात यह है कि किशोर न मात्र हँसता ही है बल्कि औरों को जानता भी है, पहचानता है और इसी को सूचित करने के लिए चेहरे की मुद्रा बदलता है। उसकी हँसी एक ऐसी ही क्रिया है। मानव-व्यवहार तथा पशुओं के व्यवहार के भेद को हम और भी विस्तार से कहेंगे। कभी-कभी हम कहते हैं कि बन्दर अनुकरण करता है या नकल उतारता है। यदि हम उसे अपनी जीभ दिखायें तो वह वही करता है, अगर दांत दिखायें तो तुरंत वह ऐसा ही करता है। शायद बन्दर अपनी क्रियाओं के प्रति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतन है। इसलिए जब कोई किसी के ढंग तथा आचरण का अनुकरण करता है तब हम कहते हैं कि वह बन्दर की तरह व्यवहार करता है—मर्कटचेष्टाएं करता है। किन्तु बंदर के अनुकरण की अभिनेता की क्रियाओं से तुलना करके देखें। कोई कहेगा कि अभिनेता भी अनुकरण करता है। लेकिन क्या अभिनेता के अभिनय तथा बन्दर के अनुकरण में कोई अन्तर नहीं है ? क्या हम बन्दर से अभिनय करा पायेंगे ? क्या आदमी के अतिरिक्त बन्दर या कोई भी पशु ढोंग कर सकेगा या झूठ बोल सकेगा ? मुझे यह अवश्य ही सूचित करना चाहिए कि अभ्यास-निर्धारित (कंडीशंड) क्रिया तथा चेतना से नियंत्रित क्रिया में हमें भेद करना चाहिए। कहा जाता है कि 'घोड़ा दौड़ता है,' यह नहीं कि वह दौड़-प्रतियोगिता लगाता है। पशुओं में होने वाली आत्मचेतना के उदाहरण कोई बता सकता है। लेकिन आदमी की आत्मचेतना तथा पशु की आत्मचेतना में महत्वपूर्ण अन्तर है। यदि गाय चाहे कि वह दूध न दे, तो ग्वाला दूध नहीं पायेगा। शायद इस बात को आत्मचेतना का उदाहरण माना जायगा। लेकिन आदमी के व्यवहार तथा गाय के व्यवहार में काफी भेद है। निश्चयपूर्वक कोई ऐसा नहीं कर सकता कि गाय को स्मृति है, ठीक आदमी जैसी स्मृति। अतः यह तो शंकास्पद ही है कि क्या गाय लम्बे अर्से के लिए ठीक एक तरह के व्यवहार में अपने को जुटा पायेगी ? किसी साधन या हथियार को उपयोग में लाने की संभावना भी हमारी जांच में उतना ही महत्व रखती है। यह शरीर नहीं बल्कि उससे पीछे वाली चेतना या संज्ञान ही साधन का उपयोग करने की क्षमता प्रदान करती है। अर्थात् कोई ऐसा भी कह सकता है कि पशु भी उपकरणों का इस्तेमाल करते हैं। मैक्डुगल अपने मनोविज्ञान में ऐसे तितैया की कहानी उद्धृत करता है जो उपकरण इस्तेमाल करता है। लेकिन साधन या उपकरण को उपयोग में लाने वाले तितैये और मानव में काफी अन्तर है। इसी प्रकार क्या पशु आत्महत्या करते हैं ? कुछ कुत्तों तथा बैलों की कहानियां सुनने में आती हैं जो अपने स्वामी की मृत्यु के पश्चात् जीवित नहीं रह पाते। लेकिन सवाल तो यह है कि क्या वे जानते थे कि वे क्या कर रहे हैं ? अजनबीपन (एलियनेशन) का बोध भी उतना ही जटिल है। (कल्पना कीजिए कि कोई आदमी सोचता है कि वह औरत है। किसी औरत को लिंगपरिवर्तन की चाह हो सकती है। ऐसी घटना भी बतायी जाती है कि कोई मत्स्य अपना लिंग बदल देता है। लेकिन यह तो निश्चयपूर्वक, बिना किसी हिचकिचाहट के, कहा जा सकता कि मत्स्य का यह कर्म उसके अपने प्रयत्न का फल नहीं है। आत्मचेतनता का निर्णय करने में सम्प्रेषण ही प्रमुख तत्त्व दिखायी देता है। उदाहरणार्थ, कोई पूछेगा कि तुम कैसे जानते हो कि वनस्पतियों में आत्मचेतना नहीं होती? मुझेलगता है कि यदि उनमें ऐसी चेतना होती तो हमें उसका पता चल जाता। मेरी धारणा है कि दो आत्मचेतन प्राणी सम्प्रेषण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने में समर्थ होते हैं : मनगढ़ंत कहानियों या परियों की कथाओं या दन्तकथाओं में पशुपक्षियों के संभाषण की बात कही जाती है। अगर सचमुच ही उनकी कोई भाषा होती तो, जैसे दो विभिन्न भाषाओं के लोगों में भी सम्प्रेषण होता है, पशु-पक्षियों तथा आदमियों में भी वैसा ही सम्प्रेषण होता। मैं यह नहीं कहता कि यह सर्वथा असंभव है। वैसे देखा जाय तो तोता और मनुष्य में थोड़ा सम्प्रेषण होता है। उसी तरह हमारा कुत्ते के साथ भी सम्प्रेषण हो सकता है। लेकिन इस तरह का सम्प्रेषण अत्यन्त प्राथमिक कोटि का है। अतएव ऐसा कहना चाहिए कि पशुओं का व्यवहार प्रायः सहज प्रवृत्त या वासनाप्रवृत्त हैं, जबकि मानव-व्यवहार अधिकतर आत्मचेतन है। उसका आत्मचेतन व्यवहार उसे अपने व्यवहार को नियंत्रित करने में समर्थ करता है। फिर भी मैं यह नहीं कहना चाहता कि इस नियन्त्रण और आत्मचेतनता में तादात्म्य है अथवा वे एक-दूसरे से भिन्न हैं। सहज प्रवृत्यात्मक या वासना-प्रवृत्यात्मक क्षुधाएं (इंस्टिंटिव ड्राइव्स) हमारे चैतन व्यवहार से या आत्मचेतना से संशोधित की जाती हैं। इसे हम संकल्प (विल) कहते हैं। बहरहाल, मैं मानता हूं कि यह नियंत्रण आत्मचेतना से अलग नहीं किया जा सकता। मैं ऐसा भी सोचता हूं कि आत्मचेतना का यह निरोधकत्व ही मनुष्य की स्वतन्त्रता का सार है, मूल है। सिर्फ इसी के कारण आदमी चयन कर सकता है, कामना कर सकता है तथा अभिलाषा या आकांक्षा कर सकता है, आत्मनिर्णय कर सकता है। योगसूत्र में पतञ्जलि योग को चित्तवृत्ति-निरोध कहते हैं। चित्त, चित्तवृत्ति तथा चित्तवृत्ति-निरोध इनमें होने वाले भेद को देखना उपयुक्त बात होगी। पहले, चित्त तथा वह जो चित्त नहीं है, उनमें अन्तर करना चाहिए। जो केवल जड़ द्रव्य है, जहां किसी भी रूप में चेतना की अभिव्यक्ति नहीं है, उसको हम अचेतन कहते हैं। चित्त, चित्तवृत्ति तथा चित्तवृत्तिनिरोध ये तीनों अवस्थाएं चेतना की अवस्थाएं हैं। लेकिन मात्र चित्त तो चित्तवृत्ति से भिन्न है। वनस्पति-जीवन को चित्त कहा जा सकता है, चित्तवृत्ति नहीं। वनस्पति में क्रोध, वासना, रति-क्रिया जैसी चेतना की विधायें दिखायी नहीं देती हैं। यह तो केवल प्राणियों में ही पायी जाती हैं। किन्तु प्राणी उन अवस्थाओं के अधीन होते हैं। प्राणियों का उन अवस्थाओं पर नियन्त्रण नहीं रहता। यह नियन्त्रण 'निरोध' शब्द से बताया गया है। भूखे आदमी को जो दिया गया है उसे वह खायेगा। लेकिन यदि उसकी अंतरात्मा को ठेस पहुंचे तो वह अनशन का निर्णय लेगा। जब महात्मा गांधी अनशन करते थे तब वे कोई बदहज़मी के कारण नहीं करते थे। उसी तरह, जब मैं कुछ भी नहीं लेना चाहता हूँ तब सभ्यता के नाते एकाध कप चाय ले लेता हूं। ये दोनों बातें प्राथमिक निरोध ही हैं। अतएव, मुझे लगता है कि निर्णायक इच्छा-परक संकल्प या निरोधपरक संकल्प और आत्मचेतना इनको पृथक्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्ध नहीं माना जा सकता, चाहे उनके कार्यों में भेद किया जा सके। यह बड़े मज़े की बात है कि अरस्तू ने ठीक इसी तरह का भेद किया है जब उसने मानव-जगत्, पशुजगत्, वनस्पति-जगत् तथा खनिज जगत् के बारे में कहा है। यह अवश्य जानना चाहिए कि यह वर्गीकरण वस्तुओं का है, संकल्पों का नहीं। जड़ या अचेतन जगत् को छोड़कर बाकी सभी जगत् में जड़ द्रव्य तथा चेतना एकत्र हैं और इसी कारण यह वस्तुगत-विभाजन (फिज़ीकल डिवीज़न) है, वर्गीकरण नहीं है, जैसा वर्गीकरण जड़ तत्त्व और चेतना को दो अलग द्रव्य मान कर देकार्त ने किया है। लेकिन यदि दो तत्त्व भिन्न-भिन्न रूप से अस्तित्व में नहीं हैं तो यह मात्र अमूर्तीकरण ही होगा। अब तक जो कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य के अनुभव के तीन स्तरों में चेतना के तीन प्रकार भी जुड़े हुए हैं, यद्यपि वे मात्र एक ही चेतना, जैविक चेतना, की अभिव्यक्तियां हैं। पहला है, जब आदमी को बाह्य जगत् का, बिना इसके संज्ञान या अवगति के, अनुभव होता है, दूसरा जब उसे अपनी आंतरिक अवस्थाओं का या बाह्य जगत् का संज्ञान है। अर्थात् उसका बाह्य जगत् के प्रति संज्ञान होना और इस संज्ञान का संज्ञान होना, इनमें कोई विशेष भेद नहीं है, जहाँ तक कि दोनों अवस्थाएं एक ही संज्ञान की ओर निर्देश करती हैं। स्वप्न की बात तो और भी जटिल है : स्वप्न में ऐसा लगता है कि हमें अनुभव का संज्ञान है। लेकिन जब हमारा स्वप्न खुल जाता है तब या तो हमें स्वप्न का कुछ अंश ही याद आता है या कुछ भी याद नहीं आता। लेकिन स्वप्नावस्था में या तो बाह्य पदार्थ अपूर्ण प्रतिभास देते हैं या बिल्कुल अस्तित्व में ही नहीं होते। जो भी हो, ऐसा कहा जा सकता है कि स्वप्नावस्था में ज्ञाता तथा ज्ञेय ये केवल चेतना की ही अवस्थाएं होती हैं। हमें तीसरी अवस्था मिलती है जब आदमी इस दृष्टि से चेतन है कि उसके बारे में बाह्य जगत् का प्रत्यक्ष संभव है, न कि इस अर्थ में कि उसे आंतरिक अनुभव प्राप्त है। जीवित आदमी के संबन्ध में ऐसी हालत तब आती है जब वह या तो गाढ़ निद्रा में हो या पूर्णतया अचेत-मूर्च्छित हो। इन तीन अवस्थाओं की कारण-मीमांसा में मुझे रुचि नहीं है, इतना जानना काफी है कि ये तीन अवस्थाएं होती हैं। पुनः, यद्यपि वे चेतना की अवस्थाएं हैं किन्तु अपने अस्तित्व के लिए ये शरीर पर निर्भर हैं। यदि इन तीनों अवस्थाओं का निषेध किया जाय तो जीवित मनुष्य तथा मृत मनुष्य में कोई भेद नहीं होगा। संक्षेप में, किसी भी तरह संज्ञान की संभावना ही हट जायगी। वहां सिर्फ वस्तुस्थिति (स्टेट ऑफ अफेयर्स) रहेगी, ज्ञान की अवस्था नहीं रहेगी। ज्ञान की अवस्थाएं अस्तित्व की अवस्थाओं में विलीन हो जांयगी।

अब तक के विवरण के संबंध में निम्नलिखित प्रकथनों का विचार किया जाय :—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१. यह फूल है।

२. मैं जानता हूं (कि) यह फूल है।

३. इस फूल को हासिल करने की मेरी कामना है।

४. मेरा निर्णायक संकल्प है कि ऐसा हो।

प्रथम प्रकथन "यह फूल है" यदि सच है तो यह ज्ञान-अवस्था का द्योतक है। इस अवस्था के सदृश कोई वस्तुस्थिति अवश्य होगी। जब कोई कहता है कि यह फूल है, तब वक्ता के मनस्पटल पर किसी प्रकार की छाप उठती है। लेकिन एक बात तो स्पष्ट दिखायी देती है कि फूल के होने की अवगति फूल के अस्तित्व से अलग है। यह भेद किसी तरह की सत्ताशास्त्रीय अवस्था तथा ज्ञानविषयक अवस्था के भेद को बताती है। जब कोई कहता है कि यह फूल है, अवश्य ही उसमें कथन के सत्य का दावा भी है। यह सत्य का दावा सत्ताशास्त्रीय अवस्था पर निर्भर है। पर, क्या वह ज्ञाता पर भी निर्भर नहीं है? मान लिया जाय कि जाननेवाला अपने ज्ञान के प्रति संज्ञानयुक्त नहीं है, क्या बिना यह माने कि ज्ञाता कुछ करता है, ज्ञान संभव है? क्या यह बात नहीं है कि तोते की क्रिया से ही यह ज्ञान-विषयक अवस्था उत्पन्न होती है? चाहे यह ज्ञान सत्ताशास्त्रीय अवस्था का केवल एक निष्क्रिय प्रतिबंध ही क्यों न हो, उ ज्ञेय वस्तु के ज्ञान से भिन्न मानना ही चाहिए। यदि वहां ज्ञाता तथा ज्ञेय का केवल सह अस्तित्व ही होता तो क्या वहां ज्ञान होता? किसी भी तरह से ज्ञेय की छाप ज्ञाता में प्रविष्ट होनी ही चाहिए, ज्ञाता का अंग बननी ही चाहिए। जो आदमी या तो गाढ़ निद्रा में सोया है या मूर्च्छित है, वह ज्ञेय के साथ तो रहता है लेकिन हम यह नहीं कहते कि वह ज्ञेय को जानता है। यद्यपि ज्ञान ज्ञेय से नियंत्रित है किन्तु यदि इस ज्ञेय को पटल पर अंकित किया जाय तो वह ज्ञान नहीं होगा। इस संपूर्ण अवस्था में ज्ञाता की भूमिका, वह कितनी भी छोटी क्यों न हो, उपेक्षित नहीं की जा सकती। बिना ज्ञाता की विशिष्ट क्रिया के ज्ञान संभव नहीं है। कम से कम संस्कार (इंप्रेशन) ग्रहण करने के लिए उसे अवधान (अटेन्शन) देना चाहिए। बिना अवधान के ज्ञेय का ज्ञाता से सम्बन्ध प्रस्थापित नहीं हो सकता, और जब तक ज्ञेय उस तरह से संबंधित नहीं होता, ज्ञान संभव नहीं होता। ज्ञाता का यह अवधान न तो उसका विशेषण है न विधेय। वह स्वयं ज्ञाता ही है। वह संज्ञान है। इसका क्या स्वरूप है? मुझे ऐसा लगता है कि क्रिया में कोई प्रयोजन या कोई उद्देश्य या कोई निर्देशन सम्मिलित है, चाहे इस अभिज्ञान के प्रति कोई संज्ञान न हो। इस संदर्भ में अवधान का अर्थ है एक के स्थान पर किसी दूसरे को चुनना। मैं सोचता हूं कि निर्णायक इच्छा या स्वतंत्रता का यही सार है। भले ही कोई अपने कार्य के प्रति, क्रियाओं के प्रति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा निर्णायक इच्छा के प्रति संज्ञानयुत न हो किन्तु वस्तु-प्रत्यक्ष की क्रिया में उसका कुछ तो प्राथमिक अंश अवश्य ही मौजूद होना चाहिये। (जब कोई सोचता है तब क्या होता है ? सोचने के लिए कोई विषय होगा, स्मृतिचित्र तथा संकल्पनाएं होंगी। परन्तु स्मृतिचित्र तथा संकल्पनाएं अपने में विचार-प्रक्रिया नहीं होंगे। अगर कोई उपयुक्त चयन तथा वरण है तो वहां विचार-प्रक्रिया है, अन्यथा वह मात्र स्वप्न है, मात्र कल्पनाओं की लंबी शृंखला है। यहां मैं यह नहीं कहना चाहता कि कल्पना की लंबी शृंखला या स्वप्न ये सब बिना किसी निर्देशन की घटनाएं हैं, और यदि वे अनिर्दिष्ट नहीं हैं तो इससे मेरा सिद्धान्त पुष्ट ही होता है।

जब कोई अपने ज्ञान के प्रति या स्वयं के प्रति अभिज्ञ होता है तब क्या होता है ? मान लें कि, मैं जानता हूं कि वह फूल है। इस आत्मचेतना का क्या स्वरूप है ? यह तो कोई संयोग की बात नहीं है कि मैं फूल के अस्तित्व के प्रति अभिज्ञ हूं। यह संज्ञान तो मेरे अवधान अथवा मेरी चेतना का निश्चयात्मक उदाहरण है। लेकिन अवधान तथा चेतना एक-दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते। अवधान ही आत्म-चेतना में चेतन बनाता है। इस बात को ऐसा भी कहा जा सकता है कि हम फूल विषयक अपने ज्ञान की और अवधान देते हैं। मेरी दृष्टि में यह अवधान-तत्त्व ही निर्णायक या संकल्प का तत्त्व है। या दूसरे शब्दों में कहा जाय तो आत्मा से निर्णायक इच्छा या चेतना को अलग नहीं किया जा सकता। उदाहरणतः, जब मैं कहता हूं कि मुझे किसी वस्तु की चाह या अभिलाषा है तब क्या होता है ? यहां सच का दावा बिल्कुल ग़ायब है। मैं सिर्फ इस बात के प्रति अभिज्ञ हूं कि मुझे कुछ प्राप्त करने की चाह है, चाहे वह वस्तु अस्तित्व में हो या न हो। यहां कुछ दावा किया गया है, लेकिन संज्ञान का या अवधान का दावा नहीं है। ज्ञाता ने चयन अवश्य ही किया है। अर्थात् यहां चेतन चयन का दावा है। इस अवस्था को विश्वास (बिलीफ) या श्रद्धा से संतुलित किया जा सकता है। विश्वास अवस्था में ऐसा लगता है कि चयन का दावा है लेकिन वह अचेतन है। अगर इस विश्वास के दावे को सच के दावे से पुष्ट किया जाय तो यह विश्वास का दावा अचेतन नहीं होगा और उसे विवेकपूर्वक विश्वासों या गृहीतों का स्थान प्राप्त होगा। यहां कामना-अवस्था की क्षुधा-अवस्था से तुलना करना ठीक होगा। क्षुधा-अवस्था में हमें अपनी भूख तथा खाद्य का संज्ञान होता है पर वहां चयन के लिए कोई अवकाश नहीं होता। वासनाएं या प्राथमिक प्रेरणाएं ही हमारे लिए चयन कर देती हैं। आदर्शवादियों की निर्णय-अवस्थाएं इस क्षुधा-अवस्था जैसी ही हैं। जब आपको निर्णय करना पड़ता है तब विशिष्ट निर्णय करने के बिना कोई विकल्प नहीं होता। जब मैं कोई चीज़ चाहता हूं तब मैं अपनी चाह के प्रति तथा अन्य वस्तुओं के प्रति भी सतर्क रहता हूं। और अन्य चीज़ों से मेरी चाह के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय की तुलना भी करता हूं, मूल्यांकन भी करता हूं, याने कि, जहां तक हो सके मेरी चाह का विषय मेरे लिए अच्छा है ऐसा समझ लेता हूं। सिर्फ इन बातों का सामान्यीकारण नहीं होता है। जो भी हो, जब मैं कोई चीज़ चाहता हूं, मेरी चाह काल और अवस्था से निर्धारित रहती है। और साधारणतया हम कह सकते हैं कि मेरी चाह का अर्थ मैं नहीं हूं। याने मेरी चाह मेरा स्वरूप नहीं है। वह मेरे लिए बाहरी हो सकती है। कामनाएं नित्य और निर्णायक नहीं होतीं। कामना में यदि कोई नित्य निर्णायक है तो वह मेरी निर्णायक इच्छा है। मरणासन्न आदमी अपनी वसीयत करता है। वह उसकी नित्य निर्णायक कामना का दस्तावेज़ है। संक्षेप में, निर्णायक इच्छा, कामना तथा संज्ञान में कोई अविरल एक अपना है, यद्यपि पूर्ण वस्तुनिष्ठ ज्ञान-अवस्था में यह संज्ञान या निर्णायक इच्छा का अंश अभिव्यक्त नहीं रहता। यही है वह निर्णायक तत्त्व जिसके कारण आदमी पशु तथा वनस्पति से भिन्न है। यद्यपि मैं यह नहीं कहता कि यह निर्णायक इच्छा या संज्ञान जड़ द्रव्य से भिन्न अपने आपके स्वरूप में अस्तित्व रखते हैं, किन्तु मुझे लगता है कि व्यक्तित्व के अन्य तत्त्वों से इसका भेद करना चाहिए और इसी तत्त्व को मैं आत्मा या अहं की संज्ञा देना चाहता हूं। मेरा विचार है कि आत्मन् कोई स्वतंत्र अस्तित्ववान् वस्तु नहीं हैं' यद्यपि इसका ज्ञानशास्त्र तथा समाज में महत्वपूर्ण स्थान है।

यह दुर्दैव है कि दार्शनिकों ने अहं या आत्मन् को पूर्णतया स्वतंत्र अस्तित्व वाली वस्तु मान कर तथा सत्ताशास्त्रीय स्वरूप देकर गूढ़ बना दिया है। मानव के अज्ञान के कारण ही यह गूढ़ता आ जाती है और मानव की धार्मिकता उसे तुरन्त स्वीकार कर लेती है। इसी कारण हम मृत्यु के बाद होने वाले जीवन तथा पुनर्जन्म में विश्वास कर लेते हैं और मानते हैं कि हमारा संचित और प्रारब्ध कर्म ही पुनर्जन्म को निर्धारित करते हैं। हम ऐसा भी मानते हैं कि यह कर्म तथा आत्मा मिलकर लिंग-देह बनता है और मृत्यु के बाद उसे (कर्मानुरूप) फल भुगतना पड़ता हैं, दंड या पुरस्कार मिलता है। इस तरह की अनेक कहनियां गरुड़ पुराण में पायी जाती हैं। लेकिन जहां आत्मा का विचार किया गया है ऐसे दर्शन-ग्रन्थों में भी शब्दों का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया जा सकता है। गौड़पाद कभी-कभी 'आत्मन्' को 'ब्रह्मन्' के ही अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। किन्तु आत्मचेतना का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है और जो सिद्ध होता है उसकी उपयुक्तता केवल ज्ञान-विषय क्षेत्र से संबधित है। मेरे कथन की पुष्टि के लिए बृहदारण्यक उपनिषद् से एक उदाहरण दिया जा सकता है: याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी के संवाद में दिखया गया है "आत्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति, न तु पत्युः कामाय"। सामान्यतया इसका अनुवाद किया जाता है कि हमारी आत्मा (स्पीरीट) की कामना की पूर्ति के लिए पति प्रिय होता है। (आत्मा को स्पीरिट या भूत कहकर अनूदित किया जाता है) आश्चर्य की बात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि यहां स्पीरिट या भूत कैसे टपक पड़ता है ? यह तो स्पष्ट है कि 'आत्मनः' इस सर्वनाम की षष्ठी विभक्ति है और इसे नाम वाचक नहीं माना जा सकता। आत्मन् में तथा अस्मत् में भेद है, यह भी समझना आवश्यक है। मैं इस तरह नहीं अनुवाद करूंगा कि "मेरी कामना के लिये पति प्रिय होता है।" मुझे तो अनुवाद करना चाहिए, "अपनी कामना पूर्ति के लिए पति प्रिय होता है।" संस्कृत में 'आत्मन्' और 'आत्मानम्' में भेद है। आत्मन्, यह यद्यपि प्रथम पुरुष का सर्वनाम है और मैं या अहं को सूचित करता है, लेकिन यह कोई विशेष (पर्टिकुलर) अंह या मैं नहीं है, वह कोई भी अहँ या मैं हो सकता है। किन्तु अस्मत् (मम) अहँ–मैं–को सूचित करता है, याने किसी विशेष अहँ को, लेकिन आत्मन् का स्थान तो सर्वनाम का है यह दार्शनिक भूल जाते हैं और उसे संज्ञा मान कर उसे सत्ताशास्त्रीय अस्तित्ववान् वस्तु मान बैठते हैं। जीव, चैतन्य, आत्मन्, साक्षी, विषयी, पुरुष, आनंद, रस, चेतना, अहँ जैसे कई तरह के शब्दों का हम भाषा में प्रयोग करते हैं। अगर हमें उलझनें हटानी हैं तो उनकी कोई निश्चित कल्पना ज़रूरी है और यह भी खोज लेना चाहिए कि किन शब्दों का ज्ञानशास्त्रीय महत्व है और किन का नहीं। मुझे ऐसा लगता है कि 'चैतन्य' तथा 'जीव' इन शब्दों का ज्ञानशास्त्रीय महत्व नहीं है, यद्यपि उन्हीं के आधार पर आत्मन्, साक्षी या आत्म-चेतन जैसी संकल्पनाए ज्ञान-क्षेत्र में अर्थपूर्ण बनी हैं।

मैं सोचता हूँ कि यह आत्मन्, अहँ या किसी प्रकार की आत्म-अवगति मनुष्य के क्रियाकलापों में बहुत महत्व रखती है। विश्वास करना, जानना, निर्णय करना, पसंद करना, देखना, अपेक्षा करना, मूल्यांकन करना ऐसे क्रियाकलाप हैं। मुझे लगता है तर्कशास्त्र, गणित, सौंदर्यशास्त्र तथा नीतिशास्त्र जैसे मानव-केन्द्रक शुद्ध शास्त्र भी इस अहं या आत्मचेतना की अभिव्यक्तियां हैं। **क्या संज्ञान और आत्मचेतना एक ही हैं।**

मेरी दृष्टि में चेतना और संज्ञान के विश्लेषण से आत्मचेतना का स्वरूप भी स्पष्ट होता है। आत्मचेतना केवल एक स्थिति की वाचक संज्ञा नहीं है, वह एक उत्क्रांत होने वाली संकल्पना है और वह जैविक चेतना, और जिसे सामान्यतया चेतना कहते हैं, उससे भिन्न है। एक अर्थ में आत्मचेतना तथा चेतना दोनों ही शरीर नामक किसी संगठन के कार्य हैं, अतः आत्मचेतना एवं चेतना शरीर पर अवलंबित हैं। आदमी जब मरता है तब यह बात स्पष्ट होती है, लेकिन यह एक ऐसी दशा है जब न चेतना, न आत्मचेतना दिखायी पड़ती है. किन्तु शरीर तो अवश्य ही दिखायी देता है। लेकिन जीवन के अन्य सब क्षणों में चेतना तथा आत्मचेतना शरीर के क्रिया-कलापों का मार्ग-निर्देशन करती नज़र आती हैं। शायद यही घटना है जिस के कारण लोग सोचने लगते हैं कि चेतना शरीर जैसा ही कोई द्रव्य है। और यद्यपि चेतना एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मचेतना में भेद है, लोग समझते हैं कि दोनों एक ही हैं। मेरा चेतना तथा आत्मचेतना को उनके आधारभूत शरीर से और उनको एक-दूसरे से भिन्न मानने का यह अर्थ नहीं है कि मैं उनको एक-दूसरे से पृथक् एवं स्वतंत्र मानता हूं। शरीर के बिना न चेतना रह सकती है न आत्मचेतना, लेकिन उसके माने यह नहीं कि चेतना, आत्मचेतना और शरीर इनका आत्मचेतना से नियंत्रित किया जाने वाला एक समग्र नहीं होता है। ज्ञाता स्वयं के बारे में सोचने लगता है तब वह आत्मचेतन होता है। किन्तु ज्ञान के बारे में सोचते समय भी उसका कुछ अंश तक आत्मचेतन होना आवश्यक है। वस्तुतः आत्मचेतना की अवस्था संज्ञान की अवस्था का ही परिपाक है। अर्थात् कोई पूछ सकता है कि ज्ञाता के आत्मचेतन हुए बिना ज्ञान संभव है या नहीं? अर्थात् कोई ऐसी भी युक्ति दे सकता है कि किसी प्रकार के ज्ञान के लिए यह आत्मचेतना अटकाव बनती है। लेकिन इस बात से तो इतना ही साबित होता है कि आत्मचेतना एक प्रकार की नहीं है और वह संज्ञान से परि-पुष्ट होती रहती है।

पूना विश्वविद्यालय, पूना

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय दार्शनिकों से

पद्मभूषण भीखनलाल आत्रेय

महामहिम राज्यपाल महोदय, सभापति महोदय, परिषद् के अध्यक्ष, श्री यशदेव शल्य तथा स्थानीय **मंत्री प्रो० श्रीवास्तव,**

मैं इस दर्शन परिषद् के कार्यकर्त्ताओं को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने मुझे अत्यन्त आदर व सम्मान के साथ इस अधिवेशन के लिए निमंत्रित किया है। वैसे तो मेरा सँबंध अखिल भारतीय दर्शन परिषद् से इसके आरम्भ से ही रहा है और इसके एक से अधिक अधिवेशनों पर औपचारिक तथा अनौपचारिक रूप से सभापति रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, पर इस अवसर को मैं परिषद् के अधिवेशन के सभापति होने से भी अधिक महत्त्व देता हूँ और यहां पर उपस्थित सभी लोगों का आवाहन करता हूं और धन्यवाद देता हूं।

श्री यशदेव शल्य जी ने अखिल भारतीय दर्शन परिषद् को स्थापित करके हिंदी भाषा व देश का बहुत उपकार किया है। इस कारण हमारे देश के बहुत से दार्शनिक नवयुवकों ने हिन्दी भाषा में दार्शनिक चिन्तन करना आरम्भ कर दिया है और कुछ उत्तम ग्रन्थों को भी जन्म दिया है। इसलिये मैं शल्य जी को देश की एक बहुत महान् विभूति समझता हूं और उनके प्रति मेरा अतुल आदर है।

दर्शन क्या है, और भारतीय दर्शन की सबसे बड़ी देन क्या है, यह विचारणीय विषय है।

दर्शन का अर्थ है जीवन व विश्व की महान् व गहनतम समस्याओं को समझने का प्रयत्न करना। यह प्रयत्न बुद्धि द्वारा पूर्ण स्वतंत्रता के साथ करना है। अब प्रश्न यह उठता है कि जीवन व विश्व की समस्याओं को समझने लिए दर्शन के अतिरिक्त और कई प्रयत्न होते आये हैं और हो रहे हैं, उनमें से एक संसार के सभी धर्म हैं और दूसरे आधुनिक युग के अनेक विज्ञान हैं। इनमें और दर्शन में क्या भेद है? संसार के सभी धर्म किसी शास्त्र या धर्म-प्रवर्त्तक के वचनों में अंधविश्वास

* परिषद् के २० वें अधिवेशन से अवसर पर रांची विश्वविद्यालय द्वारा मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करके उनके द्वारा जीवन और विश्व को समझने के प्रयत्न हैं और जितने भी आधुनिक विज्ञान हैं वे सभी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त किये हुए ज्ञानों के समन्वय हैं। हाँ, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान में बहुत से ऐसे वैज्ञानिक यंत्र भी हैं जो उनके ज्ञान को गहरा और विस्तृत करते हैं, जैसे दूरदर्शी व सूक्ष्मदर्शी यंत्र आदि। इन्द्रियों के ज्ञान से परे क्या वस्तु है इसका पता वैज्ञानिकों को नहीं है। इस विश्व का परिचालन किस शक्ति द्वारा हो रहा है और इसका क्या मुख्य उद्देश्य है? उसका क्या आदि-अन्त है? मनुष्य में अन्तिम तत्त्व क्या है? जीवन का अन्तिम उद्देश्य क्या है, मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है? इस विश्व की तह में ईश्वर नामक कोई तत्त्व है या नहीं, मृत्यु क्या है? मृत्यु के पश्चात् क्या होता है? ये सभी प्रश्न ऐसे हैं जिनका उत्तर अभी तक कोई भौतिक विज्ञान नहीं दे पाया। धर्मों के उत्तर तो भिन्न-भिन्न हैं और वे केवल अन्धविश्वास और श्रद्धा वालों को ही सन्तुष्ट कर सकते हैं। धर्म में बुद्धि का अधिकार नहीं है।

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में यद्यपि बुद्धि ने पूर्ण रूप से अपनी उचित भूमिका निभायी फिर भी आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में बहुत असन्तोषजनक स्थिति है और बेहद मतभेद है। आवश्यकता इस बात की है कि हम यह भलीभांति समझ लें कि विश्व के सम्बन्ध में हम किस आधार पर स्वतन्त्रतापूर्वक बुद्धि द्वारा विचार कर सकते हैं। इसका उत्तर तो हमको भारतीय दर्शन के एक मूलभूत सिद्धान्त में मिलता है और वह यह कि हम विश्व को समझने से पहले मनुष्य को, जो हम स्वयं हैं, समझने का प्रयत्न करें। इस महान् विश्व की सर्वश्रेष्ठ कीर्ति जो हमें मालूम है वह है मनुष्य का व्यक्तित्त्व। भारत में यह बात भलीभांति परिचित है: 'यत् पिण्डे तत् ब्रह्मांडे' अर्थात् जो तत्त्व मनुष्य के शरीर में हैं वे ही ब्रह्मांड में हैं। भारतीयों ने मनुष्य को समझने का बहुत बड़ा प्रयत्न किया था और वह था आंतरिक ज्ञान, ध्यान और योगाभ्यास। इन साधनों के द्वारा भारतीयों ने यह जान लिया था कि मनुष्य केवल भौतिक देह ही नहीं बल्कि इसमें सूक्ष्म और कारण शरीर भी हैं, और उन्होंने यह भी जान लिया था कि मनुष्य साधना के द्वारा अपने ज्ञान को बहुत विस्तृत व पैना कर सकता है। जैन दार्शनिकों ने यह जान लिया था कि जीवों में केवल इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति ही नहीं है बल्कि और अद्भुत् तरह के ज्ञानों को प्राप्त करने की शक्ति भी है, जैसे,मनःपर्याय (टेलीपेथी) अर्थात् एक मन द्वारा दूसरे मनों के विचारों को जानने की शक्ति और अवधि (क्लेयरवोयेंस) अर्थात् दूर पर स्थित और छिपी हुई वस्तुओं का ज्ञान और केवल ज्ञान (ओमनीशियेंस), सर्वज्ञत्व अर्थात् विश्व में कहीं भी जो कुछ हो रहा है उसे जानने की शक्ति। हमारे प्राचीन शास्त्रों में इस प्रकार के ज्ञानों का और योग द्वारा प्राप्त अनेक प्रकार की सिद्धियों व शक्तियों का जहां-तहां बहुत वर्णन मिलता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़े सौभाग्य की बात है कि पाश्चात्य देशों में भी मनुष्य की अलौकिक शक्तियों और अनेक प्रकार के ज्ञानों की खोज हो रही है। सन् १८८२ में इंगलैंड में एक परिषद् का संगठन हुआ था जिसका उद्देश्य मनुष्य सम्बन्धी अलौकिक ज्ञान व क्रिया-शक्तियों का विशेष अध्ययन करना था। प्रायः सौ वर्ष के लगभग हो गये हैं और अब एक नवीन विद्या बन गयी है जिसका नाम पराविद्या या परामनोविज्ञान है।

इस विद्या की खोजों का दर्शन के लिये बहुत महत्त्व है। इसकी परिषद् की खोजों ने मनुष्य की अलौकिक ज्ञान–शक्ति के अनेक प्रकार प्रकट किये हैं जैसे :—

(१) मनःपर्याय—दूर बैठे-बैठे एक मनुष्य को दूसरे के मन के विचारों का ज्ञान।

(२) इन्द्रियेतर प्रत्यक्ष–अर्थात् बिना इन्द्रियों का प्रयोग किये हुए इन्द्रियों का ज्ञान।

(३) क्लेयरवोयेंस–गुप्त तथा दूर घटित होने वाली घटनाओं का ज्ञान।

(४) साइकोमीट्री—किसी वस्तु के छूने या देखने पर उसको जिन–जिन व्यक्तियों ने पूर्व काल में प्रयोग किया है उनके स्वभाव तथा आचार-व्यवहार का ज्ञान।

(५) डाउलिंग—पृथ्वी के तल के नीचे बहने वाले पानी के चश्मों का ज्ञान।

(६) एक्स-रे क्लेयरवोयेंस–अर्थात् शरीर के अन्दर के अंग-प्रत्यंगों का प्रत्यक्ष की नाईं ज्ञान।

(७) टेली-काइनेसिस- अर्थात् केवल मन की शक्ति द्वारा ही बाहर की जड़ वस्तुओं में गति पैदा कर देना और उनको अपने पास बुला लेना अथवा अपने से दूर भेज देना या उनमें इधर-उधर जाने की गति पैदा कर देना।

इन सब ज्ञानों में देश और काल का कोई बंधन नहीं है। सुदूर भूतकाल में घटित घटनाओं का भी ज्ञान हो सकता है। भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं का घटित होने से पहले ही ज्ञान हो सकता है और इनमें दूरी का भी कोई बंधन नहीं है। मन की ये शक्तियाँ दूरी पर भी उतना ही काम करती है जितना कि समीप के विषयों के संबंध में। इस परिषद् ने यह भी जान लिया है कि मृत प्राणियों के शरीर भी दिखायी पड़ सकते हैं जिनको हम भूत–प्रेत कहते हैं और वे अल्पकाल के लिए शरीर बन जाते हैं और अन्तर्धान हो जाते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे भी मिले हैं जो कुछ समय के लिए ध्यानावस्थित (Trance) होकर मृत प्राणियों के साथ संबंध पैदा कर सकते हैं और उनके द्वारा जीवित प्राणियों के लिए संदेश ग्रहण कर सकते हैं। इस परिषद् की खोजों से यह पता चलता है कि मरने पर व्यक्ति का सर्वनाश या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब प्रकार से अन्त नहीं हो जाता। उसके अन्दर कोई ऐसा तत्त्व होता है जिसको सूक्ष्म शरीर कहते हैं और वह मृतक भौतिक देह को छोड़कर कहीं परलोक में रहता है और इस विश्व में ही एक ऐसा सूक्ष्म स्तर है जहां पर हमारे पूर्वज (मृत-प्राणी) वास करते हैं और जिसके साथ हमारा सम्पर्क हो सकता है। इसी तरह की और बहुत सी अद्भुत् नयी खोजें इस परिषद् ने की हैं जिनकी अवहेलना कोई दार्शनिक नहीं कर सकता। आधुनिक दार्शनिकों को इन सभी खोजों को ध्यान में रखकर अपने दर्शन का निर्माण करना चाहिये। अब तक किसी भी भारतीय दार्शनिक ने परा-मनोविज्ञान की खोजों का दार्शनिक समन्वय करने का प्रयास नहीं किया है। जब भारतीय दार्शनिक परा-मनोविज्ञान का भली-भाँति अध्ययन करेंगे तो उनको यह प्रकाश मिलेगा कि प्राचीन भारतीय दर्शन में कितनी सच्चाई थी।

भारतीय दार्शनिकों से मेरा कुछ और भी अनुरोध है। पहली बात जो मैं कहना चाहता हूं वह यह है कि उनको अपने दार्शनिक सिद्धातों को आधुनिक वैज्ञानिक और बौद्धिक ढंग से और सबकी समझ में आने वाली भाषा में लिखना चाहिए। हमारे दर्शन में बहुत गहरी और वैज्ञानिक बातों को भी ग्रामीण और बच्चों की भाषा में रखा गया है। उदाहरण के लिये सांख्य दर्शन के सत्कार्यवाद, प्रकृति–पुरुष का सिद्धान्त दार्शनिक रीति से प्रतिपादित नहीं किये गए हैं। यह कहना कि घड़ा मिट्टी में या दही दूध में पहले से ही मौजूद है, कितना ऊटपटांग लगता है? हां, यह कहा जा सकता है कि मिट्टी में घड़ा तो नहीं है पर घड़ा बनने की योग्यता है। प्रकृति और पुरुष का संबंध लगड़े और अन्धे के संबंध के सदृश कहना बिल्कुल दार्शनिक नहीं है। सांख्य कहता है कि प्रकृति और पुरुष का संसर्ग होने से सृष्टि उत्पन्न होती है लेकिन कहीं भी यह नहीं बताया गया है कि सांख्य के अनेक और असंख्य पुरुषों में से किस पुरुष के संसर्ग से सृष्टि उत्पन्न होती है जैन दर्शन में जीवात्मा, जिसका रूप आध्यात्मिक है, कैसे पुद्गल कणों को, जो सर्वथा भौतिक हैं, अपने अन्दर आकर्षित कर लेता है, और बंधन में पड़ जाता है, जबकि वह स्वयं नित्य मुक्त, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है? अद्वैत दर्शन में भी ब्रह्म और मायाका संबंध बहुत अदार्शनिक ढंग से निश्चित किया गया है। भारतीय दार्शनिकों का आधुनिक युग में कर्तव्य यह है कि अपने दर्शन में जो अंधेरी खाई है उसको दार्शनिक ढंग से पाटें और इस प्रकार अपने दर्शन को ऐसी भाषा में प्रस्तुत करें जिससे विश्व का प्रत्येक व्यक्ति, चाहे पाश्चात्य हो चाहे भारतीय, उसे समझ सके व अपना सके। दर्शन में भारतीयपन और पाश्चात्यपन कोई अर्थ नहीं रखते। दर्शन की समस्याएं विश्व–व्यापी और सार्वभौम हैं, उनको समझने और समझाने का प्रयत्न विश्वव्यापी रीति से होना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि हम भारतीय दर्शन के सरलतम और मूलभूत सिद्धान्तों को बौद्धिक और वैज्ञानिक ढंग से समझने का प्रयत्न करें और यदि वे खोज की कसौटी पर सत्य उतरते हैं तो उन सिद्धान्तों को विश्व के दार्शनिक प्रवाह में अनुस्यूत कर उनके लिए सर्वमान्यता प्राप्त करें। मूलभूत सिद्धान्तों में कुछ ये हैं :–

(१) मनुष्य के अन्दर इन्द्रियां, मन, प्राण और बुद्धि से परे और गहरी एक अविनाशी आत्मा है और उसमें ज्ञान और क्रिया की अनन्त शक्तियाँ हैं जिनके कारण उसको ब्रह्म या विश्वात्मा भी कहा गया है।

(२) मनुष्य केवल भौतिक शरीर ही नहीं है जिसका मृत्यु के पश्चात् नाश हो जाता है, बल्कि उसके भीतर सूक्ष्म और कारण शरीर जैसे भी तत्त्व हैं जो कि शारीरिक मृत्यु से बचे हुए हैं।

(३) पुनर्जन्म का सिद्धान्त—कुछ व्यक्ति, या बहुत से व्यक्ति, मरने के पश्चात् फिर इस लोक में जन्म लेते हैं और कुछ को पूर्वजन्म की स्मृतियां भी रहती हैं।

(४) कर्मफल का सिद्धान्त—मनुष्य जो अच्छे–बुरे कर्म करता है उसका फल अवश्य ही भविष्य में भुगतना पड़ता है। अवश्यमेव ही भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्—यह भारतीय संस्कृति का एक बहुत मान्य और प्रचलित मूलभूत सिद्धान्त रहा है। इसके ऊपर जिस प्रकार और जितनी खोज हो वह सब थोड़ी है।

(५) जिस प्रकार मनुष्य के अन्दर तीन शरीर और पांच कोश हैं उसी प्रकार विश्व में भी भौतिक, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम् अनेक स्तर हैं और उसमें भी मनुष्य की नाईं एक आत्मा है जिसको विश्वात्मा या ब्रह्म कहा जाता है। इन सूक्ष्म स्तरों में देवी–देवताओं और प्रेतात्माओं का निवास स्थान है। इसलिये विश्व को समझने के लिए केवल भौतिक साधन पर्याप्त नहीं हैं उसे योगसाधन द्वारा समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

(६) यह विश्व केवल अन्धाधुन्ध भौतिक परमाणुओं का संगठन और विघटन नहीं है और न ही इसका कोई नियामक है और न कोई उद्देश्य; बल्कि भारतीय दर्शन के अनुसार विश्व का रचने वाला, चलाने वाला और न्याय-पूर्वक प्रबन्ध करने वाला एक ईश्वर है जिसके साम्राज्य में कुछ अन्याय नहीं हो सकता।

(७) योग द्वारा सिद्धियां कैसे प्राप्त होती हैं और वे क्या-क्या हैं, इसको जान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेना और समझ लेना बहुत आवश्यक है। योग और उससे प्राप्त होने वाली सिद्धियां भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम और मूलभूत सिद्धांत हैं।

ये सब भारतीय दर्शन और संस्कृति के मूलभूत सिद्धांत हैं जिनका अन्वेषण और जिनकी परीक्षा करना हम सभी भारतीयों का कर्त्तव्य है, यदि हम भारतीय संस्कृति को सबल व जीवित रखना चाहते हैं।

आत्रेय निवास, वाराणसी

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सैद्धान्तिक एवं-व्यावहारिक तर्क*

रमाशंकर मिश्र

सर्व प्रथम मैं अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की कार्यकारिणी समिति के प्रति आभार प्रकट करना चाहता हूं जिसने मुझे दर्शन परिषद् के मंच से बोलने एवं तर्क-शास्त्र तथा वैज्ञानिक पद्धति विभाग की अध्यक्षता करने का गौरव प्रदान किया। मैं परिषद् एवं परिषद् की कार्यसमिति का हृदय से आभारी हूँ। यह स्पष्टीकरण दे देना भी उचित होगा कि मैं नहीं समझता कि मैं तर्कशास्त्र अथवा वैज्ञानिक पद्धति के क्षेत्र में अधिकारपूर्वक बोल सकता हूँ। अतएव जिस विषय पर मैं बात करूंगा उसे सम्भवतः तर्कशास्त्र या वैज्ञानिक पद्धति का मुख्य विषय नहीं माना जायगा। परन्तु उम्मीद करता हूं कि जिस विषय पर मैं बोलने जा रहा हूं विद्वज्जन उसे नितान्त निरा-धार भी नहीं मानेंगे।

(१)

प्रस्तुत निबन्ध में मैं, तर्क से हमारा क्या अभिप्राय होता है, इस प्रश्न पर अपने विचार प्रस्तुत करूंगा। दार्शनिक-साहित्य के इतिहास की समीक्षा की जाय तो हम पायेंगे कि विभिन्न दार्शनिक स्कूलों में तर्क के स्वरूप को अलग-अलग तरीके से विवेचित किया गया है। किन्तु, यहां मेरा उद्देश्य दर्शन में तर्क के स्वरूप की समीक्षा करना नहीं है। न मेरा प्रयोजन तर्क के स्वरूप के सम्बन्ध में किसी विशिष्ट मत का खण्डन- मण्डन करना ही है। मेरा सीमित उद्देश्य, साधारणतः तर्क से क्या प्रयोजन होता है, इसको समझना है। बिना किसी दार्शनिक वाद का सहारा लिए हुये, यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि प्रज्ञानात्मक क्रिया के किसी भी क्षेत्र में तर्क का प्रयोग किया जाता है। अमुक बात तर्कसंगत है, अमुक निर्णय के पीछे कोई ठोस तर्क नहीं है, अमुक व्यक्ति कुतर्की है, अविश्वास का प्रस्ताव पास हो जाने पर सरकार का इस्तीफा दे देना तर्कसंगत है, इत्यादि, वाक्यों में विभिन्न

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के रांची विश्वविद्यालय में ७-३० अक्तूबर १९७५ को आयोजित २०वें वार्षिक अधिवेशन में तर्क एवं वैज्ञानिक पद्धति विभाग के अध्यक्ष पद से भाषण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चीजों के तर्कसंगत होने या नहीं होने का दावा किया गया है । तर्क के साथ बात करना, तर्क के साथ निर्णय लेना, तर्क के साथ कार्य करना, आदि की अपेक्षा हम स्वयं अपने से एवं दूसरों से करते हैं । दूसरे शब्दों में, कथनों की तर्कसंगति को तो परखते ही हैं, परन्तु यह भी प्रतीत होता है कि कार्यों की तर्कसंगति का भी मूल्यांकन करते हैं । तर्क से हमारा क्या अभिप्राय है ? प्रश्न को उठाने में मेरा आग्रह उपर्युक्त दो क्षेत्रों में तर्क के प्रयोग के भेद को समझना है । किसी कार्य को करने या नहीं करने के लिए जिस प्रकार हम तर्क देते हैं क्या वह किसी कथन को स्थापित या विस्थापित करने के लिए दिये गये तर्कों से प्रत्ययात्मक रूप में भिन्न होते हैं ? यदि ऐसा है तो इस भिन्नता का स्वरूप क्या है ? यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मैं समस्या को प्रस्तुत कर रहा हूँ उसमें यह स्वीकारोक्ति निहित है कि **कथनों को स्थापित या विस्थापित करने के लिए तर्क दिये जाते हैं**, जबकि यह बात स्वयं में प्रश्नमूलक हो सकती है कि हम तर्क कथनों को स्थापित करने के लिए देते हैं, या किसी अन्य चीज के संदर्भ में । जहां तक समस्या के प्रस्तुतीकरण में इस स्वीकारोक्ति के निहित होने की बात है, उसे मैं मानता हूं । आगे कुछ विस्तार से इसकी व्याख्या करूंगा । तर्क के प्रयोग के उपर्युक्त दो क्षेत्रों (कथनों को स्थापित करने के लिए एवं कार्यों के करने के लिए) मैं तर्क के स्वरूप की कथित भिन्नता का पूर्वाग्रह न धारण करते हुए भी, चर्चा में सुगमता के दृष्टिकोण से हम उन तर्कों को, जो किसी कथन को स्थापित करने के लिए दिये जाते हैं, सैद्धान्तिक तर्क, एवं वे जो किसी कार्य को करने या नहीं करने के लिए दिये जाते हैं, उन्हें व्यावहारिक तर्क कहेंगे । ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अगर देखा जाय तो हम पायेंगे कि कुछ अपवादों को छोड़कर प्राचीनकाल से ही विचारकों ने किसी न किसी रूप में सैद्धान्तिक-व्यावहारिक तर्क के भेद को माना है । उदाहरणार्थ, अरस्तू के व्यावहारिक सिलोजिज़्म के मूल में सैद्धान्तिक ज्ञान (इपिस्तेम), एवं व्यावहारिक प्रज्ञान (फ्रोनेसिस) का भेद है, एवं सैद्धान्तिक ज्ञान तथा व्यावहारिक प्रज्ञान के अनुरूप सैद्धान्तिक तर्क एवं व्यावहारिक तर्क का भेद भी निहित है । इसी प्रकार, यद्यपि कान्ट ने व्यावहारिक तर्क को ही तर्क विशिष्ट माना, जोकि मानव के नैतिक व्यवहार में परिलक्षित होता है तथा जिसका सर्वव्यापी सामान्यीकरण किया जा सकता है, तथापि सैद्धान्तिक-व्यावहारिक का भेद वहां भी मौजूद है । इस ऐतिहासिक परम्परा का एक मुख्य अपवाद ह्यूम हैं जो इस भेद को नहीं स्वीकारते, क्योंकि उनके अनुसार किसी कार्य को करने या न करने के लिए तर्क दिया ही नहीं जा सकता । उनके विचार में, तर्क सत्य-फलक होता है । तर्क से स्वभावतः सत्य फलित होता है[1], एवं चूंकि किसी कार्य को सत्य या असत्य नहीं कहा जा सकता है, अतएव कार्य के

१, ए ट्रिटाइज़ आफ ह्यूमन नेचर, बुक १, भाग ४, पृ. १८, सेलबी बिग एडिशन.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए तर्क नहीं दिये जा सकते हैं। समकालीन साहित्य में तो कई विचारकों ने इस भेद को स्वयंसिद्ध सा मान लिया है। सैद्धान्तिक-व्यावहारिक तर्क के भेद की ऐतिहासिकता को ही यदि इसके औचित्य का आधार मान लिया जाय तो सम्भवतः इस विषय पर किसी वाद-विवाद की आवश्यकता नहीं होगी, परन्तु चूंकि इस भेद से सम्बधित एवं इसके संदर्भ में कुछ प्रत्ययात्मक समस्याएं उठती हैं, अतएव इस भेद को स्वीकारने के लिए महज़ इसकी ऐतिहासिकता यथेष्ट नहीं है।

इसके पहले कि हम इस चर्चा को और आगे बढ़ाएं, विषय-चयन सम्बन्धी एक स्पष्टीकरण दे देना आवश्यक लग रहा है। साधारणतः बोलचाल की भाषा (हिन्दी) में 'तर्क' शब्द उतना प्रचलित नहीं है जितना कि, उदाहरण के लिए अंग्रेजी में, रीज़न शब्द। अतः अपने परिवेश में तर्क जैसे विषय को दार्शनिक चर्चा का विषय चुनना कुछ अटपटा लग सकता है। यह कहा जा सकता है कि मैं एक बाहरी (दार्शनिक) परिवेश की समस्या को अपने दार्शनिक परिवेश में घुसेड़ रहा हूं। मैं यहां दार्शनिक परिवेश की भिन्नता से इन्कार नहीं करना चाहता, और यह भी मानता हूं कि प्रत्येक शब्द की अपने भाषागत सांस्कृतिक परिवेश के प्रति एक विशिष्ट प्रतिबद्धता होती है। परन्तु किसी भाषा में किसी शब्द के कम प्रचलित होने का अर्थ यह नहीं निकाला जा सकता कि उस भाषा में उस शब्द द्वारा व्यक्त प्रत्यय विशेष का ही अभाव है। किसी प्रत्यय की व्याख्या, विवेचना कदाचित् भाषा के माध्यम से होती है, किन्तु वह उस भाषा पर आधारित नहीं होती है। यदि ऐसा होता है तो वह दार्शनिक विवेचना नहीं होगी। वस्तुतः तर्क का प्रयोग हिन्दी भाषी भी करते हैं जिस प्रकार से किसी अन्य भाषा के बोलने वाले, भले ही उसका भाषागत अभिधान भिन्न-भिन्न हो। अतएव, तर्क की दार्शनिक विवेचना हमारे परिवेश में उतनी ही सटीक है जितनी कि किसी अन्य परिवेश में।

तर्क के स्वरूप को समझने में सुविधा होगी यदि हम, तर्क का प्रयोजन क्या होता है, यह समझने का प्रयास करें। तर्क के माध्यम से हम पुष्टीकरण करते हैं। पुष्टीकरण भाषा के माध्यम से किया जाता है, अतः स्पष्ट है कि तर्क का प्रस्तुतीकरण भाषा के माध्यम से होता है। प्रश्न उठता है कि हम किन चीज़ों का पुष्टीकरण करते हैं एवं यह पुष्टीकरण किस प्रकार किया जाता है। मात्र इतना कह देना ही यथेष्ट नहीं होगा कि हम पुष्टीकरण तर्क देकर करते हैं। किसी चीज़ का पुष्टीकरण करने से तात्पर्य उसे सत्यापित करने से होता है। अतः मुख्य प्रश्न यह है कि किसी चीज़ का किसी चीज़ का तर्क मानने का आधार क्या होता है? परन्तु इसके पहले कि हम इस प्रश्न का उत्तर देवे, आवश्यक है कि हम इस सम्बन्ध में स्पष्ट हो लें कि पुष्टीकरण किया किन चीज़ों का जा सकता है। ऊपर हमने कहा था कि पुष्टीकरण से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा अभिप्राय सत्यापन करने से होता है। अतएव, पुष्टीकरण हम उन्हीं चीज़ों का कर सकते हैं जिनका सत्यापन किया जा सकता है—वे चीजें जिनको सत्य या असत्य द्वारा मूल्यांकित किया जा सके। जो है, अथवा जो नहीं है, उसका सत्यापन नहीं किया जा सकता। 'जो है' अथवा 'जो नहीं है' से मेरा अभिप्राय तथ्य से है। फलतः तथ्य का सत्यापन नहीं किया जा सकता है। तथ्य वास्तविक सत्ता के अस्तित्वपरक भी होते हैं। वे न तो सत्य होते हैं और न ही असत्य। हां, इन तथ्यों का वर्णन या प्रतिनिधान सत्य या असत्य हो सकता है। प्रतिनिधान की सत्यता असत्यता उस पर निर्भर करेगी जिसका कि प्रतिनिधान वह है। दूसरे शब्दों में, सत्यापन केवल प्रतिज्ञप्तियों का किया जा सकता है। इस प्रकार जिसका पुष्टीकरण किया जाता है एवं जिसके माध्यम से पुष्टीकरण किया जाता है दोनों ही प्रतिज्ञप्तियां होती हैं। किसी चीज़ के तर्क के रूप में उसे ही दिया जा सकता है जो सत्य या असत्य हो सके। अतः, किसी तथ्य को तर्क के रूप में नहीं दिया जा सकता है। यहां, तथ्य एवं तथ्य के कथन की स्वीकृत भिन्नता को ध्यान में रखना आवश्यक है। किसी तथ्य का कथन सत्य या असत्य हो सकता है।

परन्तु कहा जा सकता है कि प्रतिज्ञप्तियां स्वयमेव तर्क का विषय नहीं होती हैं। जो चीजें सत्य या असत्य हो सकती हैं वे स्वयं में ऐसी चीजें नहीं होतीं जिनके लिए तर्क दिया जा सके। प्रतिज्ञप्तियों का हम कथन करते हैं, उन्हें स्वीकारते हैं, अस्वीकारते हैं, उनकी सत्यता पर विश्वास या अविश्वास करते हैं, इत्यादि। तर्क का विषय किसी प्रतिज्ञप्ति के प्रति व्यक्त किसी व्यक्ति की उपर्युक्त प्रतिक्रियाऐं होती हैं। कोई प्रतिज्ञप्ति तर्क का विषय बनती है जब उसका किसी के द्वारा कथन किया जाय, उसे स्वीकार या अस्वीकार किया जाय, उस पर विश्वास या अविश्वास किया जाय इत्यादि। अतएव, तर्क का वास्तविक उद्देश्य प्रतिज्ञप्ति का पुष्टीकरण करना नहीं होता है। बल्कि, उसका उद्देश्य किसी प्रतिज्ञप्ति के सम्बन्ध में उपर्युक्त शब्दों द्वारा निर्दिष्ट प्रतिक्रियाओं के औचित्य को स्थापित करना होता है। यहां, जहां तक तर्क के संदर्भ की बात है, वह मानी जा सकती है। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि तर्क के द्वारा किसी प्रतिज्ञप्ति के प्रति व्यक्त प्रतिक्रियाओं के औचित्य को स्थापित किया जाता है, ग़लत होगा। वस्तुतः किसी व्यक्ति द्वारा किसी चीज को स्वीकारना या उस पर विश्वास करना उसकी मनः-स्थिति का द्योतक है। एवं, मनः-स्थिति तर्क द्वारा संचालित नहीं होगी। कदाचित् मनोवैज्ञानिक स्तर पर उन कारणों का उल्लेख किया जा सकता है जिनकी वजह से कोई व्यक्ति किसी विशेष प्रतिक्रिया को व्यक्त करता है। परन्तु यह कारण व्यक्ति की प्रतिक्रिया का तर्क नहीं होगा। यह ठीक है कि हम इस प्रकार के वाक्यों का अभिकथन करते हैं, जैसे कि,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमुक बात को मानने का आधार अमुक है, या अमुक बात पर विश्वास करने का कारण अमुक है। किन्तु जिन बातों को आधार रूप में दिया जाता है उनका उद्देश्य उसे स्थापित करना होता है जिस बात को माना गया है या जिस बात पर विश्वास किया गया है, नकि व्यक्ति के विश्वास या उसकी स्वीकृति को स्थापित करना। तार्किक दृष्टिकोण से किसी प्रतिज्ञप्ति के स्वीकृत या अस्वीकृत, विश्वसनीय अथवा अविश्वसनीय होने का औचित्य इस पर निर्भर करता है कि वह प्रतिज्ञप्ति तर्कसंगत है अथवा नहीं। अतः, किसी बात पर विश्वास करने या उसे स्वीकारने के लिए दिये गये तर्क का उद्देश्य वस्तुतः उस बात का पुष्टीकरण करना होता है जिसे स्वीकारा या जिस पर विश्वास किया गया हो।

वस्तुतः तर्क का चारित्रिक प्रतिमानक प्रयोग युक्तियों में होता है। युक्ति से हमारा अभिप्राय प्रतिज्ञप्तियों की उस शृंखला से होता है जिसमें प्रयुक्त कुछ प्रतिज्ञप्तियों के आधार पर बची हुयी प्रतिज्ञप्ति (यों) को अनुमित करने का दावा किया जाता है। जिस प्रतिज्ञप्ति को अनुमित किया जाता है उसे युक्ति का निष्कर्ष एवं जिन प्रतिज्ञप्तियों से निष्कर्ष को अनुमित करते हैं उन्हें युक्ति का आधारवाक्य कहते हैं। यदि युक्ति का निष्कर्ष वास्तव में युक्ति के आधार–वाक्यों के द्वारा स्थापित होता है, तो उन्हें निष्कर्ष का तर्क मानते हैं। दूसरे शब्दों में, तर्क निष्कर्ष को स्थापित करने वाले सबूत का वर्णन होते हैं। अनुमान से मेरा अभिप्राय केवल निगमनात्मक अनुमान के विशिष्ट सीमित अर्थ से नहीं है। यहां अनुमान के व्यापक अर्थ से तात्पर्य है जिसमें निगमनात्मक एवं आगमनात्मक अनुमान के दोनों रूप निहित हैं। यदि युक्ति के आधारवाक्य युक्ति के निष्कर्ष को तर्कतः आपादित करते हैं तो अनुमान निगमनात्मक होगा। प्रकारान्तर से, यदि युक्ति के अनुरूप सोपाधिक प्रतिज्ञप्ति तार्किक सत्य है तो अनुमान निगमनात्मक होगा। एवं, यदि युक्ति के आधार वाक्य निष्कर्ष के सम्भावित सत्य को स्थापित करते हैं तो अनुमान आगमनात्मक होगा। परन्तु, उपर्युक्त से यह निष्कर्ष निकालना कि किसी प्रतिज्ञप्ति को ही उस प्रतिज्ञप्ति के तर्क के रूप में दिया जा सकता है, क्यों कि कोई भी प्रतिज्ञप्ति स्वयं से भी आपादित होती है, ग़लत होगा। यदि मैं अपने इस कथन को 'कि सिग्रेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है, के तर्क के रूप में कहूं क्योंकि सिग्रेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है, तो हास्यास्पद होगा। पुष्टीकरण का अर्थ यह नहीं होता कि जिस कथन का पुष्टीकरण किया जाना है, उसे ही दुहरा दिया जाय। 'यदि सिग्रेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है तो सिग्रेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है,' वस्तुतः सत्य तो है किन्तु इससे, सिग्रेट पीना स्वास्थ के लिए हानिकारक होता है, का सत्य स्थापित नहीं होता है। जब हम किसी कथन प को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थापित करने के लिए फ को तर्क के रूप में देते हैं, तो फ के प का तर्क होने के लिए इतना ही यथेष्ट नहीं है कि प फ से आपादित हो, क्योंकि किसी तर्कतः असत्य प्रतिज्ञप्ति से किसी भी प्रतिज्ञप्ति को अनुमित कर सकते हैं। अतः, यह भी आवश्यक है कि फ सत्य हो।

संक्षेप में, तर्क प्रतिज्ञप्तियों के पुष्टीकरण हेतु दिये जाते हैं एवं पुष्टीकरण का तात्पर्य प्रतिज्ञप्ति को सत्यापित करने से होता है। यदि दिये गये तर्कों से प्रतिज्ञप्ति अनुमित होती है एवं दिये गये तर्क वास्तव में सत्य हैं तो वे उस प्रतिज्ञप्ति को स्थापित करेंगे, वे प्रतिज्ञप्ति के तर्क होंगे, अन्यथा नहीं। परन्तु उपर्युक्त विवेचन में कुछ कृत्रिमता-सी झलकती है। ऊपर युक्ति-विश्लेषण के आधार पर ही तर्क की व्याख्या की गयी है। यह कृत्रिमता और भी अखरने वाली हो उठती है यदि इस विवेचन में निहित इस सम्भावना की ओर ध्यान दिया जाय कि कोई तर्क किसी कथन के लिये तर्क हो सकता है, भले ही तर्क के रूप में कोई उसे जाने या न जाने, क्योंकि प्रतिज्ञप्तियों के पारस्परिक सत्य-सम्बन्ध इस बात पर निर्भर नहीं करते कि वे किसी के द्वारा जाने जाते हैं। उनके अनुभव-निरपेक्ष होने का यह एक मुख्य आशय होता है। तर्क के संदर्भ-वर्णन के अभाव में विवेचन का कृत्रिम होना सम्भवतः स्वाभाविक भी है। अतः इस आलोचना से मैं इन्कार नहीं करूंगा। किन्तु, उपर्युक्त विवेचन का उद्देश्य सीमित था। वहां हमने तर्क के प्रतिमानक रूप पर ही विचार किया है। वस्तुतः जिस प्रकार के संदर्भों में हम तर्क देते हैं, या तर्क की मांग करते हैं, वहां किसी चीज़ को किसी चीज़ के तर्क के रूप में देने के लिए आवश्यक है कि उसे तर्क के रूप में जाना जाय। 'बारह नवम्बर को प्रधान मंत्री कानपुर जाएंगी क्योंकि वहां उन्हें उस दिन एक फैक्ट्री का शिलान्यास करना है।' यहां 'बारह नवम्बर को प्रधानमन्त्री कानपुर में एक फैक्ट्री का शिलान्यास करेंगी,' को बारह 'नवम्बर को प्रधानमंत्री कानपुर जायेंगी,' के तर्क के रूप में दिया जा सकता है केवल यदि मुझे मालूम हो कि उस दिन प्रधानमंत्री को कानपुर में एक फैक्ट्री का शिलान्यास करना है। यह कहा जा सकता है कि मैं जो कुछ अब कह रहा हूं और जो कुछ मैंने पहले कहा था उसमें परस्पर सामंजस्य नहीं है। हो सकता है कि ऐसा लगे। किन्तु असामंजस्य सतही है, वास्तविक नहीं। आगे मैं इसको स्पष्ट करने का प्रयत्न करूंगा। यहां इतना कह देना सम्भवतः यथेष्ट होगा कि तर्क का प्रतिमानक रूप, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है, वही सामान्यतः प्रज्ञानात्मक-संदर्भों में तर्क की कसौटी होता है।

तर्क की मांग हम कब करते हैं? तर्क-संदर्भों की विविधता के कारण इस प्रश्न का कोई सामान्यीकृत उत्तर देना सम्भव नहीं है। साधारणतः, जब हमें किसी कथन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सत्यता के प्रति संदेह होता है, अथवा हम उसकी सत्यता के प्रति निश्चित नहीं होते हैं, तो ऐसे आधार को खोजते हैं जो हमारे संदेह को दूर कर सके तथा कथन की सत्यता-असत्यता निश्चित कर सके। किसी कथन की सत्यता के प्रति संदेह या उसकी सत्यता के प्रति अनिश्चितता की स्थिति हो सकती है चाहे वह मेरा अपना कथन हो या किसी अन्य का। किन्तु, इससे मेरा यह मतलब कदापि नहीं है कि किसी कथन के लिये तर्क की मांग केवल तभी की जा सकती है जब हम उसके प्रति संदिग्ध हों। हम अक्सर पूछते हैं: आप ऐसा क्यों सोचते हैं? या, आप ऐसा क्यों कहते हैं? इत्यादि। इस प्रकार के प्रश्न पूछने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि जिस कथन या विचार के सम्बन्ध में यह प्रश्न पूछा गया है उससे प्रश्नकर्ता असहमत हो ही। असहमति हो भी सकती है और नहीं भी। जैसे कि, यदि मैं अपने मित्र से यह पूछूं कि उसके यह कहने का आधार क्या है कि रूस और अमरीका के पारस्परिक तनावपूर्ण सम्बन्धों में सुधार होने से ग़रीब देशों का शोषण और बढ़ेगा, तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मैं अपने मित्र के इस कथन से असहमत हूं। मेरे प्रश्न का उद्देश्य यह है कि मैं उससे उसके इस कथन का आधार जानना चाहता हूं। दूसरे शब्दों में, इसका पुष्टीकरण चाहता हूं। और इस कथन का पुष्टीकरण मेरी सहमति या असहमति पर निर्भर नहीं करता है।

मेरे प्रश्न के उत्तर में मेरा मित्र जो कहता है ज़रूरी नहीं है कि उससे इस कथन का पुष्टीकरण होता ही हो। किसी कथन के पुष्टीकरण के संदर्भ में निम्नांकित भेद को ध्यान में रखना आवश्यक है: उपर्युक्त नामांकन के प्रभाव में इस भेद को 'तर्क का होना' एवं 'तर्क का देना' पदों से निर्दिष्ट किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, 'सिग्रेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होता है' कथन को लीजिए। अपने इस कथन के पुष्टीकरण हेतु जो तर्क मेरा मित्र देता है, ज़रूरी नहीं है कि वे उसके कथन को स्थापित करते ही हों। ऐसा कहने के लिए ही उसके पास तर्क है, किन्तु यदि वे तर्क वस्तुतः इस कथन को स्थापित करने में असमर्थ हैं तो वास्तव में वे तर्क नहीं हैं। अमुक बात कहने के लिए मेरे पास अमुक तर्क हैं, एक चीज़ है। यदि प फ का तर्क है तो प का फ के लिए तर्क होना व्यक्ति-सापेक्ष नहीं है। कदाचित् यह अलग बात है कि मैं प को फ के तर्क के रूप में तभी दे सकता हूं जब मैं यह जानता होऊं कि प फ का तर्क है। आया कि प फ, का तर्क है या नहीं, यह निर्णय करने की कसौटी तर्क का चारित्रिक प्रतिमानक रूप होगा जिसका उल्लेख मैंने ऊपर किया था। यदि प से फ का सत्य सम्भावित सत्य अनुमित होता है एवं प वस्तुतः सत्य है तो प फ का तर्क होगा, अन्यथा नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३

तो क्या किसी कार्य को करने के लिये तर्क नहीं दिये जा सकते हैं ? ऊपर सैद्धान्तिक तर्क के स्वरूप की जो व्याख्या की गयी है उसमें तर्क का विषय प्रतिज्ञप्तियों को माना गया है, एवं चूंकि तर्क तथा कर्म की तार्किक कोटियां एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं अतः निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कार्य के लिये तर्क नहीं दिया जा सकता। परन्तु, इस बात को गम्भीरता से प्रतिपादित करना दार्शनिक प्रगल्भता होगी क्योंकि कार्य के सम्बन्ध में तर्क दिये जाते हैं, इसको नकारना वास्तविक वस्तुस्थिति का निषेध करना होगा। तो फिर, क्या कर्म के सम्बन्ध में दिये गये तर्क का वही स्वरूप होता है जो किसी प्रतिज्ञप्ति को स्थापित करने वाले तर्क का ? इस प्रश्न का कोई सीधा-सादा उत्तर 'हां' या 'न' में देना भ्रामक हो सकता है। बहुत हद तक इस प्रश्न का उत्तर इस बात से भी प्रभावित होगा कि हम कर्म के स्वरूप की व्याख्या किस प्रकार करते हैं। परन्तु विषयान्तर होने के कारण यहां पर इस समस्या को उठाना उचित नहीं होगा। संक्षेप में, अपरिष्कृत तरीके से इतना कहना चाहूंगा कि कर्म-स्वातंत्र्य की संतोषजनक व्याख्या कर सकना मुश्किल होगा यदि हम यह नहीं स्वीकारते कि कार्य के संदर्भ में तर्क दिये जाते हैं। 'उसने अमुक कार्य अपनी स्वतन्त्रता से किया' मुहावरे में निहित धारणा की व्याख्या, "उसके पास अमुक कार्य करने के लिये तर्क थे," द्वारा करना अधिक उपयुक्त होगा-ऐसा मेरा विश्वास है। किन्तु इसके लिये यहां मैं कोई तर्क नहीं दूंगा।

अतः, कर्म एवं तर्क के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण प्रश्न यह नहीं है कि आया कार्य के लिये तर्क दिये जा सकते हैं या नहीं। जैसाकि ऊपर कहा गया है, कार्यों के संदर्भ में तर्क दिये जाते हैं—यह एक यथार्थ है। इस संबन्ध में ह्यूम की इस धारणा को, कि कार्य के लिये तर्क नहीं दिये जा सकते, नितान्त शाब्दिक अर्थ में ले लेना भ्रान्तिमूलक होगा। वस्तुतः उनकी यह धारणा तर्क एवं कर्म के सम्बन्ध में उनके विशिष्ट मत पर आधारित है। एक तो, तर्क के सैद्धान्तिक रूप को ही उन्होंने तर्क का मूलभूत स्वरूप माना। दूसरे, उनकी ज्ञानमीमांसिक व्यवस्था में कर्म का मौलिक अस्तित्व है।[२] वे तार्किक सम्बन्धों में प्रवेश नहीं कर सकते। एवं, चूंकि तर्क तथा कर्म में कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं हो सकता है अतएव कर्म को तर्क से अनुमित नहीं किया जा सकता है। तर्क पूर्णतः जड़ होता है, किसी कार्य को करने या न करने के लिये प्रेरित कर सकने मे सर्वथा निष्क्रिय।[३] ह्यूम के इस मत में क्या कहा गया है एवं क्या नहीं कहा गया है, उसे ध्यान में रखना आवश्यक है।

२. वही, पृष्ठ ४५८
३. वही, पृष्ठ ४५७–८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त से यह निष्कर्ष निकालना कि ह्यूम के अनुसार कर्म के क्षेत्र में तर्क की कोई भूमिका ही नहीं हो सकती है, ग़लत होगा। तर्क स्वयं से तो सर्वथा निष्क्रिय है परन्तु मनुष्य के मनोवेगों अथवा मनोभावों के साथ मिलकर कर्म को प्रभावित कर सकता है, इसका निषेध उन्होंने नहीं किया।[४] मेरा उद्देश्य ह्यूम के मत का मूल्यांकन करना नहीं है, अतः बजाय उनके मत की विस्तृत व्याख्या करने के संक्षेप में उनके मूल तर्क[५] को निम्नांकित युक्ति के माध्यम से प्रस्तुत किया जा सकता है:

(१) किसी चीज़ को तार्किक सम्बन्ध में प्रविष्ट करने के लिये आवश्यक है कि उसका सत्यापन किया जा सके।

(२) कर्म का सत्यापन नहीं किया जा सकता है।

(३) यदि य, र का तर्क है तो र तार्किक सम्बन्ध में प्रविष्ट होता है।

(४) य, र का तर्क हो सकता है यदि, एवं केवल यदि, य से र तर्कतः अनुमित होता है।

(५) अतएव, किसी कार्य के लिये तर्क नहीं दिये जा सकते हैं, वह तर्कतः अनुमित नहीं होता है।

उपर्युक्त में यह ध्यान देने योग्य है कि इसके आधारवाक्य (१)–(४), एक-दूसरे से तर्कतः स्वतन्त्र हैं। अतः यह सम्भव है कि इनमें से कुछ को स्वीकार किया जाय परन्तु कुछ को नहीं स्वकारा जाय। (१)–(४) के सम्बन्ध में कम से कम चार विरोधी वैकल्पिक दृष्टिकोण अपनाये जा सकते हैं जिसके आधार पर (५) को स्वीकार या अस्वीकार किया जा सकता है।

(अ) यह सम्भव है कि उपर्युक्त में (२), (३) एवं (४) को तो मान लिया जाय परन्तु (१) को न माना जाय। (५) को स्थापित होने के लिये वस्तुतः (१) आवश्यक है। किन्तु यह कहा जा सकता है कि अभिव्यक्तियों के बीच तार्किक सम्बन्ध होने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उनका सत्यापन किया जा सके। उदाहरण के लिये, हेअर के अनुसार आदेशात्मक अभिव्यक्तियां परस्पर व्याघाती या सगतिपूर्ण हो सकती हैं[६], परन्तु उनका सत्यापन नहीं किया जा सकता है। एवं यदि हेअर के इस मत को कि किसी कार्य के निर्णय में आदेश अनुलग्न होता है[७], को मान लिया जाय तो इसका अभिप्राय होगा कि कार्य करने के लिये तर्क दिये

४. वही, पृष्ठ ४१४–१८.
५. वही, पृष्ठ ४५३–५८.
६. लैंग्वेज आफ़ मारल्स, १९५२, पृ० २३.
७. उपर्युक्त, पृष्ठ १६३–७९.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकते हैं, कार्य–वर्णन को आधार-वाक्यों से तर्कतः अनुमित किया जा सकता है।

(ब) दूसरा विकल्प यह हो सकता है कि (१), (३) एवं (४) को स्वीकार कर लिया जाय परन्तु (२) को नहीं। (२) के स्थान पर यदि माना जाय कि किसी कार्य की योजना सत्य या असत्य हो सकती है, जैसाकि कई विचारकवस्तुतः मानते हैं[८], तो (२) के इस विकल्प का तथा (१), (३) एवं (४) के आधार पर (५) का निषेध किया जा सकता है।

(स) तीसरे विकल्प के रूप में ह्यूम की इस धारणा का ही निषेध किया जा सकता है कि तर्क का सैद्धांतिक रूप ही उसका असली स्वरूप है। यह कहा जा सकता है कि किसी कार्य के लिये तर्क दिये जा सकते हैं, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कार्य एवं उसके तर्क में अनुलग्न संबन्ध है। दूसरे शब्दों में (१), (२), (३) को तो माना जाय परन्तु (४) को अस्वीकार कर दिया जाय।[९]

(द) चौथा विकल्प वह हो सकता है जो मूल रूप में ह्यूम के मत में विद्यमान है। व्यक्ति के मनोवेगों के साथ मिलकर तर्क कार्य को प्रभावित कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, (१)–(५) को मान लेने के बावजूद, यह कहा जा सकता है कि कर्म के संदर्भ में तर्क किसी कार्य को करने या न करने के लिये व्यक्ति को मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रभावित करने–हेतु व्यवहृत होते हैं।[१०]

अतः तर्क एवं कार्य के सम्बन्ध में विवाद का विषय यह नहीं है कि किसी कार्य को करने के लिये तर्क दिये जा सकते हैं या नहीं, जो विवादास्पद विषय है, वह विषय कार्य एवं कार्य के लिये दिये गये तर्क के पारस्परिक सम्बन्ध का है। उनके बीच अनुलग्नता सम्बन्ध है अथवा किसी अन्य प्रकार का सम्बन्ध? ऊपर जिन विरोधी वैकल्पिक दृष्टिकोणों का संक्षिप्त हवाला दिया गया है उनकी पारस्परिक लड़ाई का एक मुख्य केन्द्र यही प्रश्न है। (अ) एवं (ब) में उल्लिखित दृष्टिकोण का आग्रह है कि किसी कार्य–निर्णय एवं उसके तर्क में विश्लेषणात्मक सम्बन्ध होता है, दूसरे शब्दों में तर्क से कार्य–निर्णय अनुलग्न होता है। इसके विपरीत, (स)

८. इस मत की ज़ोरदार वकालत कुट बायर की पुस्तक "द मारल आफ़ ट्यू, १९५८ में देखने को मिलती है।

९. स्टीफेन टूलमिन की पुस्तक, रीज़न इन एथिक्स, १९५० में इस मत की विस्तृत व्याख्या की गयी है।

१०. स्टीवेन्सन की पुस्तक एथिक्स एण्ड लैंग्वेज १९४४ में इसका विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया गया है कि तर्क किस प्रकार कर्म को मनोवैज्ञानिक स्तर पर प्रभावित कर सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा (द) में उल्लिखित दृष्टिकोण के अनुसार तर्क एवं कार्य-निर्णय में अनुलग्न सम्बन्ध नहीं होता। मेरा मतलब यह नहीं है कि (अ) एवं (ब), या (स) एवं (द) में परस्पर विरोधाभास नहीं है। कदाचित् इनकी विस्तृत व्याख्या एक-दूसरे से भिन्न होगी। जैसेकि (अ) तथा (ब) के बीच का मुख्य विरोध उल्लिखित युक्ति के आधारवाक्य (२) के संदर्भ में है। (अ) के अनुसार कार्य-निर्णय सत्य या असत्य नहीं हो सकते हैं, परन्तु इसके विपरीत (ब) के अनुसार उनका सत्यापन किया जा सकता है। इसी प्रकार, जहां एक ओर (स) तर्क एवं कार्य-निर्णय में विश्लेषणात्मक सम्बन्ध का निषेध करते हुए भी स्वीकार करता है कि तर्क से कार्य को अनुमित किया जा सकता है, वहां दूसरी ओर (द) तर्क एवं कार्य-निर्णय में विश्लेषणात्मक सम्बन्ध होने का निषेध तो करता ही है, परन्तु साथ में इसका भी निषेध करता है कि कार्य को तर्क से अनुमित किया जा सकता है। (द) के अनुसार तर्क कार्य को केवल प्रभावित कर सकते हैं।

कार्य एवं कार्य के लिये तर्क के पारस्परिक सम्बन्ध के संदर्भ में दिये गये उपर्युक्त विकल्पों के बारे में कुछ और कहने के पहले, व्यावहारिक तर्क के दो पहलुओं को अलग कर लेना आवश्यक है। व्यक्ति अ ने किसी कार्य प को किया, इस संदर्भ में दो प्रकार के प्रश्न पूछे जा सकते हैं: अ ने प को क्यों किया ? एवं, क्या अ द्वारा प का किया जाना उचित था ? दूसरे प्रश्न का उद्देश्य स्पष्टतः अ द्वारा प को किये जाने का औचित्य देखना है। प को करना क्या उचित था ? इस प्रश्न की मांग उन तर्कों की मांग है जो प को किये जाने के औचित्य को दिखला सकें, ऐसे तर्क जो कार्य-औचित्य को प्रतिपादित करें। परन्तु, प को किये जाने के औचित्य-प्रतिपादन से स्वतंत्र, पहले प्रश्न का उद्देश्य यह जानना है कि अ द्वारा प घटित किये जाने का कारण क्या है। उदाहरण के लिये, कल्पना कीजिये कि आप संगीत-सभा में बैठे बैठे ऊंघने लगते हैं और थोड़ी देर में खर्राटे भर कर सोने लगते हैं। परन्तु अचानक हड़बड़ा कर आप उठ बैठते हैं क्योंकि आप के बगल की कुर्सी में बैठे सज्जन ने आपको ज़ोर से चुटकी काट ली है। सम्भवतः आप अवाक होंगे कि बगल वाले सज्जन ने ऐसा क्यों किया ? आप अपने साथ किये गये इस अचानक व्यवहार को समझ नहीं पाते हैं। पूछने पर आपको ज्ञात होता है कि आपके खर्राटों से उन सज्जन के संगीत-श्रवण में व्याघात हो रहा था, वह आपको जगाना चाहता था, इसलिये आपको जगाने के लिये उन्होंने आपको चुटकी काटी। इस तरह आपको यह स्पष्ट हो जाता है कि उन सज्जन ने आपको चुटकी क्यों काटी ? वह आपको जगाना चाहते थे इसलिये उन्होंने आपको चुटकी काटी। यहां, चुटकी काटे जाने के तर्क के रूप में जो कहा गया है वह कार्य के औचित्य को प्रतिपादित नहीं करता है, बल्कि वह उस कारण का उल्लेख करता है जिसकी वजह से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन सज्जन द्वारा चुटकी काटना घटित हुआ। दूसरे शब्दों में, वह कार्य की व्याख्या करता है। इस प्रकार व्यावहारिक तर्क से दो तात्पर्य हो सकते हैं: औचित्य-प्रतिपादक तर्क एवं व्याख्यात्मक तर्क।

अतः, कार्य एवं कार्य के लिये तर्क में परस्पर क्या सम्बन्ध होता है? इस प्रश्न का अर्थ-निर्वचन एक-दूसरे से भिन्न दो प्रश्नों से किया जा सकता है: कार्य एवं कार्य के औचित्य-प्रतिपादक तर्क में क्या सम्बन्ध होता है? तथा, कार्य एवं उसके व्याख्यात्मक तर्क में क्या सम्बन्ध होता है? आवश्यक नहीं है कि जो सम्बन्ध कार्य एवं उसके प्रतिपादक तर्क में होता है वही सम्बन्ध कार्य एवं उसके व्याख्यात्मक तर्क के बीच भी घटित होता हो। मेरे विचार में, इन दोनों के बीच में मौलिक अन्तर है। किसी कार्य के व्याख्यात्मक तर्क वे होते हैं जो मूलतः उस कार्य के घटित होने के कारण या कारणों का कथन करते हैं। वे आवश्यक रूप से कर्त्ता की इच्छाओं, अभिरुचियों आदि का उल्लेख करते हैं। 'मैंने अपना हाथ उठाया क्योंकि मैं अपने मित्र को रोकना चाहता था और मेरा विश्वास था कि मेरे हाथ उठाने से मेरा मित्र रुक जायगा।' 'वह मेरे पास आया था क्योंकि वह मुझसे पैसा उधार चाहता था। मैं लाइब्रेरी इसलिये गया था क्योंकि मुझे एक किताब की जरूरत थी।' इत्यादि वाक्यों में मेरे हाथ उठाने की, उसको मेरे पास आने की, मेरे लाइब्रेरी जाने की, वजह के रूप में क्रमशः अपने मित्र को रोकने की मेरी अभिलाषा तथा मेरे विश्वास कि मेरे हाथ उठाने से मेरा मित्र रुक जायगा को, उसके मुझ से पैसा उधार चाहने को, एवं लाइब्रेरी से किताब निकलवाने की मेरी ज़रूरत को उजागर किया गया है। यहां कार्यों के घटित होने को उनकी उल्लिखित वजहों से अनुमित नहीं किया गया है। उनके बीच कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं है। कार्य और उसके व्याख्यात्मक तर्क में परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध होता है।

मैं इस तथ्य के प्रति जागरूक हूं कि व्याख्यात्मक तर्क को कार्य-कारकणात्मक मानना विवाद से परे नहीं है। वस्तुतः इसके पक्ष एवं विपक्ष में काफी कुछ कहा गया है। परन्तु यहां इस विवाद को उठाना अनावश्यक होगा, क्योंकि जो मैं कहना चाहता हूं वह व्याख्यात्मक तर्क के कार्य-कारणात्मक होने पर निर्भर नहीं करता है। मेरा सीमित उद्देश्य व्यावहारिक तर्क के दो परस्पर भिन्न अभिप्रायों को बतलाना है: व्याख्यात्मक तर्क एवं औचित्य-प्रतिपादक तर्क। इस संदर्भ में ऊपर जो उदाहरण दिया गया था उसके निष्कर्ष को दुहराऊंगा कि कोई यदि अपनी किसी इच्छा के वशीभूत होकर कोई काम करता है एवं अपनी उस इच्छा को काम करने या काम किये जाने के तर्क के रूप में देता है तो इससे उस कार्य का औचित्य स्थापित नहीं होता है। कदाचित्, उसने वह कार्य क्यों किया इसका बोध अवश्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है एवं, निश्चय ही किसी इच्छा से कार्य का किया जाना अनुमित नहीं होता है।

औचित्य-प्रतिपादक तर्क से मेरा अभिप्राय उससे है जिसके आधार पर हम किसी कार्य का मूल्यांकन करते हैं। कार्य–मूल्यांकन से मेरा तात्पर्य कार्य को सत्यापित करने से नहीं है बल्कि मेरा तात्पर्य उससे है जिसके आधार पर हम कार्यों के सम्बन्ध में निर्णय करते हैं कि अमुक कार्य ठीक है, अमुक कार्य को करना उचित नहीं होगा, अमुक कार्य करना चाहिए, अमुक कार्य न्यायोचित है, इत्यादि। स्पष्ट है कि कार्यों के औचित्य ठहराने की किसी सार्वभौम कसौटी की खोज करना या उसको नियोजित करने की चेष्टा करना निरर्थक होगा। संगीत–सभा में बैठे अपने पड़ोसी को चुटकी काटना उचित है या नहीं, सड़क के दायीं ओर चलना ठीक है या बायीं ओर, अमुक परिस्थिति में मेरा घर से बाहर रहना उचित है या नहीं, आदि का निर्णय किसी एक सामान्यीकृत आधार पर नहीं लिया जा सकता। प्रत्येक निर्णय का आधार संदर्भ के अनुसार अलग–अलग होगा। सामान्यतः, किसी कार्य के औचित्य की कसौटी समाज में प्रचलित मान्यताएं होती हैं। अतएव, औचित्य-प्रतिपादक तर्क वे होंगे जो कार्य को किसी मान्यता के साथ जोड़ते हैं। दूसरे शब्दों में, औचित्य–प्रतिपादक तर्क यह दिखलाते हैं कि वह कार्य, जिसके सम्बन्ध में तर्क दिये जा रहे हैं, किसी प्रचलित नियम या मान्यता के अनुकूल है। अतः, यदि कार्य एवं औचित्य–प्रतिपादक तर्कों के बीच तार्किक सम्बन्ध मानने का अर्थ यह है कि कार्य-औचित्य-प्रतिपादक तर्कों में अनुलग्न हो तो निश्चय ही दोनों के बीच तार्किक सम्बन्ध नहीं होगा।

आई. आई. टी. कानपुर।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान्यवाद*

अभेदानन्द

सामान्यवाद दर्शनशास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण वाद–विवाद का विषय रहा है। भारतीय दर्शन में इस विषय पर प्रायः सभी प्रमुख दर्शनसम्प्रदायों ने अपने-अपने तर्क प्रस्तुत किये हैं। न्यायदर्शन ने सामान्यवाद की स्थापना में प्रमुख रूप से भाग लिया है। सामान्यवाद के प्रत्याख्यान में दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि बौद्ध दार्शनिक प्रमुख खिलाड़ी रहे हैं।

सामान्यवाद का विचार-क्षेत्र बहुत विस्तृत होने के कारण प्रस्तुत निबन्ध में मैं अपने विचार-क्षेत्र को जहाँ तक हो सका न्याय एवं बौद्ध सम्प्रदायों तक ही सीमित रखूंगा। अतः प्रस्तुत निबन्ध में सामान्यवाद विषयक इस अध्ययन के सर्वांगण अध्ययन होने का दावा मैं नहीं करता, न ही ऐसे लघुकाय निबन्ध में इस की आशा ही की जानी चाहिए।

प्रस्तुत निबन्ध में मेरा उद्देश्य दोनों पक्षों की आलोचना एवं प्रत्यालोचना का विवरणमात्र प्रस्तुत करना नहीं है अपितु दोनों पक्षों के प्रमुख तर्कों का विश्लेषण करके उनका पुनर्मूल्यांकन करना है।

न्याय के अनुसार सामान्य 'नित्यमेकमनेकं वृत्तिः[1]' है। अर्थात् सामान्य नित्य, एक, एवं अनेकों में समवेत रहने वाला है। वस्तु का प्रत्यक्ष जिस इन्द्रिय से होता है, न्याय के अनुसार सामान्य का भी प्रत्यक्ष उसी इन्द्रिय से होता है। वृक्ष–प्रत्यक्षकाल में वृक्षत्व जाति का भी प्रत्यक्ष होता है। वृक्ष और वृक्षत्व में, अर्थात् वृक्ष व्यक्ति और वृक्षत्व जाति में जो सम्बन्ध है वह आकस्मिक नहीं अपितु नित्य समवाय सम्बन्ध है। न्याय सामान्य को यथार्थ मानता है। कहीं-

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के रांची विश्वविद्यालय में २७–३० अक्तूबर १९७५को आयोजित २०वें वार्षिक अधिवेशन में तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा विभाग के अध्यक्ष-पद से भाषण।

१. तर्कभाषा में केशव मिश्र ने 'नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्' भी कहा है। प्रमेयनिरूपणप्रकरण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहीं तो न्याय यहां तक कहता है कि सामान्य से ही व्यक्ति को सत्ता प्राप्त है—जैसे 'घटत्ववान् घटः' इस का अर्थ है—जिसमें घटत्व है, वही घट है, जिसमें घटत्व नहीं है, वह घट नहीं है। इस प्रकार घट-सत्ता का निर्धारण भी घटत्व जाति द्वारा ही होता है। 'द्रव्यं सत्, गुणः सन्, कर्म सत्' इस प्रकार से सत्ता की अनुगत प्रतीति का कारण सत्ता सामान्य को ही माना है। न्याय के अनुसार सामान्य की मान्यता वस्तुओं को अस्तित्त्ववान् बनाने के लिये है, ऐसा लगता है; पर इस प्रकार की तत्त्वमीमांसीय समस्या के समाधान के लिये न्याय को सामान्य की आवश्यकता नहीं हो सकती, क्योंकि अनित्य वस्तु को उपादान कारण से सत्ता प्राप्त है। वस्तु को आकृत्यादि निमित्त कारण से ही प्राप्त हैं। नित्य द्रव्यों को नित्य होने के कारण स्वयमेव सत्ता प्राप्त है। अतः न्याय में सामान्य को स्वरूप कारण (फार्मल काज़) मानने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा लगता है कि ज्ञानमीमांसीय समस्या के समाधान के लिये ही न्याय को सामान्य स्वीकार करने की आवश्यकता पड़ी।

"यह वृक्ष है", इस प्रकार पूर्वदृष्ट वृक्ष-ज्ञान के आधार पर सामने स्थित वृक्ष का ज्ञान होता है। सामने स्थित वृक्ष का इन्द्रियसंवेदन होता है। वह संवेदन निष्प्रकारक होता है। पूर्वदृष्ट वृक्षज्ञान की पृष्ठभूमि वर्तमान निष्प्रकारक वृक्षज्ञान को सप्रकारक होने में सहायता करती है। पूर्वदृष्ट वृक्षज्ञान से सामान्यलक्षणया सभी तज्जातीय वृक्षों को जान लिया जाता है। अतः वृक्ष के संवेदन के होते ही 'वृक्षत्ववानयं वृक्षः' ज्ञान होता है। वृक्षत्व सामान्य ही यहां पर वृक्ष का विशेषण है। विशेषण से विशेष्य को जानने में सहायता मिलती है। विशेष्य-आधारक विशेषण का भी ज्ञान होता है अतः अनेक वृक्षों के निरीक्षण से वृक्षत्व सामान्य का भी बोध होता है। इस प्रकार न्याय की सामान्य की समस्या ज्ञानमीमांसीय समस्या है, तत्त्वमीमांसीय नहीं।

भारतीय दर्शन में सामान्यवाद के समर्थन में न्याय का यथार्थवादी दृष्टिकोण है। इसके विपरीत बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग और धर्मकीर्ति आदि का दृष्टिकोण प्रत्ययवादी है। दोनों सम्प्रदायों के तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण ही सामान्यवाद के सम्बन्ध में उक्त दृष्टिकोणों के पोषक हैं। न्याय के यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार सामान्य की यथार्थ सत्ता है जोकि सभी व्यक्तियों में उपस्थित होती है। इस के विपरीत बौद्धों के अनुसार बाह्य जगत् में सामान्य की सत्ता नहीं होती। अतः सामान्य की सत्ता उनके अनुसार विषयीनिष्ठ है। इसीलिये इस सिद्धांत को वस्तु-शून्य प्रज्ञप्तिवाद और विकल्पवासनावाद भी कहा जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान्य के विषय में न्याय का मत है कि घट के प्रत्यक्ष के साथ-साथ चक्षुरेन्द्रिय द्वारा घटत्व का भी प्रत्यक्ष होता है। नैयायिकों के अनुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण-ज्ञान होता है, जबकि बौद्धों के अनुसार निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। क्षण-भंगवाद के अनुसार वस्तुएँ एक क्षण रहने वाली होती हैं। इसलिए वस्तुक्षण को स्वलक्षण कहा गया है। वही परमार्थ सत् है।[२] वह निरपेक्ष विशेष होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष क्षण में स्वलक्षण का ही ग्रहण होता है जोकि अनभिलाप्य है। स्वलक्षण का विकल्पों द्वारा स्पर्श सम्भव नहीं है। अतः सविकल्पक प्रत्यक्ष भ्रममात्र है। चूंकि सामान्य का प्रत्यक्ष सविकल्पक ही होता है अतः सामान्य भी भ्रममात्र है। हमारी बुद्धि आरोपण द्वारा वैयक्तिक भेदों को मिटाकर एक सामान्य को जन्म देती है। प्रत्यक्ष द्वारा सीधे गृहीत न होने के कारण सामान्य विकल्प-वासना मात्र है।

न्याय जब सविकल्पक प्रत्यक्ष को यथार्थ प्रमाण कहता है उस समय भी इन्द्रिय और अर्थ-सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को ध्यान में रखकर ही ऐसा कहता है। विषय-संवादकत्व सभी ज्ञानों में आवश्यक है। अन्यथा ज्ञान न होकर वह भ्रम ही होगा। बौद्धों के अनुसार भी विषय-संवादकत्व प्रमाण-ज्ञान में आवश्यक है।[३] प्रत्यक्ष ज्ञान में भी वह आवश्यक है। मतभेद यहां पर है कि क्या न्याय के अनुसार व्यक्ति-प्रत्यक्ष में धर्मों का भी उसमें प्रत्यक्ष होता है? बौद्धों के अनुसार वह सम्भव नहीं है। न्याय के अनुसार ज्ञान स्वयं क्षणिक है, फिर भी व्यक्ति और व्यक्तिनिष्ठ धर्मों का प्रत्यक्ष संवादकत्वेन होता है, ऐसा माना जाता है। किन्तु ऐसा मानने पर एक कठिनाई सामने आयेगी, वह यह कि विशुद्ध घट-व्यक्ति के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-क्षण में घट-निष्ठ विकल्पों का प्रत्यक्ष नहीं होगा। होता है, ऐसा मानने पर विकल्पों (धर्मों) का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष विशेष्य के रूप में होगा, विशेषण के रूप में नहीं। जात्यादि को व्यक्तिनिष्ठ मानने पर तथा समवाय से व्यक्ति को समवेत मानने पर, उनका निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होना चाहिए। विशेष्य के रूप में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष उनका सम्भव नहीं है, ऐसी स्थिति में घट के सविकल्पक प्रत्यक्ष में विकल्पों की अनुवृत्ति विशिष्ट रूप में होगी और विशिष्टार्थ में ही संवादकत्व भी होगा, नकि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के रूप में। ज्ञान का संवाद्य घट होगा और घट सामान्य का भी संवाद्य घट ही होगा, क्योंकि गुण या धर्म पृथक् व्यक्ति नहीं हैं, अतः पृथक् रूप से तज्ज्ञान के संवादकत्व के संवादन में वे समर्थ नहीं हैं। क्योंकि वे विशेष्य व्यक्ति में अपने व्यक्तित्व को खो चुके हैं। इस

२. तत्स्वलक्षणम्, तदेव परमार्थसत्। न्यायबिन्दु, प्रथम परिच्छेद।

३. अविसंवादकंज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। न्यायबिन्दु-धर्मोत्तर टीका, प्रथम परिच्छेद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार जिन धर्मों का अवलम्बन करके सामान्य की धारणा है वे धर्म सामान्य या जातिज्ञान-संवाद्य नहीं होते। इसलिए बौद्धों ने कहा है कि सामान्य एक आन्तरिक उत्पाद है जो भ्रामक रूप से एक बाह्य सत् के रूप में प्रकट होता है।[४]

न्यायदर्शन में यह कहा गया है कि घट का प्रत्यक्ष संयोग-सन्निकर्ष से एवं घटगत रूपादि का प्रत्यक्ष संयुक्तसमवाय-सन्निकर्ष से होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि घटगत धर्मों का पृथक् प्रत्यक्ष न्याय के अनुसार सम्भव है। यदि न होता तो संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष के उदाहरण में 'यदा चक्षुरादिना घटगतरूपादि गृह्यते घटे श्यामरूपमस्तीति' इस प्रकार रूप-प्रयत्क्ष का उल्लेख क्यों किया जाता ? यद्यपि संयुक्तसमवाय–सन्निकर्ष द्वारा घटगत रूपादि प्रत्यक्ष करने के लिये घट-संयोग-सन्निकर्ष की पहले ही आवश्यकता है, फिर भी न्याय ने तद्गत:रूपादि प्रत्यक्षों को स्वतंत्र माना है।[५] इस नियम के अनुसार घट-समान्य-प्रत्यय द्वारा जितने घटगत धर्मों का सामूहिक रूप से चित्रण होता है उन धर्मों का पृथक्-पृथक् प्रत्यक्ष सम्भव है और ऐसी स्थिति में सामान्य ज्ञान में वस्तु-संवादकत्व आ सकता है, ऐसा लगता; पर वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। पृथक्-पृथक् रूप से घटगत धर्म पृथक्-पृथक् प्रत्यक्ष द्वारा संवाद्य होने पर भी सामान्य प्रत्यय, जोकि धर्मों का समूह प्रत्यय है, उसका सामूहिक संवाद्य बाह्य घट से नहीं है। उन धर्मों का पृथक्-पृथक् प्रत्यक्ष भी एक काल में सम्भव नहीं, क्योंकि न्याय के अनुसार मन अणुस्वरूप है। वह एक काल में एक सरल संवेदन को ही प्राप्त करता है। संयोग-सन्निकर्ष द्वारा घटप्रत्यक्षक्षण में घटत्व जाति का एवं संयुक्त समवाय सन्निकर्ष द्वारा घटत्व जाति के प्रत्यक्षक्षण में घट व्यक्ति का प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए। अणु-स्वरूप मन एक समय में एक संवेदन को ही संपादित करने में सहयोग कर सकेगा। अतः घट-संवेदन-क्षण में तद्गत रूपादि पृष्ठभूमि में स्थित होंगे और रूपादि के किसी एक के संवेदन-क्षण में घट तथा अन्य तद्गत धर्म पृष्ठभूमि का काम करेंगे। एक क्षण में सभी का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं। अतएव प्रत्यक्ष के उक्त नियम के होने पर भी सामान्य को बुद्धि-निर्मित विकल्पवासना ही मानना पड़ेगा।

न्याय के अनुसार सामान्य एकाकार-बुद्धि का कारण है, सभी वृक्षों में एक ही सामान्य है, ऐसा माना जाता है। परन्तु वर्गभेद से प्रत्येक वर्ग का एक सामान्य होने पर अनेक सामान्य हो जाते हैं। घटों में रहने वाला घटत्व सामान्य, वृक्षों में रहने वाला वृक्षत्व सामान्य, पर्वतों में रहने वाला पर्वतत्व सामान्य, इस प्रकार ये

४. बुद्धिस्ट लॉजिक, प्रथम खण्ड, पृ० ४४७, श्चर्वात्स्की।

५. तर्कभाषा, प्रत्यक्षपीयूषण, केशवमिश्र।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीन वर्गों के तीन सामान्य हुए। इस प्रकार वर्गभेद से अनेक सामान्य हो सकते हैं। यदि कहा जाय कि घटत्व सामान्य, वृक्षत्व सामान्य, पर्वतत्व सामान्य, सभी सामान्य तो हैं ही, अतः एक ही सामान्य है। यह बात वैसी ही हुई कि तीन मनुष्य-व्यक्ति हैं, तीनों ही मनुष्य व्यक्ति हैं तो तीनों एक ही मनुष्य-व्यक्ति हैं। बड़ी श्रेणी के अन्तर्गत करके, अर्थात् अपेक्षाकृत पर सामान्य के अन्तर्गत करके अपक्षाकृत अपर सामान्य को एक कहा जा सकता है—जैसे कि घटत्व–वृक्षत्व और पर्वतत्व तीनों ही पृथिवीत्व (अपेक्षाकृत पर) सामान्य के अन्तर्गत होकर पृथिवीत्व नामक एक-एक सामान्य के अन्तर्भूत होते हैं। इसी प्रकार पृथिवीत्व द्रव्यत्व के अन्तर्गत होता है। अन्त में सत्ता सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है जोकि एक है। बौद्धों ने आपत्ति की कि एक सामान्य अनेक में किस प्रकार व्याप्त हो सकता है? क्या वह व्यक्ति में सर्वांश से व्याप्त है अथवा एकांश से? सर्वांश से एक व्यक्ति में व्याप्त होने पर वृक्षत्व एक वृक्ष में ही व्याप्त होगा और अन्य वृक्षों में वृक्षत्व नहीं होगा। ऐसी स्थिति में सामान्य की मान्यता ही व्यर्थ होगी। एकांश से वृक्ष में व्याप्त मानने पर अनित्यत्व की आपत्ति होगी। न्याय दर्शन ने सामान्य को विभु अर्थात् सर्वगत माना है। अतः सामान्य अंशतः नहीं रहता। वस्तुतः अमूर्त पदार्थ में अंश की आशंका ही नहीं की जानी चाहिए। सामान्य भी अमूर्त पदार्थ है। वाचस्पति मिश्र एवं जयन्त भट्ट के अनुसार सामान्य सर्वगत है।[६] वार्तिककार उद्योतकर ने सर्वगतत्व का भिन्न अर्थ किया है। उनके अनुसार सर्वगत का अर्थ स्वाश्रय में सर्वत्र समवेत होना है।[७] वाचस्पति एवं जयन्त भट्ट के अनुसार वृक्षत्व वृक्षों के अतिरिक्त अन्तराल प्रदेशों में भी व्याप्त है। विभु का यही अर्थ है। अन्तराल प्रदेशों में भी वृक्ष-व्यक्ति के आविर्भाव से वृक्षत्व सामान्य की अभिव्यक्ति होगी। अन्यथा वहां पर वृक्षत्व अनभिव्यक्त रहेगा। बौद्धों की आपत्ति है कि सर्वगत मानने पर वृक्ष में भी घटत्व सामान्य होगा। वाचस्पति आदि आचार्यों के अनुसार उक्त आपत्ति का उत्तर अनभिव्यक्ति ही है। अर्थात् वृक्ष में घटत्व सामान्य है, पर उसमें घट के न होने के कारण उसकी अभिव्यक्ति नहीं है। वार्तिककार ने स्वाश्रय में व्याप्त मानकर उक्त आपत्ति का परिहार किया है। वार्तिककार का पक्ष ही अधिक संगत लगता है, क्योंकि 'घटत्ववान् घटः' इस प्रकार अमूर्त घटत्व सामान्य का सम्पूर्ण घट व्यक्ति में अनुभव होता है। अतः घटत्व सामान्य के अनेकानुगत का अर्थ है अनेक घट व्यक्तियों में अनुगत, नकि घट-भिन्न व्यक्तियों में भी। घट व्यक्तियों में भी रक्त घट-आदि में रक्त घटत्व ही

६. सर्वगता जातिरिति तावदुपेयते। सर्वत्राग्रहणं तस्या व्यञ्जक व्यक्त्यसन्निधेः॥
न्यायमंजरी, पृ० २८५

७. स्वविषये सर्वत्र वर्तते इति सर्वगता इत्युच्यते। न्यायवार्तिक, पृ० ६६७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान्य होगा। इस प्रकार विशेषणों से व्यावृत्त होकर घट व्यक्ति के सीमित होने पर घटत्व सामान्य भी रक्त घटत्व आदि भिन्न नाम एवं अनुगत प्रत्यय से भिन्न ही होता है तथा उन विशिष्ट घट व्यक्तियों तक ही वह सीमित रहता है। इस प्रकार सामान्य के सर्वगत होने का अर्थ होता है व्यक्ति में सर्वगत तथा समान व्यक्तियों में सर्वगत। वह अन्तराल एवं अन्य व्यक्तियों में सर्वगत नहीं होता। अन्तराल एवं अन्य व्यक्तियों में सर्वगत पक्ष में कोई ज़ोरदार प्रमाण नहीं है। फिर भी वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट एवं उदयन आदि न्यायाचार्य सामान्य को अन्तराल प्रदेशों में भी सर्वगत मानते हैं। अनभिव्यक्ति के लिये व्यक्ति के अभाव को वे कारण मानते हैं। इसी कारण अन्तराल प्रदेशों में विद्यमान सामान्य की उपलब्धि नहीं होती।[८]

न्याय के अनुसार सामान्य को नित्य न मानने पर व्यक्ति-नाश से सामान्य का भी नाश होने लगेगा और व्यक्ति की उत्पत्ति से सामान्य की भी उत्पत्ति होगी। इस प्रकार सामान्य का भी अभीष्ट स्वरूप सिद्ध नहीं होगा। सामान्य के नित्य होने पर भी सर्वत्र सर्वदा उपलब्धि की आपत्ति नहीं दी जा सकती, क्योंकि अन्तरालादि प्रदेशों में सामान्य समवाय से समवेत नहीं होता; इसीलिये उन स्थलों में उपलब्धि सम्भव नहीं। न्याय के अनुसार सामान्य और समवाय सम्बन्ध दोनों ही नित्य हैं। मात्र व्यक्ति अनित्य है। घटत्व नित्य है, घट व्यक्ति एवं घटत्वनिष्ठ समवाय सम्बन्ध भी नित्य हैं, किन्तु घट अनित्य है। घट व्यक्ति अथवा घट व्यक्तियों के नष्ट होने पर भी घटत्व सामान्य एवं तन्निष्ठ समवाय नष्ट नहीं होते। न्याय के अनुसार सामान्य स्वरूप सत् है। व्यक्ति सामान्य का अभिव्यञ्जक मात्र है। व्यक्ति के रहने-न रहने से सामान्य की सत्ता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। 'गोपिण्डे गोत्वम्' यह व्यवहार लाक्षणिकमात्र है, मुख्य व्यवहार नहीं है।[९] इस अर्थ में सामान्य की सत्ता के लिये व्यक्ति की अनिवार्यता नहीं है। सामान्य की सत्ता व्यक्ति-निरपेक्ष है। व्यक्ति की उत्पत्ति से सामान्य उससे सम्बन्धित मात्र होता हैं।[१०]

यहां पर दो आपत्तियां उठायी जा सकती हैं—

प्रथम आपत्ति यह है कि सामान्य को समवाय सम्बन्ध से अनेक वृत्तिवाला कहा गया है। क्या अनेक वृत्तित्व भी गौण है? यदि वस्तुतः यही स्थिति है तो गौण धर्मों को लेकर सामान्य का लक्षण क्यों किया गया? लक्षण तो अनिवार्य धर्मों को

८. उपलब्धिकारणाभावात्, आत्मतत्त्वविवेक, पृ० ४०१।

९. निरूपकमात्रं नतु गोत्वस्याधारमित्यर्थः तथाच पिण्डे गोत्वमिति व्यवहारो न मुख्यः किन्तु लाक्षणिकः इत्यर्थः। आत्मतत विवेक, शंकर मिश्र टीका पृ० ४०७।

१०. यदैव वस्तु तदैव गोत्वेनामिसम्बद्धते। न्यायवार्तिक, पृ० ६६९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकर किया जाना चाहिए। निरपेक्ष दशा में स्वरूपसत् सामान्य में अनेक वृत्तित्व का लक्षण नहीं घटेगा, ऐसी दशा में जाति घटित लक्षण करना होगा जिससे व्यक्ति अभाव काल में स्वरूपसत् सामान्य में भी सामान्य का लक्षण घट सके, परन्तु इससे भी समस्या का समाधान नहीं होता, क्योंकि जाति के लिये जाति घटित लक्षण करना होगा। न्याय के अनुसार जाति में जाति सम्भव नहीं। जाति घटित लक्षण अगत्या किया जाता है, सामान्य के लक्षण करने में ऐसी कोई कठिनाई नहीं है। जिस प्रकार अद्वैत के अनुसार जगत्-कारणत्व लक्षण ब्रह्म का तटस्थ लक्षण होता है और ऐसा लक्षण आगन्तुक या आरोपित धर्मों को लेकर किया जाता है। इसलिये ब्रह्म-स्वरूप को वह स्पर्श नहीं करता, अपितु संकेतमात्र करता है। इसी प्रकार अनेक वृत्तित्व के अनिवार्य धर्म न होने के कारण सामान्य का वह संगत लक्षण नहीं है। लक्षण में कही हुई सभी बातें पूर्णतः संगत होनी चाहिएं अन्यथा लक्षण दोषयुक्त होता है। न्यायाचार्यों ने सामान्य लक्षण में 'अनेक वृत्तित्व' को सम्मिलित किया है। अतः सामान्य व्यक्तिनिष्ठ जान पड़ता है जोकि न्याय को स्वीकार नहीं।

दूसरी आपत्ति यह है कि समवाय सम्बन्ध और सामान्य दोनों नित्य हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के उत्पन्न होने पर ही सामान्य व्यक्ति से सम्बन्धित होता है, यह किस प्रकार सम्भव है? सामान्य और व्यक्ति का सम्बन्ध पूर्व में नहीं था, व्यक्ति के उत्पन्न होने के पश्चात् हुआ। जब समवाय सम्बन्ध नित्य है, तब सामान्य और व्यक्ति को नित्य सम्बन्ध से सम्बन्धित रहना चाहिए।[११] नैयायिकों का उत्तर है कि सामान्य और समवाय सम्बन्ध नित्य होने पर भी सामान्य का दूसरा सम्बन्धी व्यक्ति नित्य नहीं है। घटत्व और घट-घटत्वनिष्ठ समवाय के नित्य होने पर भी घट अनित्य है और इसी कारण सर्वदा दोनों सम्बन्धित नहीं होते।

यहां पर समवाय का स्वरूप विचारणीय है। सर्वप्रथम समवाय के विषय में यह विचार करना है कि वस्तुतः समवाय को सम्बन्ध कहा जाय या नहीं? सम्बन्ध सदा सर्वदा द्वित्वनिष्ठ होता है। जो द्वित्वनिष्ठ नहीं होगा, उसे सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। घट और भूतल सम्बन्ध को सम्बन्ध कहा जायगा, क्योंकि वह द्वित्व-निष्ठ संयोग सम्बन्ध है। घट को हटा लेने पर संयोग सम्बन्ध नष्ट हो जायगा। संयोग गुण है। इस कारण संयोग सम्बन्ध के नष्ट होने पर भी घट-भूतल संयोग घटनिष्ठ और भूतलनिष्ठ होकर विभाजित हो जाता है। संयोग सम्बन्ध के नाश होने पर भी उसका एक भाग भूतल में और अन्य भाग घट में समवाय सम्बन्ध से रहता है।

समवाय सम्बन्ध गुण नहीं है, अपितु पदार्थ है। वह सम्बन्ध होने के कारण घटत्व एवं घट दोनों में रहता है, और नित्य होने के कारण उसका नाश नहीं होता।

११. आत्मतत्त्व-विवेक। नारायणाचार्य की टीका, पृ० १७९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटत्व के साथ समवाय नित्य सम्बन्धित है, परन्तु घट के साथ उसकी उत्पत्ति के बाद सम्बन्ध होता है। घट के विनाश के साथ-साथ समवाय सम्बन्ध का विच्छेद भी हो जाता है। नित्य सम्बन्ध यदि दो से सर्वदा सम्बन्धित नहीं रहता तो उसे सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। उसका नाम नित्य समवाय क्यों न रख दिया जाय, पर उसे सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। सम्बन्ध सदा द्वित्वनिष्ठ होता यह है, कहा जा चुका है। समवाय के नित्यस्वरूप को आघात न पहुंचे, इसके लिये घट और समवाय के मध्य एक अनित्य सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिए, पर अनवस्था-भय से ऐसा करना सम्भव नहीं है। अतः नित्य समवाय और अनित्य घट-व्यक्ति के सम्बन्ध की व्याख्या देना सम्भव नहीं है। नैयायिकगण अद्वैत के समान नित्य-अनित्य में आरोपित सम्बन्ध भी स्वीकार करने को तैयार नहीं होंगे, अतः समवाय की व्याख्या अपने में अपूर्ण है। समवाय को सम्बन्ध न मानकर उसे मात्र विभु एवं नित्य पदार्थ मानने में न्याय दर्शन में उसकी उपयोगिता नहीं रह जाती। इस प्रकार समवाय की संगत व्याख्या के अभाव में व्यक्ति-समवेत जाति की भी समीचीन व्याख्या प्रस्तुत करना कठिन हो जाता है।

न्याय दर्शन घटत्व की व्याख्या नित्य सामान्य के रूप में प्रस्तुत करता है। बौद्ध दार्शनिक गण सामान्य की व्याख्या अपोहवाद से प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार विशेष वस्तु-क्षण ही सत् है। अतः यथार्थ अग्नि विशेष क्षण-रूप है। सामान्य अग्नि विशेष अग्नि का पूर्णतया निर्धारण कर सकती है, किन्तु वह आरोपित है, अतः जला या पका नहीं सकती। सामान्य अग्नि कल्पना के रूप में एक मानसिक यथार्थता है न कि बाह्य।[१२]

बौद्धों के अनुसार भी नाम द्वारा सामान्यों का कथन होता है, परन्तु ये सामान्य अनिवार्यतः प्रतिषेधात्मक, सापेक्षिक तथा अपोहात्मक होते हैं। घट पद का अर्थ है घट-भिन्न सभी की व्यावृत्ति। 'घट लाओ' वाक्य सुनकर मनुष्य काष्ठादि को त्याग कर घट ही लाने जाता है। इससे भी यही बोध होता है कि व्यवहार में अन्यापोह अर्थात् तदन्य व्यावृत्ति ही एकमात्र नियामक है। नैयायिकों की आपत्ति है कि व्यावृत्ति तो अभावरूप है। अतः अन्याभावरूप घट को लाने की प्रवृत्ति पुरुष में नहीं होनी चाहिये। यही आपत्ति सामान्यवाद में भी उठायी जा सकती है, क्योंकि घटत्व सामान्य भी 'घटत्ववान् घटः' करके घट को वृक्षादि अन्य वस्तुओं से व्यावृत्त करता है। 'जहां पर घटत्व नहीं', वहां घट भी नहीं, जैसे वृक्ष। इस प्रकार घटत्व वृक्षादि सभी के व्यावर्तक होकर घट का बोधक होता है। 'घटत्व-

१२. बुद्धिस्ट लाजिक, प्रथम खण्ड, पृ० ४५५, श्चर्बात्स्की।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वान् घटः' में घटत्व विशेषण है और विशेषण सदा अन्यव्यावर्तक होता है। इस प्रकार न्यायमत में भी सामान्य अन्य व्यावृत्तिपूर्वक व्यवहार का नियामक होता है। अन्य की व्यावृत्ति अभाव है। वृक्षादि की व्यावृत्ति प्रकृत में घटरूप होने के कारण भावरूप भी है। 'भूतल में घट नहीं' यहां पर भूतल की दृष्टि से भाव और घट की दृष्टि से अभाव भी है। बौद्धों के मत में भी अन्यव्यावृत्ति द्वारा घट में कुछ तो बोध होगा ही। अलीकत्व की आपत्ति देकर इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त अध्ययन से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि सामान्यवाद को लेकर बौद्ध और न्याय के मध्य जो विवाद है वह उनके तत्त्वमीमांसीय सिद्धान्तों के कारण है। न्यायदर्शन अवयवी को अवयवों से भिन्न एक पृथक् इकाई मानता है जोकि उतना ही सत्य है जितना कि अवयव। अवयवी के इस सिद्धांत को न मानने पर न्याय दर्शन सृष्टि की व्याख्या नहीं दे सकता, क्योंकि सभी कार्य द्रव्य परमाणुरूप अवयवों से बने हुए अवयवी हैं जो कि परमाणुओं से भिन्न हैं। घट तद्गत परमाणुओं से बना एक अवयवी है। इसके विपरीत बौद्ध दर्शन के अनुसार अवयवी सत्य नहीं है। अवयवों में बुद्धि द्वारा अवयवी का आरोप किया जाता है। उनके अनुसार सामान्य का भी बुद्धि द्वारा निर्माण होता है और वस्तु में आरोपित कर दिया जाता है। अतः व्यावहारिक रूप में सामान्य घट काम में नहीं आ सकता, अपितु विशेष घट ही पानी भरने के काम में आ सकता है। बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार घटत्व सामान्य विकल्प वासना मात्र है। न्याय के अनुसार घटत्व सामान्य सत्य है।

मेरे विचार से घटत्वादि सामान्य ज्ञातृनिष्ठ ही है। फिर भी यह निर्मूल और मिथ्या नहीं है। बुद्धि में सामान्य प्रत्यय का निर्माण एक विशेष प्रक्रिया द्वारा होता है। प्रक्रिया इस प्रकार है—जब किसी अज्ञात वस्तु का प्रथम दर्शन होता है तो उस समय में द्रष्टा को वस्तु-संवेदन के साथ-साथ सामान्य का ज्ञान नहीं होता। पुनः पुनः प्राप्त वस्तु-संवेदनों को आहृत करके बुद्धि उस वस्तु के एक प्रत्यय का निर्माण करती है। इस प्रकार उस वस्तु को अनेक बार देखने पर अथवा उस वस्तु के समान अन्य अनेक वस्तुओं को देखने पर बुद्धि में उन-उन समान वस्तुओं के अनेक समान प्रत्ययों का निर्माण होता है। इस कार्य में बुद्धि सक्रिय होती है। उन सभी समान प्रत्ययों को मिलाकर एक सामान्य प्रत्यय का निर्माण होती है। इस सामान्य प्रत्यय के माध्यम से सामान्य लक्षणाप्रत्यासत्ति द्वारा बुद्धि सामान्यतया उन समान (सभी भूत-भविष्यत् के भी) वस्तुओं का प्रत्यक्ष कर लेती है। उदाहरणार्थ, जैसे मनुष्य मात्र का सामान्यीकृत प्रत्यक्षज्ञान हमें हो चुका है, इसी कारण किसी अपरिचित (कभी न देखा हुआ) मनुष्य को भी देखने पर हमें सीधे प्रत्यभिज्ञान होता है कि 'यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य है'। हम नये मनुष्य को देख कर कभी नहीं कहते कि 'यह क्या है ?' अपितु 'कौन है ?' कहते हैं। क्या है, यह हमें पूर्व ही ज्ञात है, क्योंकि मनुष्यमात्र का सामान्य द्वारा सामान्यीकृत प्रत्यक्ष किया जा चुका है। उस मनुष्य-व्यक्ति को हमने कभी नहीं देखा था, फिर भी उसके मनुष्य होने को हम पहचानते हैं। विशेष मनुष्य व्यक्ति का साक्षात्कार नहीं हुआ था। इसीलिये कहा जाता है 'यह कौन है ?' यह वैज्ञानिक विधि है। कुछ व्यक्तियों के निरीक्षण के आधार पर अनन्त वस्तुओं को सामान्य लक्षणा प्रत्यासत्ति द्वारा सामान्यतया जान लेना ही इस विधि का उपयोग है। पशु को घटत्व सामान्य का बोध नहीं होता, क्योंकि सामान्य का निर्माण बुद्धि द्वारा होता है, अतः यह मनुष्य बुद्धि का ही काम है। पशु सादृश्यानुभूति द्वारा प्रत्यभिज्ञान का काम लेता है। इसी कारण दण्डधारी देवदत्त से पिटा हुआ पशु, दण्डधारी राम से भी सादृश्यानुभूति के कारण भय से भागता है। सादृश्यानुभूति के आधार पर पशु सामान्य का निर्माण नहीं कर सकता। सामान्य के निर्माण के बिना वस्तुक्षण का संवेदन तो होगा, पर उसे व्यवहार में अभिव्यक्त नहीं कर सकते। ज्ञान को हस्तान्तरित करने के लिये सामान्य प्रत्यय का उपयोग है। यह ज्ञान का फलक रूप है। जब हम कक्षा में हस्ती के विवरण प्रस्तुत करते हैं उस समय सामान्य प्रत्यय के माध्यम से ही ऐसा कर पाते हैं। सामान्य ज्ञान के आधार पर अनदेखी वस्तु का भी सामान्य विवरण प्रस्तुत कर दिया जाता है और उस विवरणात्मक सामान्यज्ञान से ज्ञाता को वस्तु-प्रत्यक्षज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है। इस प्रकार सामान्य का ज्ञान न निरर्थक है और न ही निर्मूल है।

सामान्य एक समूह प्रत्यय का नाम है। घटत्व सामान्य का विश्लेषण घट प्रत्ययों में, घट प्रत्ययों का विश्लेषण घट-व्यक्तियों में, घट व्यक्तियों का विश्लेषण घट-धर्मी एवं तद्गत आकृति धर्म आदि में होगा। इस प्रकार घटत्व सामान्य बुद्धिनिष्ठ या ज्ञातृनिष्ठ होता हुआ भी वह परोक्ष रूप से घटधर्मी और तद्गत आकृति-धर्मों का संवादक है। अतः सामान्य अत्यन्त निर्मूल नहीं है। घट धर्मी और तद्गत आकृति आदि सत्य हैं। इन्हीं से परोक्ष रूप से सामान्य ज्ञान में भी प्रामाण्य आता है। बुद्धि इसी घट सामान्य को घटों में आरोपित करके 'घटत्ववान् घटः' करके अनुगत का अनुभव करती है। रूप, आकृति आदि से सामान्य का उद्बोधन होता है। इसी कारण सामान्य के वस्तुनिष्ठ होने का भ्रम होता है। घटादि व्यक्तियों में रूप, आकृत्यादि के सादृश्य होते हैं। वे सादृश्य व्यक्ति में ही होते हैं। व्यक्तिनिष्ठ रूप-आकृत्यादि-सादृश्यबुद्धि में संवेदनों को उत्पादित करते हैं जोकि समान रूप से घटनिष्ठ और बुद्धिनिष्ठ भी होते हैं। उन संवेदनों को मिलाकर ही घट प्रत्यय का निर्माण होता है जोकि घट व्यक्तियों के नाना होने के कारण नाना हैं। एक व्यक्ति और नित्य व्यक्ति का प्रत्यय तो होता है, जैसे सूर्य एवं आकाश का प्रत्यय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है। उसी से उनका ज्ञान होता है, पर उनमें 'व्यक्तेरभेदः' जातिबाधक होने के कारण एक प्रत्यय को लेकर सूर्यत्व और आकाशत्व जाति का निर्माण नहीं होता' न ही उनमें जाति की आवश्यकता ही है। क्योंकि अनेक सदृश वस्तुओं के ज्ञान की सुविधा के लिये ही बुद्धि सामान्य का निर्माण करती है। अनेक घटों के अनेक सदृश प्रत्ययों को मिलाकर बुद्धि घटत्व नामक एक सामान्य का निर्माण करती है। घटत्व सामान्य बुद्धिनिष्ठ होने के कारण एक घट व्यक्ति के नष्ट होने पर भी इसका नाश नहीं होता। इस अर्थ में यह नित्य है न कि एकातेन नित्य, क्योंकि सृष्टि में जब एक भी ज्ञाता शेष नहीं रहेगा वैसी स्थिति में घटत्व सामान्य के भी नहीं रहने की कल्पना की जा सकती है।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धार्मिक अनुभव का स्वरूप तथा धर्म-विज्ञान की संभावना*

नन्दकिशोर

(१)

मैं अखिल भारतीय दर्शन परिषद् का अत्यन्त आभारी हूं कि इस वर्ष के अधिवेशन में धर्म-दर्शन विभाग की अध्यक्षता करने का सम्मान मुझे प्रदान किया गया। इस अवसर का उपयोग मैं धार्मिक अनुभव के स्वरूप पर विमर्श करने के लिए करना चाहूंगा। किन्तु ऐसा करने में मेरी झिझक स्वाभाविक है। इस झिझक के कई कारण हैं। मेरी ऐसी मान्यता है कि धर्म का प्राण धार्मिक अनुभव है तथा इसी दृष्टि से मूल रूपेण इसे समझने का प्रयास भी करना चाहिये। यह ठीक है कि धर्म के सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक तथा भाषायी आदि अनेक पहलू भी हैं तथा इन दृष्टियों से भी इसे समझा जा सकता है किन्तु वास्तव में धर्म के ये अन्य पहलू धार्मिक जीवन तथा तज्जनित अनुभूतियों से ही परिपल्लवित होते हैं तथा उसी पर ये मुख्यरूपेण आधारित हैं। अतः धर्म के स्वरूप को समझने के लिए धार्मिक जीवन या धार्मिक अनुभव के ऊपर ही सर्व-प्रथम विचार करना उचित है।

किन्तु ज्योंही हम धार्मिक अनुभूतियों के क्षेत्र में विचारार्थ प्रवृत्त होते हैं, एक मूल कठिनाई उपस्थित होती है। मोहम्मद साहब ने उस पंडित अथवा दार्शनिक की तुलना, जिसे स्वयं को धार्मिक अनुभूतियां नहीं हैं, किन्तु फिर भी वह इस विषय पर विचार करता है, एक गधे से की है जो पुस्तकों का भार बिना उन्हें समझे हुए ढोता है।[1] उनके विचार से जिस व्यक्ति को स्वयं धार्मिक अनुभूति नहीं है वह इसके स्वरूप को समझने में सर्वथा अक्षम है। यह कठिनाई विशेष रूप से तब और बढ़ जाती है जब

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के राँची विश्वविद्यालय में २७–३० अक्तूबर १९७५ को सम्पन्न २०वें वार्षिक अधिवेशन में धर्म दर्शन विभाग के अध्यक्ष पद से भाषण।

१. डब्ल्यू. टी. स्टेस: मिस्टिसिज्म एण्ड फिलांसाफी, पृ० १८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धार्मिक अनुभवों को मन, वाणी, बुद्धि, भाषा आदि से पूर्णरूपेण अतीत माना जाकर सर्वथा वर्णनातीत स्वीकार किया जाता है।[२] विलियम जेम्स आदि पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी धार्मिक अनुभवों की वर्णनातीतता सामान्य रूप से स्वीकार की है। धार्मिक अनुभव के विषय में इस मत को पूर्णरूपेण स्वीकार कर लेने पर धार्मिक अनुभवों के दर्शन की संभावना पूर्णरूपेण समाप्त हो जाती है। इस मत के पक्ष तथा विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है किन्तु यहां इस संबन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त प्रतीत होता है कि कई विद्वानों ने, जिन्हें सम्भवतः धार्मिक अनुभवों की प्रत्यक्षानुभूति नहीं थी, इस विषय पर पर्याप्त चिंतन किया है। इस प्रकार के चिंतन का मूल्य पूर्णरूपेण अस्वीकार नहीं जा सकता। इस बात से सिद्ध होता है कि धार्मिक अनुभवों का दर्शन सम्भव तथा उचित है।

धार्मिक अनुभवों के दर्शन का औचित्य एक अन्य बात से और भी अधिक सिद्ध प्रतीत होता है। जैसाकि हम आगे चल कर देखेंगे, कोई भी धार्मिक व्यक्ति अपनी दृष्टि से साधना करता है और उस मार्ग के अनुकूल ही उसके अनुभव होते हैं। इन विभिन्न प्रकार के अनुभवों को समन्वयात्मक तथा तुलनात्मक दृष्टि से देखना अत्यन्त उपयोगी एवं आवश्यक है। उपर्युक्त दृष्टि से इस प्रकार का कार्य वही व्यक्ति कर सकता है जिसने सभी प्रकार के साधनों द्वारा सभी प्रकार के अनुभवों की अपरोक्षानुभूति प्राप्त की हो। किन्तु इस प्रकार के किसी भी व्यक्ति की संभावना बहुत कम है। श्री रामकृष्ण परमहंस, श्री अरविन्द आदि योगियों के विषय में यह दावा किया जाता है कि इनको यह समन्वयात्मक दृष्टि प्राप्त थी। श्री अरविन्द के समकालीन संत डाक्टर चतुर्भुज सहाय जी के 'साधना के अनुभव' का अध्ययन करने से भी यह स्पष्ट होता है कि उन्हें विभिन्न प्रकार के अनुभवों की साक्षात् अनुभूति थी तथा उनका दृष्टिकोण भी निश्चित रूप से समन्वयात्मक ही है। किन्तु यदि हम अध्यात्म के इस मूल सिद्धांत को स्वीकार कर लें, जिसे उपर्युक्त संत तथा अन्य लगभग सभी लोग स्वीकार करेंगे कि साधना में अवश्य ही रुचि-भेद भी होता है तथा साथ ही यह भी मानें कि अध्यात्म मार्ग अनेक हैं, तब किसी भी व्यक्ति के बारे में यह दावा नहीं किया जा सकता कि वास्तविक अर्थ उसे में सभी प्रकार की अपरोक्षानुभूति है।

(२)

भारत को आध्यात्मिक देश कहा जाता है। आध्यात्मिक चिंतन तथा साधना भारत की अत्यन्त प्राचीन परम्परा रही है। साथ ही उदार दृष्टिकोण तथा विधि-

२. मन बाणी को अगम अगोचर, जो पावे सो जाने। सूरदास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वक आध्यात्मिक खोज के प्रति उत्साह के कारण इस क्षेत्र में जितनी विविधता तथा गहराई भारत में रही है, संभवतः अन्य देशों में नहीं रही होगी। आध्यात्मिक साधन का कोई भी ज्ञात स्वरूप ऐसा नहीं होगा जो भारत में विकसित न हुआ हो। इतना ही नहीं, आध्यात्मिक साधना की ये परम्पराएं किसी न किसी रूप में निरंतर चालू रही हैं। हाल ही में इस भूमि पर महान योगी श्री अरविन्द तथा श्री मां, श्री रामकृष्ण परमहंस तथा श्री रमण महर्षि जैसे अत्यन्त उच्च कोटि के संत अवतरित हुए हैं तथा और भी अनेक नाम गिनाये जा सकते हैं जो यद्यपि इतने प्रसिद्ध नहीं हुए किंतु जिनकी भूमि किसी भी प्रकार निम्न कोटि की नहीं कही जा सकती। आज भी अनेक विभिन्न शैलियों द्वारा अनेक प्रकार की आध्यात्मिक साधनाओं में भारत के लाखों लोग प्रगतिशील हैं। इस प्रकार प्राचीन काल से वर्णित अनुभूतियां भारत में इतिहास की विषय नहीं है। उनकी परम्परा के अनुसार निरन्तर पुष्टि होती आ रही है। अतः आध्यात्मिक साधना एवं अनुभूतियों के अध्ययन के लिए भारत अत्यंत उपयोगी क्षेत्र है। किन्तु तब भी भारतीय धर्म, उसकी साधना तथा अनुभूतियों पर उस प्रकार से चिंतन नहीं हुआ है जिस प्रकार पश्चिम में। जिन लोगों ने। इस संदर्भ में लिखा है, वे प्रायः स्वयं किसी विधि-विशेष से साधना करते थे तथा उनका लेखन उस दृष्टि से विशेष रूप से प्रभावित है। उदाहरणार्थ प्रो. रानडे के ग्रंथ उनकी स्वयं की अनुभूतियों की दूसरों के माध्यम से अभिव्यक्ति हैं। विशेष प्रकार की साधना से किन विशेष प्रकार के अनुभव होते हैं तथा उनका क्या महत्त्व है यही उनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय रहा है। अतः उनका दृष्टिकोण दार्शनिक नहीं कहा जा सकता।

(३)

आध्यात्मिक अनुभवों के लिए पश्चिम में 'मिस्टिसिज़्म' शब्द का प्रयोग होता है तथा जिन्हें इन अनुभवों की प्राप्ति होती है उन्हे मिस्टिक कहा जाता है। आर. एम. जॉन्स के अनुसार, मिस्टिसिज़्म का अर्थ सुनिश्चित नहीं है।[3] अंडरहिल के अनुसार इस शब्द का प्रगोग धर्मशास्त्र, साहित्य तथा दर्शन में विभिन्न अर्थों में किया गयाहै। इसे गुह्य विद्या (ऑकल्टिज़्म), अनुभवातीतता, नीरस संकेत, धार्मिक अथवा सौन्दर्यात्मक भावुकता तथा हेय तत्त्वज्ञान आदि विभिन्न अर्थों में समझा जाता है। कई लोग इसे हेय अर्थ में भी प्रयुक्त करते हैं। किन्तु जैसाकि वे आगे कहते हैं, इसका वास्तविक अर्थ आध्यात्मिक विज्ञान अथवा आध्यात्मिक कला के रूप में ही

३. एन्साइक्लो पिड़िया आफ एथिक्स एण्ड रिलिजन, पृ० ८३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझा जाना उचित है। इस अर्थ में समझने पर इस शब्द की अस्पष्टता उतनी नहीं रहती जितनी प्रायः समझी जाती है।

भारतीय परम्परा में इसके लिए धार्मिक अनुभव अथवा आध्यात्मिक अनुभव अथवा 'अनुभव' या 'अनुभूति' शब्दों का प्रयोग होता है। इन शब्दों का अर्थ भारतीय वाङ्मय में इतना अस्पष्ट तथा लचीला नहीं है जितना 'मिस्टिसिज़्म' का है।

भारतीय दृष्टि से धार्मिक अनुभव का सम्बन्ध धार्मिक जीवन से, जिसे दूसरे शब्दों में 'साधना' कह सकते हैं, है। भारत में जो भी व्यक्ति अनुभव की बात करता है, उसका संदर्भ साधना तथा उससे संबन्धित अनुभव होता है। प्रत्येक साधना-मार्ग का अपना एक निश्चित उद्देश्य होता है। वह उद्देश्य शिव-शक्ति का मेल (तंत्र), अपने इष्ट (राम,कृष्ण, हनुमान, देवी आदि) के दर्शन अथवा उसकी अनुग्रह-प्राप्ति, समाधि अथवा मोक्ष या अन्य कुछ हो सकता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधक अपने लक्ष्य के अनुकूल मार्ग को अपना कर साधना करता है। इस साधना में प्रायः गुरु आवश्यक माना जाता है तथा उस गुरु के संरक्षण में वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। अपनी इस आध्यात्मिक यात्रा में साधक को जो अनेक प्रकार के अलौकिक अनुभव होते हैं तथा जिनकी परिणति उसकी लक्ष्य-प्राप्ति के रूप में होती है, आध्यात्मिक अनुभव के नाम से जाने जाते हैं।

कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जबकि कोई व्यक्ति, जो किसी प्रकार की साधना नहीं कर रहा होता, कभी अचानक किसी अलौकिक अनुभव को प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ, अचानक किसी का कोई संदेश अथवा आवाज़ सुनाई पड़ती है, अथवा किसी प्राकृतिक सौंदर्य को देखकर वह किसी अलौकिक आनन्द की स्थिति को प्राप्त होता है, अचानक ही किसी अलौकिक स्वरूप को देखता है अथवा किसी देवता या ईश्वर के दर्शन को प्राप्त होता है। इस प्रकार के अचानक यदा-कदा होने वाले अनुभवों का भारतीय दृष्टि में, विशेष रूप से जब हम संत अथवा धार्मिकता की दृष्टि से विचार कर रहे होते हैं, विशेष महत्व नहीं होता। हां कभी कभी इस प्रकार का अनुभव व्यक्ति के जीवन को सर्वथा बदल देने वाला होता है तथा उस अनुभव को लेकर उसका आध्यात्मिक जीवन तेज़ी से आगे बढ़ता है। इस अवस्था में निश्चित ही यह अनुभव उसकी साधना एवं आध्यात्मिक जीवन का ही अंग माना जाता है तथा इसका विशेष महत्व होता है। महर्षि रमन का आध्यात्मिक जीवन इसी प्रकार के एक विशेष अनुभव से प्रारंभ हुआ था।

यदि हम उन ग्रंथों का अध्ययन करें जिनमें इन अनुभवों का वर्णन है, तो हम कह पायेंगे कि साधना-भेद तथा लक्ष्य–भेद से इन अनुभवों के प्रकार भी भिन्न–भिन्न हैं। वैष्णव भक्त को अपनी भक्ति-काल में सामान्यतया उन सब अनुभवों की प्राप्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं होती जो तंत्र-साधकों को होती है। इसी प्रकार जप-योग-साधना के अनुभव ध्यान-योग के अनुभवों से भिन्न होते हैं। इतना ही नहीं, एक ही मार्ग के साधकों में भी व्यक्ति के स्वभाव-भेद से इन अनुभवों में भी भेद हो जाता है। फिर भी समान तंत्र वाले साधकों के अनुभव भिन्न तंत्र के साधकों की अपेक्षा अधिक समीपता रखते हैं। किन्तु यहां पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि इसका कोई निश्चित नियम नहीं है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि एक तन्त्र के अनुभव दूसरे तंत्र में असंभव हैं।

बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। इन अनुभवों का क्रम बिल्कुल एक-सा ही हो, ऐसा भी सिद्ध नहीं होता है। कई बार किसी साधक को ऐसे अनुभव प्रारंभ में ही आ जाते हैं जो बहुत ऊंचे तथा प्राचीन साधक को भी उपलब्ध नहीं होते। जब कि कई बार प्राचीन तथा अत्यन्त उच्च भूमि को प्राप्त साधक को भी कई महत्त्वपूर्ण अनुभव नहीं होते।

यहां पर कई महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होते हैं :

प्रथम, क्या धार्मिक अनुभव अधिक अथवा कम उत्कृष्ट अधिक महत्वपूर्ण अथवा कम महत्त्व वाले कहे जा सकते हैं ?

द्वितीय, यदि हां तो कौन सा अनुभव किस श्रेणी का है, इसका निर्धारण कैसे संभव है ?

तृतीय, क्या आध्यात्मिक अनुभवों का मानव के व्यावहारिक तथा दैनिक जीवन से किसी प्रकार का संबन्ध है ?

चतुर्थ, क्या आध्यात्मिक विज्ञान संभव है ?

(४)

सामान्य रूप से यह धारणा है कि अनुभव किसी यांत्रिक रूप से उत्पन्न नहीं होते। श्री अरविंद कहते हैं कि ईश्वर कोई मशीन नहीं है जिसके बारे में निश्चित नियमों की स्थापना की जा सके। अभी तक कोई भी ऐसी खोज नहीं हो सकी है जिसमें यह निश्चित रूप से कहा जा सके कि अमुक साधन को अमुक प्रकार से अमुक काल तक करने से अमुक प्रकार का फल अवश्यही प्राप्त होगा, यद्यपि अनेक स्थानों पर भारतीय शास्त्रों में हम इस प्रकार के कथन अवश्य पाते हैं। अधिकतर शास्त्रों के साथ उनके माहात्म्य की भी चर्चा होती है। उदाहरणार्थ भागवत माहात्म्य में हम पढ़ते हैं कि अमुक प्रकार से भागवत का पाठ करने अथवा श्रवण करने से अमुक प्रकार का फल प्राप्त होता है। रामायण, गीता आदि के सम्बन्ध में भी इस प्रकार की प्रस्थापनाएं की गई हैं। गायत्री, दुर्गा सप्तशती,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हनुमान चालीसा आदि के जय की विभिन्न विधियां तथा उनसे विशेष प्रकार के फल की उपलब्धि भारत में सामान्य ज्ञान का विषय है।

किन्तु इस सम्बन्ध में दो मुख्य बातें ध्यान देने की हैं। प्रथम तो इस प्रकार के नियम प्रायः सकाम साधना के विषय में ही स्थापित किये गए हैं तथा इन कामनाओं का सम्बन्ध भी प्रायः धर्म के विषय से न होकर हमारी किसी लौकिक कामना की पूर्ति से ही होता है। अतः यदि इस प्रकार का विज्ञान सम्भव भी हो तो वास्तविक अर्थ में उसे धर्म अथवा अध्यात्म विज्ञा की संज्ञान नहीं दी जा सकती।

दूसरे, जब हम इस अर्द्ध धार्मिक क्षेत्र में भी नियमों की स्थापना का प्रयास करते हैं तब एक अन्य कठिनाई का सामना करना होता है, जब हम देखते हैं कि इसमें कुछ इस प्रकार के चर (वेरीएबल्स) हैं जिनको वैज्ञानिक नाप, तोल नहीं हो सकती। उदहारणार्थ, जब यह कहा जाता है कि अमुक साधन श्रद्धा तथा विश्वास के साथ किया जाना चाहिए। अब इस बात का निर्णय कैसे होगा कि साधक में श्रद्धा तथा विश्वास है अथवा नहीं तथा है तो कितना ? साथ ही यदि मनोवैज्ञानिक किसी प्रश्नावली के द्वारा अथवा अन्य किसी विधि से श्रद्धा तथा विश्वास को नापने की विधि को खोज भी निकालें तब भी सामान्यतया इन साधनों की सफलता में एक अन्य चर ऐसा भी है जिसका किसी भी विज्ञान के द्वारा ज्ञान सर्वथा असंभव है, और वह है इष्ट की प्रसन्नता।

अब हम अर्द्ध-धार्मिक साधन से वास्तविक अर्थ में धार्मिक साधन तथा उससे प्राप्त सिद्धि के विषय में विचार करते हैं। इस दृष्टि से भारत में प्रचलित साधनाओं को दो मुख्य भागों में बांटा जा सकता है। प्रथम वे साधक जो अपने लक्ष्य की प्राप्ति तथा साधना में प्रगति को किसी की कृपा पर निर्भर स्वीकार करते हैं और दूसरे वे जो किसी की अनुकम्पा तथा अनुग्रह पर साधना को आश्रित स्वीकार नहीं करते। पतंजलि ने अपने योग-शास्त्र में 'ईश्वर प्रणिधान द्वा' सूत्र द्वारा इस प्रकार के दो विकल्पों का स्पष्ट प्रतिपादन किया है। ईश्वर वास्तव में है ? अथवा नहीं, उसका योग में क्या महत्व है ? इसका महत्व केवल भावना को लेकर है अथवा उसकी वास्तविक सत्ता है? ये प्रश्न यहां हम नहीं उठायेंगे। यहां पर विचारणीय बात यह है कि इस प्रकार के दो विकल्पों से धार्मिक अनुभूति तथा धार्मिक प्रगति के स्वरूप का गहरा सम्बन्ध है। यदि हम साधना को पूर्णरूपेण साधन-सापेक्ष मानें तथा इसके अतिरिक्त किसी का भी अनुग्रह इसमें स्वीकार न करें तब योग के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना बहुत उचित है। यह बात ठीक है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार के दर्शन भी साधना–जनित अनुभवों को इन्द्रिय, मन, बुद्धि से परे स्वीकार करते हैं और इसीलिए उनका यह विज्ञान मनोविज्ञान से भिन्न होगा।

जैन दर्शन का उदहारण लेकर हम अपने कथन का तात्पर्य स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे। जैन दर्शन ईश्वर जैसे किसी भी तत्त्व को स्वीकार नहीं करता। इसके अनुसार योग अथवा साधना में तीर्थंकरों का कोई सक्रिय योगदान भी नहीं होता। तर्थंकर पूर्णरूपेण वीतराग जीव हैं तथा किसी भी अन्य जीव से वे पूर्णरूपेण उदासीन तथा तटस्थ हैं। अतः करुणा से द्रवित होकर अथवा किसी अन्य हेतु से भी अन्य जीवों की साधना में अनुग्रह रूप से किसी प्रकार की सहायता करना अथवा उनकी साधना में आई हुई किसी बाधा को दूर करना इस मत में स्वीकार्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार गुरु–प्रसाद अथवा अनुग्रह का भी इस साधना में कोई स्थान नहीं है। गुरु अथवा तीर्थंकर मात्र एक आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। उन्होंने निर्वाण–प्राप्ति के मार्ग की खोज की है, स्वयं ने उस मार्ग पर चल कर निर्वाण की प्राप्ति की है, तथा इस दृष्टि से वे प्रत्येक बद्ध जीव के लिए मार्गदर्शक तथा आदर्श के रूप में प्रेरणा के स्रोत हैं। इसके अतिरिक्त इनका कोई अन्य महत्व उस धर्म में मान्य नहीं है।

दार्शनिक दृष्टि से जैन धर्म की मान्यता है कि जीव स्वरूपतः अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द तथा अनन्त वीर्य–युक्त होता है। कर्म के बंधन के कारण उसका यह स्वरूप पूर्णरूपेण प्रकाशित नहीं हो पाता। व्यक्तिगत साधन एवं तपस्या के द्वारा इस कर्मों के आवरण को क्षीण किया जाता है। ज्यों-ज्यों ये आवरण क्षीण होते जाते हैं, जीव में ज्ञान, शक्ति एवं आनन्द की वृद्धि होती जाती है जो मनःपर्याय तथा अवधि-ज्ञान जैसे अलौकिक अनुभवों के रूप में प्रकट होती है। अंत में जब कर्म-बंधन का पूर्णरूपेण क्षय हो जाता है तब उपर्युक्त प्रकार से जीव अपने स्वरूप में प्रकाशित हो केवलज्ञान को प्राप्त होता है।

इस प्रकार जैन धर्म में आध्यात्मिक उन्नति एवं उपलब्धि में तीन ही तत्त्व प्रासंगिक हैं। प्रथम साधना, दूसरा कर्म–क्षय तथा तीसरा उससे आत्मा के स्वरूप की अभिव्यक्ति। इस मत में साधना तथा कर्म-क्षय में सीधा कार्य-कारण का संबंध भी है। इस बात को स्वीकार कर लेने पर इस धर्म में मनोविज्ञान की भांति ही धर्म-विज्ञान की स्थापना संभव है। इस प्रकार के अध्यात्म–विज्ञान की रचना करते समय हमें साधना, कर्म-बंधन तथा विभिन्न प्रकार के आध्यात्मिक अनुभवों का वर्गीकरण प्रस्तुत करना होगा तथा साधकों के इतिहास से इनमें आपस के संबंधों की खोज कर एक विज्ञान की रचना करनी होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहां पर दो प्रकार की आपत्तियां इस मत के विरुद्ध उठायी जा सकती हैं। प्रथम यह कहा जा सकता है कि मैं विषय का अत्यधिक सरलीकरण कर रहा हूं। वास्तव में मैं ऐसे विषय को, जो सर्वथा अनुभवातीत है, सामान्य अनुभव की भाषा में समझने का प्रयास कर रहा हूं। आध्यात्मिक अनुभव किसी भी प्रकार सामान्य अनुभव की भाषा में समझे नहीं जा सकते। इसके अतिरिक्त, साधना स्वयं भी इतना सरल तथ्य नहीं है जैसाकि प्रस्तुत किया जा रहा है। साधक के व्यक्तित्व एवं रुचि तथा योग्यता के अनुसार प्रत्येक साधना का अलग-अलग रूप होता है और फिर कर्म-बंधन का ज्ञान तथा वर्गीकरण भी असंभव है। किन्हीं भी दो व्यक्तियों को कर्म-बंधन समान नहीं होता है क्योंकि किन्हीं भी दो व्यक्तियों के कर्म सर्वथा समान नहीं होते। अतः अध्यात्म-विज्ञान की बात करना एक मूर्खता मात्र है।

इसके उत्तर में निम्न स्पष्टीकारण किया जा सकता है। जहां तक साधना का प्रश्न है, सभी मनोवैज्ञानिक संप्रत्ययों के बारे में यही बात कही जा सकती है और यह तर्क दिया जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति का क्रोध, प्रेम आदि उसके व्यक्तित्व के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं तथा इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के सीखने, विचारने की प्रक्रिया भी प्रत्येक व्यक्ति के साथ भिन्न होती है, तब मनोविज्ञान किस प्रकार संभव है? किन्तु तब भी मनोविज्ञान की रचना में मानव सतत प्रयत्नशील है ही तथा इस विज्ञान की रचना में निरंतर विकास करने का भी वह दावा कर ही रह है। मनोवैज्ञानिक प्रत्ययों का वर्गीकरण भी बहुत कुछ सफलता के साथ किया ही जाता है। यदि यह सब कुछ संभव है तब निश्चित ही साधना का विज्ञान भी संभव है।

किन्तु यह कहा जा सकता है कि साधना का वैज्ञानिक अध्ययन संभव होने मात्र से अध्यात्म विज्ञान की स्थापना संभव नहीं है। इसके लिए साधना तथा कर्म-क्षय के बीच कारण-कार्य सम्बन्ध भी जोड़ना आवश्यक है तथा कर्मों का यह समूह तथा वर्गीकरण सर्वथा असंभव है। किन्तु जैन दार्शनिक कर्म तथा कर्म-समुच्चय का अलौकिक ज्ञान संभव मानते हैं। जैन धर्म यह स्वीकार करता है कि किस कर्म-समुच्चय तथा किस साधना से किन कर्मों का क्षय होता है, इसका साधकों को अपरोक्ष ज्ञान संभव है। अतः इस कठिनाई का भी हल ऐसे मुनियों के ज्ञान के आधार पर संभव हो सकता है।

इसके अतिरिक्त, यदि हम इस बात को अस्वीकार भी कर दें कि कर्म-बंधन का इस प्रकार का ज्ञान संभव है अथवा संभव होते हुए भी वह अलौकिक होने के कारण किसी विज्ञान का विषय बन सकता है, तब भी अध्यात्म विज्ञान में किसी प्रकार की रुकावट नहीं होनी चाहिए। हम कर्म-बन्धन को मात्र दार्शनिक सिद्धांत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकार कर, इस चर (वेरीएबल) को पूर्णरूपेण त्याग सकते हैं तथा इसके स्थान पर व्यक्तियों के स्वभाव को ले सकते हैं। जैन मत में, मनुष्य का जैसा भी स्वभाव है वह उसके कर्मों के कारण ही है। मनुष्य का यह स्वभाव मनोविज्ञान द्वारा भली प्रकार अध्ययन किया जा सकता है। तब फिर अध्यात्म विज्ञान में नियमों का रूप होगा—अमुक साधन से अमुक प्रकार के व्यक्तियों को अमुक प्रकार के अनुभव होते हैं।

अतः इस विज्ञान की स्थापना में सबसे बड़ी कठिनाई आध्यात्मिक अनुभवों के वर्णन, विश्लेषण तथा वर्गीकरण को लेकर है। इस पर यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि इन अनुभवों का विज्ञान सर्वथा असंभव है। इसका यदि प्रयास किया भी गया तो वह अध्ययन निश्चित रूप से दोषपूर्ण होगा, जिसमें ऐसी स्थिति को जो इन्द्रियातीत, मनोऽतीत तथा बुद्धि से अतीत है, इन्हीं की भाषा में समझने के प्रयास का दोष होगा।

आध्यात्मिक अनुभवों का सामान्य रूप से वर्णन, विश्लेषण एवं वर्गीकरण संभव है अथवा नहीं यह स्वयं में एक जटिल, विस्तृत एवं गंभीर विषय है जिसका विवेचन किसी पूरे ग्रंथ में ही संभव है। किन्तु तब भी इस सम्बन्ध में कुछ बातें यहां पर कहना उचित होगा, जो इस विषय पर कुछ प्रकाश डाल सकेंगी।

प्रथम तो यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती कि यदि आपको स्वयं को कोई अनुभव नहीं है तो आप उसकी चर्चा ही नहीं कर सकते। मानसिक चिकित्सक स्वयं कभी भी पागल नहीं होते अतः उन्हें उन सब अनुभवों का अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता जो मानसिक रोगियों को होता है। फिर भी इसका विज्ञान तो है ही। इस विज्ञान की स्थापना इन रोगियों द्वारा नहीं होती वरन् उन लोगों द्वारा होती है जिन्हें इस प्रकार का अनुभव कभी नहीं होता। इस दृष्टि से आध्यात्मिक अनुभव के पक्ष में यह बात तो है कि इस प्रकार साधक मानसिक दृष्टि से अत्यधिक सावधान होते हैं अतः उनके कथन तथा उनका वर्णन कहीं अधिक विश्वसनीय होता है।

दूसरे, यह बात भी पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं की जा सकती कि आध्यात्मिक अनुभव इस प्रकार का होता है कि उनके विषय में कुछ भी कहना सर्वथा असंभव है। यदि यही बात सत्य होती तब समस्त आध्यात्मिक पुरुष इस विषय में सर्वथा मौन रहते। किन्तु हम देखते हैं कि इन अनुभवों से संसार के सभी देशों एवं धर्मों के ग्रंथ भरे पड़े हैं जो इस बात को प्रमाणित करते हैं कि ये अनुभव भी हमारे सामान्य अनुभव की सहायता से सांकेतिक रूप से समझे जा सकते हैं।

स्वयं आध्यात्मिक पुरुषों ने इन अनुभवों का वर्णन, विश्लेषण तथा वर्गीकरण सावधानी से तथा विस्तारपूर्वक किया है। प्रो. रानडे, श्री अरविंद,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा. चतुर्भुज सहाय जी अथवा अन्य व्यक्ति. जिन्होंने इन अनुभवों के विषय में सावधानी से लिखा, इस विषय में किसी संदेह के लिए स्थान नहीं छोड़ते। उदहारण के लिए जब प्रो. रानडे अनुभवों को रूप, रंग, नाद, गंध, स्पर्श आदि वर्गों में विभाजित करते हैं तथा इनमें भी बिंदु, सूर्य, चन्द्र आदि के अनुभवों की चर्चा करते हैं तब यह नहीं कहा जा सकता कि ये दिव्य अनुभव सर्वथा वर्णनातीत हैं। इसी प्रकार श्रीअरविंद ने भी विभिन्न प्रकार के अनुभवों का वर्णन एवं विश्लेषण विस्तार से किया है। हमारे विचार से, जो कुछ अब तक इन अनुभवों के बारे में लिखा जा चुका है—अध्यात्म को एक विज्ञान के रूप में विकसित करने के लिए पर्याप्त है। यद्यपि यह विज्ञान अन्य सभी मानव-विज्ञानों से अधिक जटिल होगा।

साधन–सापेक्ष अध्यात्म पर विचार करने के पश्चात् अब हम दूसरे मत पर विचार प्रारंभ करते हैं जो आध्यात्मिक अनुभवों को वास्तव में अनुग्रह-सापेक्ष भी स्वीकार करते हैं। सभी भक्तिमार्गी एक मत से यह घोषणा करते हैं कि अध्यात्म में प्रगति एवं सिद्धि वास्तव में गुरु अथवा इष्ट का प्रसाद है तथा इस लिए इस क्षेत्र में एक ऐसा चर (वेरीएबल) है जो नियमों के अंतर्गत नहीं आ सकता। इसीलिए अध्यात्म विद्या को वैज्ञानिक रूप देना एक असफल प्रयास मात्र होगा। साधन तथा सिद्धि को कभी भी नियमों की शृंखला में नहीं बांधा जा सकता क्योंकि वास्तव में इस प्रकार के नियम हैं ही नहीं, जैसाकि श्री अरविंद ने सुन्दर विधि से कहा है कि ईश्वर कोई मशीन नहीं है।

किन्तु तब यहां पर भी यह प्रश्न अवश्य ही उठता है कि तब साधना का अर्थ तथा उपयोग क्या है ? क्या साधना में तथा इष्ट के अनुग्रह में कोई संबन्ध नहीं है ? श्री अरविंद का कहना है कि वास्तव में इन दोनों में कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है किन्तु उनके अनुसार इससे साधना का महत्व तथा उपयोगिता कम नहीं हो जाती। उनका कहना है कि ईश्वर की कृपा कार्य करे इसके पहले भूमि तैयार होना आवश्यक है। यद्यपि वे कहते हैं कि ऐसा भी निश्चित नियम नहीं है कि यदि भूमि तैयार नहीं होगी तब ईश्वर का अनुग्रह होगा ही नहीं तथा भूमि तैयार होते ही ईश्वर का अनुग्रह तुरंत ही अवश्य होगा। यहां पर उनका कहना है कि यदि भूमि तैयार नहीं है तो उस अनुग्रह का भान हमें नहीं होगा, हम उसे ग्रहण नहीं कर सकेंगे। इसके विपरीत यदि हमारी भूमि तैयार है तो निश्चित ही ईश्वर के उस अनुग्रह को प्राप्त कर हम अभिभूत हो जांय। यह साधना निश्चित रूप से साधक–सापेक्ष है। श्री अरविंद ने स्पष्ट लिखा है कि यह मत सोचो कि शरण भी वह (ईश्वर) ही आपसे करवा लेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु तब यहां पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि इस साधना तथा भूमि तैयार होने में कोई निश्चित सम्बन्ध है अथवा नहीं। जहां तक मुझे ज्ञात है, जिस प्रकार आध्यात्मिक अनुभवों एवं सिद्धियों के स्वरूप एवं श्रेणी आदि का विस्तृत वर्णन हमें मिलता है, इस भूमि का नाप-जोख संभवतः न तो किया ही गया है और न किया जा ही सकता है।

राजस्थान विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मवाद एवं अनात्मवाद

रमाकांत त्रिपाठी

दार्शन के इतिहास में आत्मा संबंधी प्रश्न सबसे प्राचीन जान पड़ता है। संभवतः यह समस्या सबसे अधिक विवादास्पद और सबसे अधिक महत्त्व की भी है। विचारपूर्वक जीवन यापन करने वाले व्यक्ति के लिये यह निश्चिय करना परम आवश्यक होता है कि मनुष्य का वास्तविक स्वरूप क्या है क्योंकि उसके उपरांत ही यह निश्चय किया जा सकता है कि जीवन का अन्तिम लक्ष्य क्या है और उसे प्राप्त कैसे किया जाय। यदि दर्शन का सम्बन्ध जीवन से है तो दर्शन के लिये यह सबसे अधिक महत्त्व का प्रश्न है।

साधारणतया प्रत्येक मनुष्य सुखी जीवन बिताने की चिंता में रहता है और उसी के लिये प्रयत्न करता है। सुखी जीवन का अर्थ साधारणतया इच्छ-पूर्ति के रूप में किया जाता है। परन्तु मानव एक ऐसा विचित्र प्राणी है कि उसकी इच्छाओं की कोई सीमा नहीं है और वह विचित्र प्रकार की इच्छाएँ रखता है। उदाहरणार्थ मानव की एक इच्छा रहती है अमरत्व प्राप्त करने की। मरना तो स्वभावतः कोई नहीं चाहता किंतु मानव अमरत्व-प्राप्ति के लिये इच्छुक ही नहीं प्रयत्नशील भी रहता है। वह मृत्यु की समस्या पर विचार करता है और जीवन के संबंध में एक सिद्धांत निश्चित करना चाहता है। यह स्पष्ट है कि मनुष्य यदि शरीर मात्र है तो मृत्यु होना निश्चित है, मृत्यु से किसी भी प्रकार बचा नहीं जा सकता। परन्तु क्या मनुष्य शरीर मात्र ही है? स्वप्न का अनुभव हम को एक घपले में डाल देता है। स्वप्न में हम को अपने इस शरीर का कोई भान नहीं रहता, शरीर तो बिस्तर पर पड़ा रहता है, फिर भी स्वप्न में हमारा व्यक्तित्व रहता है। अतः प्रश्न उठता है कि हम बिना इस शरीर के भी किस प्रकार स्वप्न में अपनी सत्ता बनाये रखते हैं और तरह-तरह के व्यवहार करते हैं? क्या बिना शरीर के भी हम रह सकते हैं? अथवा क्या हम दूसरा शरीर धारण करले सकते हैं? स्वप्न का अनुभव सचमुच एक पहेली है और संभवतः उसी को लेकर मानव के मन में आत्मा विषयक जिज्ञासा उत्पन्न हुई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वप्न के अनुभव से केवल यहीं नही सिद्ध होता है कि बिना इस शरीर के भी हमारी सत्ता रह सकती है बल्कि यह भी सिद्ध होता है कि बिना इस शरीर और उसकी इंन्द्रियों के प्रयोग के भी चेतनता संभव है। हो सकता है कि स्वप्न में हम दूसरा शरीर धारण कर लेते हों परंतु यह निश्चित है कि उस समय जाग्रत अवस्था वाला शरीर निष्क्रिय रहता है। स्वप्न-काल की चेतना जाग्रत अवस्था के शरीर की क्रियाओं पर निर्भर नहीं करती, कम से कम हमें उस शरीर का भान नहीं रहता है। तो क्या हम यह कह सकते हैं कि चेतना शरीर-निरपेक्ष है ?। जो लोग यह मानते हैं कि चेतना मस्तिष्क की क्रियाओं से उत्पन्न होती है वे यह कह सकते हैं कि स्वप्नावस्था में भी मस्तिष्क की क्रियाएँ चालू रहती हैं और अन्य नाड़ियाँ भी चालू रहती हैं इसी से उस समय, अर्थात् स्वप्नावस्था में भी, चेतना उत्पन्न है कि नहीं इस प्रश्न पर हम आगे विचार करेंगे। यहां तो हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि स्वप्न के व्यवहार में हम इस शरीर का प्रयोग नहीं करते।

चैतन्य विषयक प्रश्न की दृष्टि से स्वप्न से भी बढ़कर महत्व सुषुप्ति के अनुभव का है। क्या सुषुप्ति में चेतना रहती है ? यह सही है कि हम सब यह मानते हैं कि सुषुप्ति में हम सर्वथा अचेत रहते हैं, फिर भी हम यह प्रश्न कि सुषुप्ति में चेतना रहती है कि नहीं इसलिये उठाते हैं कि हमारी समझ में नहीं आता कि सुषुप्ति में चेतना हो क्या जाती है और फिर जगने पर कहां से चली आती है ? इतना ही नहीं, सुषुप्ति की अवस्था में चेतना न स्वीकार करने से अन्य कठिनाइयाँ भी उत्पन्न होती हैं जिन का उल्लेख हम आगे करेंगे। यहां केवल यही कहना है कि स्वप्न और सुषुप्ति के अनुभवों पर विचार करने से जो प्रश्न हमारे सामने आता है वह यही है कि चेतना का स्वरूप क्या है ? चेतना आगंतुक और उत्पाद्य है कि नहीं ? यही आत्मा विषयक विचार का आरंभ है। चैतन्य के स्वरूप पर विचार करके ही हम आत्मा-विषयक प्रश्न हल कर सकते हैं।

२

दर्शन के इतिहास में प्रायः यह देखा जाता है कि चैतन्य को झट से क्रिया अथवा गुण मान लिया जाता है और उसके बाद कहा जाता है कि चैतन्य का संबंध आत्मा नामक द्रव्य से है, अर्थात् चैतन्य आत्मा का गुण या क्रिया है। परंतु इस प्रश्न पर गभीरता से विचार नहीं किया जाता कि चैतन्य वास्तव में गुण या क्रिया हो सकता है या नहीं। यदि चैतन्य को गुण माना जाता है तो प्रश्न होता है कि यह गुण किसी चैतन्य तत्त्व का है अथवा अचैतन्य का ? चैतन्य का गुण चैतन्य हो नहीं सकता और न तो चैतन्य किसी अचैतन्य तत्त्व का गुण हो सकता है। चैतन्य को गुण मान भी लिया तो प्रश्न उठता है कि यह गुण आगंतुक है या स्वाभाविक ? यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वाभाविक है तो निद्रा में चैतन्य क्यों नहीं रहता ? और यदि यह गुण आगंतुक है तब प्रश्न होता है कि यह गुण कैसे आता है और कैसे फिर चला जाता है ? इस समस्या को हल करने के लिये चैतन्य को उत्पन्न मानना आवश्यक हो जाता है। इसी से बहुत से लोग चैतन्य को गुण कह कर उसे क्रिया कहना अधिक पसंद करते हैं, क्योंकि चैतन्य यदि क्रिया है तो कहा जा सकता है कि निद्रा में वह क्रिया बंद रहती है। और चैतन्य यदि गुण है तो निद्रा में उसे रहना चाहिये। परंतु यहां भी वही प्रश्न उठता है कि चैतन्य अचैतन्य तत्त्व की क्रिया है या चैतन्य तत्त्व की। चैतन्य की चैतन्य-क्रिया कहना व्यर्थ है। और चैतन्य को अचैतन्य की क्रिया कैसे कहा जा सकता है ? यहां भी चैतन्य को उत्पाद्य कहना पड़ेगा। इस प्रकार मुख्य प्रश्न यह नहीं ठहरता है कि शरीर से पृथक् आत्मा द्रव्य है या नहीं बल्कि यह है कि चैतन्य का स्वरूप क्या है ? उसे उत्पाद्य कहा जा सकता है कि नहीं ? वह आगंतुक तत्त्व है या स्थायी ?

जड़तत्त्ववादी तथा कुछ अन्य दार्शनिक चैतन्य को आगंतुक मानते हैं। न्याय के अनुसार आत्मा नित्य द्रव्य है किंतु चैतन्य एक आगंतुक गुण है और आत्मा में सर्वदा नहीं रहता। चार्वाक के अनुसार चैतन्य-विशिष्ट देह ही आत्मा है। अतः यदि चार्वाक चैतन्य को उत्पाद्य और आगंतुक कहें तो इससे आश्चर्य नहीं होता परंतु जब न्याय, जो चार्वाक का खंडन करता है, स्वयं चैतन्य को उत्पाद्य मानता है तो बहुत आश्चर्य होता है। आत्मा, मन, इन्द्रिय में से कोई चैतन्य नहीं है परंतु उनके संयोग से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। न्याय और चार्वाक में भेद केवल इतना ही है कि न्याय में चैतन्य की उत्पत्ति एक यांत्रिक ढंग से होती है जबकि चार्वाक के अनुसार चैतन्य की उत्पत्ति एक रासायनिक क्रिया है। आत्मा को न्याय एक विशेष प्रकार का द्रव्य अवश्य मानता है परंतु है वह जड़ ही। अतः न्याय और चार्वाक दोनों के अनुसार चैतन्य का कारण जड़तत्त्व ही सिद्ध होता है।

३

यह सत्य है कि हम सबको चैतन्य एक आगंतुक तत्त्व जान पड़ता है जो कभी रहता है कभी नहीं रहता है। परंतु चैतन्य क्या उत्पत्तिशील और नाशवान् पदार्थ हो सकता है ? यदि हम चैतन्य को उत्पत्तिशील मानते हैं तो उसे नाशवान् मानना भी उचित ही है। परंतु चैतन्य को उत्पाद्य मानना क्या ठीक है ? क्या आज तक कोई भी यह बताने में सफल हुआ है कि चैतन्य उत्पन्न कैसे होता है ? चार्वाक का यह कथन कि चैतन्य भौतिक द्रव्यों से उत्पन्न होता है, सर्वथा कल्पनामात्र है। चार्वाक यह बता नहीं पाता कि भौतिक तत्त्वों से कैसे अभौतिक तत्त्व चैतन्य उत्पन्न होता है। हल्दी, चूना के उदाहरण से कुछ सिद्ध नहीं होता। सर्वप्रथम यह उदाहरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भौतिक तत्त्वों का है और केवल भौतिक से भौतिक की उत्पत्ति बताता है। दूसरे यह कि किस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैसे हल्दी-चूना एक तीसरा रंग पैदा कर देते हैं वैसे ही भौतिकतत्त्वों से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है? भौतिकतत्त्वों में पाया जाने वाला कोई भी गुण चैतन्य में नहीं है तो उन दोनों में कार्य-कारण संबन्ध कैसे हो सकता है? किसी वैज्ञानिक ने भी आज तक इस सम्बन्ध को स्थापित नहीं किया है। यह बात सही है कि शरीर की अवस्थाओं का प्रभाव चैतन्य पर पड़ता हुआ सा जान पड़ता है जैसे सिर पर चोट लगने से बेहोशी, मदिरापान से चैतन्य-विकृति, सुबुद्धि में से चैतन्य का अभाव आदि। परन्तु इससे क्या सिद्ध होता है कि चैतन्य उत्पाद्य है? क्या यह विकल्प सम्भव नहीं है कि शरीर और मस्तिष्क, चैतन्य के अभिव्यक्ति के साधन या माध्यम हैं नकि उत्पादक कारण? जब माध्यम में कोई दोष उत्पन्न होता है तो जान पड़ता है कि चैतन्य में ही दोष उत्पन्न हो गया है। ठीक उसी प्रकार जैसे तार और बल्ब बिजली की अभिव्यक्ति के साधन हैं परन्तु यदि बल्ब और तार लगाने पर भी प्रकाश नहीं होता तो हम यह कह सकते कि बिजली नहीं है क्योंकि हो सकता है कि तार और बल्ब में दोष हो। बिजली के रहने पर भी माध्यम के न रहने पर या ख़राब होने पर बिजली का प्रकाश नहीं हो पाता है वैसे ही चैतन्य के रहने पर भी साधन या माध्यम के अभाव में या उसमें दोष के कारण चैतन्य का अभाव मालूम पड़ सकता है। जैसे विचार के प्रकाशन के लिए वाणी की आवश्यकता होती है वैसे ही विचार की अभिव्यक्ति के लिए मस्तिष्क की आवश्यकता होती है। यह उदाहरण प्रमाण के रूप में नहीं दिया गया है, प्रमाण तो आगे दिया जायगा। यह उदाहरण केवल एक सम्भावना को स्पष्ट करने के लिए दिया गया है। हमारा तात्पर्य इतना ही है कि उपर्युक्त कठिनाइयों के रहते हुए भी चैतन्य को उत्पाद्य मानना ठीक नहीं है, विशेषकर जबकि कोई प्रमाण नहीं हो।

यदि चैतन्य उत्पाद्य नहीं है तो उसे आगन्तुक और नाशवान् भी नहीं कहा जा सकता है। परन्तु जबतक निद्रावस्था में भी चैतन्य का भाव न दिखाया जा सके तबतक तो चैतन्य को आगन्तुक मानना ही पड़ेगा। तो क्या निन्द्रा-वस्था में भी चैतन्य का सर्वथा अभाव होता है? जान पड़ता है कि चैतन्य और निद्रा की समकालीनता में विरोध है, यदि चेतनता है तो फिर निद्रा कैसे हो सकती है? चैतन्य के अभाव को ही तो निद्रा कहते हैं क्योंकि सोकर उठा हुआ व्यक्ति कहता है कि मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ। अतः निद्रा या बेहोशी चैतन्य का अभाव ही जान पड़ता है। परन्तु विचारणीय है कि निद्रा में क्या केवल विषयों के ज्ञान का अभाव होता है या चैतन्य मात्र का? विषय-ज्ञान के अभाव के आधार पर चैतन्य मात्र का अभाव मानना क्या ठीक है? कहा जा सकता है कि जागृति और स्वप्न में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाये जाने वाले सविशिष्ट ज्ञान के अतिरिक्त और कोई चैतन्य नहीं है। चैतन्य सदा विशिष्ट या सप्रकारक होता है, निर्विशिष्ट या निष्प्रकारक चैतन्य सम्भव नहीं है और न ऐसे चैतन्य का कोई अनुभव ही होता है।

४

यह सही है कि साधारणतया हमको जो अनुभव है वह केवल सविशिष्ट चैतन्य या विज्ञानों का ही है परन्तु फिर भी विचार करने पर जान पड़ता है कि सुबुद्धि में भी विशिष्ट नहीं तो निर्विशिष्ट चैतन्य मानना आवश्यक है। मान लीजिए कि एक बालक गोपाल सोया है और उसे उठाने के लिए हम कहते हैं गोपाल, छः बज गया, उठो।" प्रश्न यह है कि गोपाल हमारी पुकार सुनकर उठता है या उठकर उसे सुनता है? यदि उठकर सुनता है तो जगाने के लिए हमारा पुकारना व्यर्थ है, क्योंकि उसे वह जगने के बाद सुनता है। उठकर सुनता है यह कहना अनुभव के भी विरुद्ध है क्योंकि हम सभी यही कहते हैं कि अमुक आवाज़ सुनकर हम जग गये। अतः यही कहना ठीक जान पड़ता है कि गोपाल पुकार सुनकर के उठता है। परन्तु यह तभी सम्भव होगा जब हम निद्रा में भी एक प्रकार का चैतन्य स्वीकार करें, अन्यथा पुकार का सुनना असम्भव हो जायगा। पुकार की आवाज़ से चैतन्य की उत्पत्ति मानी नहीं जा सकती क्योंकि आवाज़ (कारण) के बाद होने वाला चैतन्य (कार्य) पहले आने वाले शब्द का अनुभव नहीं कर सकता है। अतः किसी न किसी रूप में निद्रा में भी चैतन्य मानना आवश्यक है।

एक दूसरा प्रश्न भी विचारणीय है। क्या चैतन्य के अभाव का ज्ञान चैतन्य के अभाव में हो सकता है? क्या चैतन्य के द्वारा चैतन्य-भाव के ज्ञान की सम्भावना मानना आत्म-विरोध या असंगति नहीं है? दूसरे शब्दों में, चैतन्य के अभाव का ज्ञान हमको अभावावस्था में ही होता है अथवा अभावास्था के बीत जाने पर? निद्रावस्था में ही हमको चैतन्य के अभाव का ज्ञान होता है या जगने पर? बिना विचारे हम कह देते हैं कि जगने पर निद्रा में चैतन्याभाव का ज्ञान होता है। परंतु चैतन्याभाव का ज्ञान चैतन्याभाव के बीत जाने पर कैसे सम्भव है। जगने पर चैतन्याभाव रहता ही नहीं है तो उसका ज्ञान कैसे हो सकता है? क्योंकि अनुमान में व्याप्ति सिद्धि के लिए कभी न कभी चैतन्य के अभाव का ज्ञान स्वीकार करना होगा। अभाव का ज्ञान किसी भी तरह अनुमान से नहीं हो सकता। अतः चैतन्य के अभाव का ज्ञान अभावावस्था में ही होना चाहिये। परन्तु उससे तो स्पष्ट ही आत्म-विरोध होगा। चैतन्याभाव का ज्ञान चैतन्याभाव की अवस्था में स्वीकार करने का अर्थ चैतन्याभाव का अभाव या चैतन्य का भाव होगा। निद्रा और चैतन्य में विरोध है यह सही है, परन्तु इस प्रकार के विरोधाभास को दूर किया जा सकता है। विशिष्ट चैतन्य या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषयात्मक चैतन्य का अभाव और निर्विशिष्ट चैतन्य का भाव दोनों एक-साथ संभव है। इतना ही नहीं, सविशिष्ट चैतन्य के अभाव को प्रकाशित करने के लिए निर्विशिष्ट चैतन्य को मानना आवश्यक है। अर्थात् निद्रा में एक प्रकार के चैतन्य का (सविशिष्ट का) अभाव होता है और दूसरे प्रकार के चैतन्य (निर्विशिष्ट का) का भाव होता है। निद्रा में इस प्रकार से चैतन्य का भाव और अभाव दोनों होता है। अर्थात् चैतन्य का कभी लोप नहीं होता।

५

अब यहां एक दूसरी समस्या खड़ी होती है। क्या साकार चैतन्य के अतिरिक्त निराकार चैतन्य भी होता है जो निद्रा में साक्षी रूप में वर्तमान रहता है? अनुभव में तो केवल साकार चैतन्य ही आता है। इसी से कुछ पाश्चात्य दार्शनिक और बौद्ध-दार्शनिक केवल क्षणिक साकार चैतन्य या विज्ञान की ही सत्ता स्वीकार करते हैं और उसकी पुष्टि के लिए बार-बार अनुभव की दोहाई देते हैं और कहते हैं कि साकार चैतन्य के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के चैतन्य का अनुभव नहीं है। प्रश्न यह है कि साकार चैतन्य का ज्ञान कैसे होता है? इस विषय में दो धारणाएं हैं—एक तो यह कि विज्ञान या साकार चैतन्य का ज्ञान आत्मा से होता है जो एक अलग द्रव्य है, दूसरी यह कि विज्ञान स्वसंवेद्य है। यहां हम पहली धारणा पर विचार नहीं करेंगे क्योंकि आत्मा चैतन्य गुणधारी द्रव्य है इस मत पर विचार किया जा चुका है। परन्तु यदि आत्मा को प्रकाशक या प्रकाशस्वरूप मान लिया जाय और विज्ञान को प्रकाश्य माना जाय तो अवश्य ही प्रकाशस्वरूप आत्मा को निराकार मानना होगा। विज्ञान स्वयं वेद्य है इस मत में भी प्रकाशक तत्त्व को मानना आवश्यक जान पड़ता है। बात यह है कि विज्ञान में दो तत्त्व जान पड़ते हैं—एक चैतन्य और दूसरा उसका आकार। अतः प्रश्न उठता है कि विज्ञान में जो चैतन्य है वह आकार-सापेक्ष है या आकार-निरपेक्ष? यदि चैतन्य को आकार-सापेक्ष माना जायगा तो अवश्य ही वह किसी आकार विशेष से सम्बन्धित हो जायगा और दूसरा आकार नहीं ले सकेगा। परन्तु विज्ञान अनेक हैं और सभी में चैतन्य और आकार दोनों होता है। अतः चैतन्य को आकार-निरपेक्ष मानना आवश्यक है। इस प्रकार निराकार चैतन्य की सिद्धि होती है।

हेगेल और रामानुजाचार्य ने निष्प्रकारक चैतन्य का विरोध किया है। साथ ही उन लोगों ने आत्मा-अनात्मा के भेद पर भी बल दिया है। हेगेल ने भेद में अभेद या अभेद-सहित भेद के सिद्धान्त को स्वीकार करके चैतन्याचैतन्य के संश्लेषण को परम तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। परन्तु चैतन्य का संश्लेषण किसी प्रकार हो सकता है? केवल यह कह देने मात्र से कि तत्त्व का यही स्वरूप है, काम न चलेगा, उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तार्किक संगति देखना आवश्यक है। रामानुज ने चित् के अतिरिक्त अचित् पदार्थ भी स्वीकार किया है परन्तु वे यह स्पष्ट नहीं कर पाते कि अचित् द्वारा किस प्रकार चित् तत्व में आकार आकार उत्पन्न हो सकता है। इसी से विज्ञानवादी बौद्ध कहते हैं कि विज्ञान विज्ञानेतर किसी तत्त्व से न उत्पन्न होकर विज्ञान से ही उत्पन्न होता है—एक विज्ञान दूसरे विज्ञान को जन्म देता है। परन्तु प्रश्न यह है एक विज्ञान-आकार दूसरे विज्ञान के आकार को उत्पन्न करता है अथवा एक का चैतन्यांश भी दूसरे विज्ञान के चैतन्यांश को उत्पन्न करता है? ऊपर दिखाया जा चुका है चैतन्य उत्पाद्य नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि विज्ञानों के क्षणिकत्व का ज्ञान हम को कैसे होता है? क्षणिक होने के कारण एक विज्ञान दूसरे विज्ञान का द्रष्टा नहीं हो सकता। यदि विज्ञानों का क्षणिकत्व अनुभव के आधार पर प्रतिपादित है तो अवश्य ही क्षणिक विज्ञानों का द्रष्टा एक अक्षणिक और निराकार चैतन्य मानना होगा। यदि क्षणिक वाद के लिए अनुभव प्रमाण नहीं है तो उसे केवल मन की उड़ान मात्र कहना होगा।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि चैतन्य का आकार न तो किसी चैतन्येतर तत्त्व से उत्पन्न हो सकता है और न तो चैतन्य स्वयं आकार ग्रहण कर सकता है। चैतन्य निराकार और विकारहीन है। दिखाई पड़ने वाला आकार एक आगन्तुक तत्त्व है जिसकी न कोई स्वतन्त्र सत्ता है और न तो वह चैतन्य में ही निहित है। स्वतः चैतन्य आकार-निरपेक्ष या निराकार है। इसी से सांख्य और वेदांत में साकार चैतन्य या विज्ञान को अन्तःकरण या बुद्धि, जो परिवर्तनशील जड़ तत्त्व है, उसकी वृत्ति माना गया है। अन्तःकरण चैतन्य पर आरोपित है इसलिए जान पड़ता है कि मानो चैतन्य ही परिवर्तनशील और साकार है। परन्तु यदि वृत्तियां परिवर्तनशील हैं तो अवश्य ही उनका द्रष्टा अपरिवर्तनशील होगा। एक परिवर्तनशील तत्त्व को दूसरे की परिवर्तनशीलता का ज्ञान नहीं हो सकता है। वृत्तियां स्वयं जड़ हैं परन्तु चैतन्य से सम्बन्धित होने के कारण प्रकाशित होती हैं और चैतन्य मालूम पड़ती हैं। चैतन्यतत्त्व जो उनको प्रकाशित करता है वह स्वयं निराकार और अपरिवर्तनशील है। इसी से वेदांत में प्रकाश और प्रमा में भेद किया गया है। स्वयं चैतन्य केवल प्रकाशस्वरूप या साक्षीरूप है वह प्रमा नहीं है। बुद्धि की वृत्तियां ही प्रमा या अप्रमा हो सकती हैं। ब्रह्म अपने को नहीं जानता। अपने को जानने के लिए उसे ईश्वर होना पड़ता है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही ज्ञाता हो सकता है, ब्रह्म तो केवल प्रकाशस्वरूप है। चैतन्य को निराकार मान लेने पर उसके अनेक और मरणशील होने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रश्न केवल यही उठ सकता है कि क्या चैतन्य और बुद्धि (जड़ तत्त्व) के द्वैत को स्वीकार किया जा सकता है? स्पष्ट है कि जड़तत्त्व स्वप्रमाण नहीं मिथ्या है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः हमारा निष्कर्ष यह है कि आत्मा को मानने या न मानने का प्रश्न नहीं है, क्योंकि आत्मा को तो सब कोई मानता ही है भले ही उसे शरीर के रूप में माने या मन के रूप में, या क्षणिक चैतन्य के रूप में, या चैतन्य विशिष्ट द्रव्य के रूप में। प्रश्न यह है कि ये धारणाएं संगत और प्रामाणिक हैं कि नहीं ? अर्थात् प्रश्न केवल आत्मा के स्वरूप के विषय में है न कि उसकी सत्ता के बारे में। ऊपर विवेचन से यह सिद्ध है कि ये धारणाएं संगत नहीं हैं। चैतन्य तत्त्व को न तो क्षणिक माना जा सकता है, न साकार और न उसे उत्पाद्य और मरणशील और न उसे गुण के रूप स्वीकार किया जा सकता है। चैतन्य को एक स्वतन्त्र और निराकार तत्त्व के ही रूप में स्वीकार किया जा सकता है। और वही हमारी आत्मा है, क्योंकि उसके अतिरिक्त जो जड़ तत्त्व है और जिसके कारण द्वैत और परिवर्तनशीलता का आभास होता है वह मिथ्या है, वह परतन्त्र और परतःप्रमाण है। चैतन्य के अतिरिक्त जो कुछ भासता है वह चैतन्य का विवर्त है, उसकी सत्ता और ज्ञान दोनों सापेक्ष हैं, वह तभी तक है जब तक वह भासता है। तभी तक उसकी सत्ता है जब तक उसमें सत्य बुद्धि है। जब उसका बोध हो जाता है तब उसमें सत्य-बुद्धि नहीं होती। यहां हम यह प्रश्न नहीं उठा सकते कि जड़ तत्त्व का बोध होता है कि नहीं, और कैसे होता है। यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि ऐसा कोई दर्शन देखने को नहीं मिलता है जिसे चैतन्य और चैतन्येतर तत्त्व में कोई सत्य सम्बन्ध स्थापित करने में सफलता मिली है। चैतन्येतर को मिथ्या मानने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है। अतः चैतन्य ही हमारा वास्तविक स्वरूप है। वह निराकार और एकमाद्वितीयम् तथा शाश्वत है।

हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मन् और अनात्मन्

रघुनाथ गिरि

कतिपय शब्दों के विविधार्थ में प्रयोग से तथा कतिपय अवधारणाओं के स्वरूप-निर्धारण में अनिश्चय से अनेक मतवादों का जन्म विचार के इतिहास में हुआ करता है। आत्मन्-अनात्मन् शब्द तथा आत्मा की अवधारणा को भी उन्हीं में से एक कहा जा सकता है। 'आत्मन् तथा अनात्मन्' की समस्या पर तीन दृष्टियों से विचार किया जा सकता है : प्रथम, इस समस्या के उदय का आधार, द्वितीय आत्मन् तथा अनात्मन् का स्वरूप तथा तृतीय आत्मन् तथा अनात्मन् का सम्बन्ध है। प्रस्तुत निबन्ध मैं इन्हीं तीन प्रश्नों को ध्यान में रख कर इस समस्या पर विचार किया गया है। जब हम इस समस्या के आधार की खोज की दिशा में बढ़ते हैं तो मुख्यतया तीन आधार हमारे दृष्टि-पथ में आते हैं :

प्रथम, भाषा सम्बन्धी आधार : इस आधार से हमारा तात्पर्य इन शब्दों के साधारण प्रयोग तथा शब्दकोशीय अर्थ से है। साधारण प्रयोग में आत्मन् शब्द हम आदि व्यक्ति का बोधक तथा अनात्मन् शब्द वस्तु-बोधक है। किन्तु 'मैं' 'हम', 'व्यक्ति' तथा 'वस्तु' आदि शब्द इतने भ्रामक हैं कि इनके द्वारा निश्चित अर्थ का निर्धारण नहीं हो पाता। जैसे 'मैं', 'हम' आदि शब्दों का प्रयोग प्रसंगवश धन, सम्पत्ति, प्रियजन, शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा इनसे भिन्न नित्य चेतन तत्त्व के अर्थ में किया जाता है। इन अर्थों में परस्पर इतनी भिन्नता है कि सबका समावेश सम्भव नहीं है, और प्रयोग के आधार पर यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इनमें से कौन आत्मन् शब्द का सही एवं वास्तविक अर्थ है। दूसरी ओर वस्तु शब्द भी कम भ्रामक नहीं है। कभी यह जड़ का निर्देश करता है तो कभी तत्त्व का। 'आत्मन्' शब्द के उक्त अर्थों में से सभी को न तो अजड़ कह सकते हैं न अतत्त्व। इस प्रकार प्रयोग आत्मन् तथा अनात्मन् शब्द के अर्थ को न तो परस्पर व्यावृत्त कर पाता है और न स्पष्ट निर्धारण। इसलिए इन शब्दों के अर्थ-निर्धारण के लिए दूसरे विकल्प

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्द कोश की शरण लेनी पड़ती है। परन्तु वहां यह अर्थ निर्धारण सुलझने के स्थान पर और भी अधिक उलझ जाता है। संस्कृत शब्द कोश में आत्मन् शब्द के निम्न-लिखित अर्थ दिये गए हैं: (१) चेतना (२) जीव (३) स्व (४) पर ब्रह्म (५) सार स्वरूप (६) विशेषता (७) प्राकृतिक प्रवृत्ति (८) सम्पूर्ण शरीर (९) बुद्धि या चिन्तन (१०) विवेक-बुद्धि या तर्कना शक्ति (११) प्राण (१२) उत्साह (१३) पुत्र (१४) सूर्य (१५) अग्नि तथा (१६)वायु। अनात्मन् शब्द की निष्पत्ति आत्मन् शब्द से नञ समास के द्वारा की जाती है जिसका विग्रह होता है न आत्मन्=अनात्मन्। नञ का अर्थ भी स्पष्ट निश्चित नहीं होता। साधारणतया नञ् के छः अर्थ मिलते हैं: (१) सादृश्य (अब्राह्मण अर्थात् ब्राह्मण-सदृश) (२) अभाव (अज्ञान अर्थात् ज्ञान का अभाव) (३) भेद (अपर अर्थात् पर-भिन्न (४) अल्पता (अनुदरा अर्थात् अल्पोदरी या कृशोदरी) (५) अप्रशास्त्य (अकाल अर्थात् अप्रशस्तकाल तथा अकार्य अर्थात् अप्रशस्त कार्य) तथा (६) विरोध (अनीति = नीति-विरुद्ध, असुर, सुर=विरुद्ध)।

इस प्रकार यदि आत्मा शब्द के उक्त सोलह अर्थों का नञ् के छः अर्थों के साथ ताल-मेल बैठाया जाय तो आत्मन् के १६ एवं अनात्मन् के ९६ अर्थ होंगे तथा भाषाशास्त्र के लिए यह समस्या एक मनोरञ्जक समस्या सिद्ध होगी।

द्वितीयः—मनोवैज्ञानिक आधार। मानव एक विचारशील प्राणी होने के कारण अपने मानसिक पहलुओं (ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं इच्छात्मक) की स्पष्ट व्याख्या करना चाहता है। वह अन्य प्राणियों के समान इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त कर तथा क्षुधा, पिपासा आदि इच्छाओं को तृप्त कर ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता। वह ज्ञान के आधार तथा इच्छा के उदय के कारणों का विश्लेषण करना चाहता है। 'स्व' के प्रति आसक्ति तथा 'स्व' की रक्षा की इच्छा एक सार्वभौम मनोवैज्ञानिक तथ्य है जो केवल मानव में ही नहीं अपितु प्राणी मात्र में विद्यमान है। कल्पना-शक्ति से सम्वलित होकर मानव में वही इच्छा अमरत्व आदि की इच्छा के रूप में विकसित हो गयी है। किन्तु विचारकों के लिए यह एक समस्या हो गयी है। उनके समक्ष यह प्रश्न उठता है कि आखिर मनुष्य, जो मरणधर्मा है, को अमरत्व आदि का अनुभव कैसे हुआ है? क्योंकि अमरत्व की इच्छा अमरत्व-ज्ञान की अपेक्षा रखती है। अतः उनके लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वे अमरत्व आदि के साथ मनुष्य का सम्बन्ध स्थापित करें। इसी प्रकार जाग्रत में, स्वप्न में तथा सुषुप्ति के पश्चात् हमें कुछ ज्ञान प्राप्त होते हैं। हम उतने से सन्तुष्ट न होकर इन अनुभवों के आधार एवं कारणों की खोज करने लगते हैं। किन्तु इस खोज की दिशा में किसी निश्चित एवं निःसंदिग्ध बिन्दु पर पहुंचने के पूर्व ही हम किसी मान्यता को आधार बना लेते हैं तथा उसी मान्यता के आधार पर उक्त अनुभवों की संगत व्याख्या की चेष्टा करने लगते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। नित्य आत्मवाद एवं क्षणिक विज्ञानवाद) उत्पन्न हो जाते हैं। प्रत्येक मतावलम्बी स्वमत की स्थापना तथा परमत का खण्डन अनुभव, तर्क, शास्त्र तथा कुछ दृष्टान्त आदि के आधार पर करने का प्रयत्न करता है किन्तु अभी तक ऐसा कोई सार्वजनिक अनुभव, निर्दुष्ट तर्क, सर्वमान्य शास्त्र तथा सर्वांग दृष्टान्त उपस्थित नहीं किया जा सका है जिससे इस समस्या का सर्वमान्य समाधान हो सके।

तृतीयः—मूल्यात्मक आधार : मनुष्य अपने जीवन में अधिकाधिक सुख तथा दुःख-निवृत्ति चाहता है। उन्हें अपने जीवन का लक्ष्य या प्रयोजन भी स्वीकार करता है। इसी आधार पर नैयायिकों ने मानव-प्रवृत्ति के प्रयोजन के रूप में बलवद् अनिष्टाननुबन्धित्व के साथ इष्ट-साधनत्व के ज्ञान को स्वीकार किया है। किन्तु कल्पनाशील मानव मस्तिष्क इतने पर नहीं रुका; उसने चिरस्थायी नित्य सुख तथा आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक दुःखनिवृत्ति की भी कल्पना कर ली। अब इन्हें ही मानव का चरम लक्ष्य माना जाने लगा। लक्ष्य के इस रूप में काफी हद तक समानता होने पर भी इसकी प्राप्ति के मार्ग के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद दीख पड़ता है। विशुद्ध आत्मवादी का उद्देश्य है कि केवल आत्मा के ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र से व्यक्ति समस्त जरा, मरण, शोक आदि व्याधि से छुटकारा पा लेता है तथा उसे चिरस्थायी नित्यानन्द प्राप्त हो जाता है जिसकी तुलना में इच्छा-तृप्ति से होने वाला सुख उसकी सोलहवीं कला में से एक कला के बराबर भी नहीं है। दूसरी ओर विशुद्ध अनात्मवादी की पुकार है कि आत्ममोह ही समस्त क्लेशों का जनक है। इसके परित्याग तथा सब कुछ को अनात्म समझ लेने मात्र से जरामरण, शोक, रोग, व्याधि आदि से आत्यन्तिक निर्वाण मिल सकता है। उभयवादी आत्मा एवं अनात्मा को अलग समझाकर या अलग कराकर आत्यन्तिक दुःख–निवृत्ति के मार्ग का उपदेश देते हैं। प्रत्येक के पास अपने तर्क एवं प्रमाण हैं। किन्तु इतिहास के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि इनमें से किसी ने भी अब तक मानव को उस लक्ष्य की ओर अग्रसर करने में सफलता नहीं पायी है। आज भी मानव उन्हीं क्षणिक सुखों के लिए तरस रहा है और रोग, शोक, व्यथा से आकुल है।

इस समस्या के सन्दर्भ में दूसरा दृष्टिकोण आत्मा तथा अनात्मा के स्वरूप के प्रश्न से सम्बन्धित है। इसका उत्तर भी कम विवादास्पद नहीं है। इस सम्बन्ध में जितने मत-मतान्तर हो गए हैं उनका संक्षिप्त विवरण देना भी यहां सम्भव नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। अतः अपनी सुविधा के लिए उनको निम्नलिखित वर्गों में रखकर उन पर विचार किया गया है।

१. भूतानात्म एवं शरीर आदि आत्मवादः—यह लोकायत मत के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत में तत्त्व अनात्म, जड़ या भूत है। आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है। किन्तु यदि आत्मा माने बिना काम न चलता हो तो प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार शरीर, इन्द्रिय आदि को आत्मा माना जा सकता है। इनसे अतिरिक्त किसी अन्य को आत्मा मानना व्यवहार-संगत नहीं है। इस मत में अनुभव-सिद्ध चेतना का भी कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, वह जड़ के सम्मिश्रण से उत्पन्न होने वाला परिणाम, धर्म या गुण मात्र है। आत्मा चाहे चेतना हो चाहे जीवित शरीर, उत्पन्न होता है और नष्ट हो जाता है।

दर्शन के इतिहास में इस मत के खण्डन के अथक प्रयत्न हुए हैं, फिर भी इसकी व्यावहारिक व्यापकता अक्षुण्ण बनी हुई है। इससे लगता है कि तार्किक विवेचन वैचारिक सिद्धान्त-सर्जन में चाहे कितना भी समर्थ हो, व्यवहार-परिवर्तन उसके सामर्थ्य के बाहर है तथा व्यवहार की प्रामाणिकता तार्किक विसंगतियों के प्रदर्शन से अप्रभावी नहीं हो जाती।

२. आत्मा अनात्मा उभयतत्त्ववादः—इस वर्ग के अन्तर्गत उन सम्प्रदायों तथा चिन्तकों को रखा गया है जो आत्मा तथा अनात्मा दोनों को स्वतन्त्र तत्त्व मानते हैं : जैसे सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, जैन आदि। आत्मा तथा अनात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में इनमें भी परस्पर मतभेद है किन्तु इतना सभी को मान्य है कि आत्मा तथा अनात्मा दोनों में से कोई किसी पर आश्रित नहीं है। दोनों अपनी-अपनी विशेषता के कारण एक-दूसरे से भिन्न हैं। आत्मा चेतन और अनात्मा (प्रकृति, परमाणु, अकाशादि, अजीव पुद्गल आदि) जड़ हैं। शरीर, इन्द्रिय एवं जगत् की अन्य वस्तुओं का निर्माण अनात्म तत्त्व से हुआ है। शरीर आदि में आत्मतत्त्व की चेतना अभिव्यक्त होती है। यहां एक प्रश्न उठता है कि क्या इन मतों में चैतन्य आत्मा की स्वाभाविक विशेषता है या आकस्मिक? किन्तु हमारी दृष्टि में यह प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि चैतन्य को स्वाभाविक या आकस्मिक कुछ भी मान लिया जाय तो कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। क्योंकि शरीर आदि के अभाव में चैतन्य अनुभव-सिद्ध नहीं है। इसलिए शरीर आदि से अलग आत्मा में चेतना किस रूप में रहती है ? उसका कार्य क्या है ? आदि प्रश्नों के उत्तर सैद्धान्तिक मान्यताओं के आधार पर ही दिये जा सकते हैं। अतः उनमें तर्कसंगतता भले ही स्थापित हो जाय व्यावहारिक विश्वसनीयता नहीं आ पाती। इस वर्ग के प्रायः सभी सम्प्रदाय आत्मा की अनेकता सिद्ध करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहते हैं किन्तु जिस प्रकार शरीर आदि से भिन्न आत्मा की सिद्धि को व्यावहारिक समर्थन नहीं मिला है उसी प्रकार अनेक आत्माओं की सिद्धि की युक्तियुक्तता भी स्थापित नहीं हो पायी है।

३. **एकात्मवाद या सर्वात्मवाद एवं अनात्म अतत्त्ववाद**—इस मत के समर्थक केवल आत्मा को ही तत्त्व मानते हैं। आत्मा सत्, चित् एवं आनन्द है। वही तत्व है क्योंकि उसकी सत्ता त्रिकालाबाधित है, वह चित् है क्योंकि चित् के बिना अस्तित्वबोध भी नहीं होता और वही आनन्द है जिसकी क्षीण छाया विषयानन्द में परिलक्षित होती है। अनात्मा या आत्मभिन्न की तात्त्विक सत्ता नहीं है। जड़ माया, मिथ्या, आभास या नामरूपात्मक होने के कारण व्यवहार मात्र के लिए सत् है। अनन्त शरीरों में अभिव्यक्त होने वाला चेतन तत्त्व (आत्मा) एक है। वह स्वतः प्रकाश, ज्ञानस्वरूप एवं आनन्दस्वरूप है। उसका नानात्त्व मायिक शरीर आदि के नानात्व के कारण भ्रान्त प्रतीति मात्र है। समस्त जगत् की सत्ता अनात्म या मिथ्या सत्ता या व्यावहारिक सत्ता है जबकि आत्मा की सत्ता पारमार्थिक सत्ता है।

यह मत वैचारिक दृष्टि से अपने को तर्कसंगत सिद्ध करने में काफी प्रभावशाली है फिर भी नित्य, निरञ्जन, स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप एवं आनन्दस्वरूप आत्मा को जन्म, मृत्यु जरा, व्याधि, रोग शोक आदि के अनुभव (जो व्यावहारिक हैं) से ऊपर उठाने में समर्थ नहीं हुआ है। परमार्थ तथा व्यवहार की खायी न पटी है और न उसके पटने की सम्भावना ही है। अतः इसकी सैद्धान्तिक संगति व्यवहार-परिवर्तन-अक्षम लगती है।

४. **संघात आत्मवाद या नाम आत्मवाद एवं अनात्मतत्त्ववाद**—इस मत के अनुसार अनात्म ही तत्त्व है क्योंकि वह सत् है और जो सत् होता है वह क्षणिक होता है। आत्मा कोई तत्त्व नहीं है। वह रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान के संघात का नाम मात्र है। आत्मा के तत्त्व, नित्यत्त्व आदि की मान्यता मात्र भ्रान्ति है। अनुभव एवं तर्क दोनों अनित्यता एवं क्षणिकता का ही समर्थन करते हैं, नित्यता एवं अपरिवर्तनशील का नहीं।

यह मत आत्मवादी विचार के विरोध में वैचारिक क्रान्ति का अग्रदूत तो बना किन्तु आत्मा की अनादि भ्रान्त मान्यता को हटाने तथा आत्मपरक भाषा को बदलने में इसे किञ्चित् मात्र भी सफलता न मिली।

५. **आत्मदृष्टिवाद एवं अनात्मदृष्टिवाद**—माध्यमिकों ने इस मत की स्थापना की। इसमें न तो आत्मा तत्त्व है न अनात्मा। आत्मा तथा अनात्मा का विवाद दृष्टि का विवाद है। दोनों सापेक्ष हैं। अतः एक की मान्यता दूसरे को मानने के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाध्य करती है। यदि दृष्टियों से ऊपर उठ जाया जाय तो आत्मा अनात्मा दोनों ही समाप्त हो जांयगी। किन्तु जब तक उस स्तर पर नहीं पहुंचते तब तक दृष्टिभेद से मुक्ति मिलने वाली नहीं।

तर्कसंगतता की दृष्टि से यह मत बड़ा ही प्रभावशाली है किन्तु दृष्टिविवाद मिटाने तथा आत्मा-अनात्मा के व्यवहार को बदलने में इने कुछ भी सफलता नहीं मिली है। यह स्वयं भी एक तीसरी दृष्टि बनकर उसी आत्मा-अनात्मा की भाषा में तुतलाता रहा है।

इस समस्या के सन्दर्भ में तीसरा प्रश्न आत्मा तथा अनात्मा के सम्बन्ध का है। आत्मा तथा अनात्मा का स्वरूप चाहे जो भी निर्धारित किया गया हो, इस सम्बन्ध में कितना भी मतभेद क्यों न हो, पर संसार दशा में यह सब को मान्य है कि किसी न किसी प्रकार से आत्मा तथा अनात्मा में सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध की स्पष्ट व्याख्या में लोकायत मत के समक्ष ही सबसे कम कठिनाई है क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव तथा 'स्वभाववाद' के आगे उसे जाना नहीं है और इनके द्वारा जीवित शरीर तथा चेतना की जितनी व्याख्या हो सकती है उतना उसके लिए पर्याप्त है। किन्तु उक्त अन्य सभी के लिये यह समस्या उलझी हुई है। सबको किसी प्रकार इस समस्या की व्याख्या से पलायन ही करना पड़ता है। यही कारण है कि सारे मतभेद के रहते हुए भी सभी सम्प्रदाय इस बात पर सहमत हो जाते हैं कि यह एक अनादि सम्बन्ध है जिसका कारण भी कुछ ऐसा ही है जिसे अविद्या, अज्ञान, कर्मवासना, कर्मसंस्कार आदि नामों से अभिहित किया जा सकता है। ये अविद्या आदि कहां से आते हैं? कैसे आते हैं? आदि प्रश्न अनादि सम्बन्ध के कालगत तथा प्रक्रियागत प्रश्न हैं अतः इन्हें अति प्रश्न कहने मात्र से काम चल जाता है। इस सन्दर्भ में इस बात पर सभी सहमत हैं कि यह अनादि सम्बन्ध परम लक्ष्य की दृष्टि से हेय है, उपादेय नहीं। किन्तु इससे छुटकारा दिलाने के लिए मार्ग के सम्बन्ध में पुनः पर्याप्त मतभेद हो जाता है।

उक्त दृष्टिकोणों से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यह समस्या एक वैचारिक समस्या है जिसमें यथार्थ तथा आदर्श, अनुभव तथा कल्पना, वास्तविकता तथा मान्यता का संघर्ष है। इसमें यथार्थ, अनुभव, तथा वास्तविकता तक अपने को सीमित रखनेवाला लोकायत अपनी कथनी और करनी में सामञ्जस्य स्थापित कर पाता है। शेष सभी मतों में अन्तर और बाह्य का संघर्ष स्पष्ट दीख पड़ता है। वे संसार को (जो यथार्थ, वास्तविक एवं अनुभूत है) छोड़ नहीं पाते, साथ ही परमार्थ के (जो आदर्श है, मान्यता है एवं कल्पनाश्रित है) लोभ का संवरण भी नहीं कर पाते, अतः वे उच्च

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फले लोभी भूतलस्थ उद्बाहु वामन के समान दीख पड़ते हैं। चिन्तकों ने इसका ऐकान्तिक समाधान खोज कर इसे सुलझाने का अथक प्रयत्न भी किया है किन्तु आज भी यह समस्या उस उक्ति की याद दिलाती है कि "श्रुतिपुराण बहु कहेउ उपाई। छूटन अधिक अधिक उरझाई।"

इस समस्या के संदर्भ में हमने अपना दृष्टिकोण रख दिया है। अब हम डा० त्रिपाठी के निबन्ध के सम्बन्ध में अपनी समीक्षा रखना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में कुछ भी कहने से पहले हम डा० त्रिपाठी (जो मेरे गुरु हैं) से अपने इस कार्य के लिए क्षमायाचना करना चाहते हैं।

अपने निबन्ध में डा० साहेब ने इस समस्या के मूल के रूप में चेतना को स्वीकार किया है। चेतना से सम्बन्धित अनेक जटिलतर प्रश्नों (जैसे चेतना द्रव्य है या गुण, स्थायी है या आगन्तुक, निद्रा में चेतना का अस्तित्व रहता है या नहीं, चेतना सविषयक है या निर्विषयक, निराकार है या साकार आदि) के विचारपूर्ण एवं तर्क से संगत उत्तर देने में आपने अपने वैदुष्य का परिचय दिया है। इतने छोटे निबन्ध में इतने जटिल प्रश्नों के सभी पहलुओं का विशद विवेचन सम्भव न हो सकने के कारण मेरे जैसे पाठकों के लिए कुछ स्थल जिज्ञास्य बन गए हैं जिन्हें मैं आपके समक्ष रख रहा हूं :

१. डा० साहेब की स्थापना कि "यदि दर्शन जीवन के लिए है तो दर्शन के लिए यही (आत्मविषयक) सबसे महत्व का प्रश्न है" एक सशर्त कथन है जबकि उनका निष्कर्ष "आत्मा को मानने या न मानने का प्रश्न नहीं है क्योंकि आत्मा को सब कोई मानता है चाहे उसे किसी रूप में माने" एक निरपेक्ष या बिना शर्त कथन है। मुझे लगता है कि इन दोनों में संगति नहीं है क्योंकि इस निष्कर्ष को स्वीकार करने पर स्थापना को सशर्त नहीं रखा जा सकता तथा स्थापना के सशर्त रहते निष्कर्ष को इस रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

२. जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति के अनुभव में भिन्नता के होने से चेतना का प्रश्न उठता है और यहीं आत्म विषयक प्रश्न का आरम्भ है। यहां उनका आशय स्पष्ट नहीं हो पा रहा है। क्या यह उनको अभिमत है कि चेतना की स्थिति अनिवार्य रूप से आत्मविषयक प्रश्न को उठा देती है? यदि हां तो यह ठीक नहीं लगता क्योंकि चेतना को मानने वालों में अनेक ऐसे हो सकते हैं जो आत्मा को न मानें। जहां चेतना अनुभूत तथ्य है वहां आत्मा मान्यता पर आधृत है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. चेतना स्थायी तत्त्व है या आगन्तुक;—इस संदर्भ में डा० साहेब ने चेतना को आगन्तुक मानने वालों का खण्डन कर चेतना को स्थायी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। मुझे लगता है कि डा० साहेब ने अपने विपक्ष के साथ न्याय नहीं किया है। क्योंकि जिस प्रकार चेतना की आगन्तुकता सिद्ध नहीं हो पाती उसी प्रकार उसका स्थायित्व भी सिद्ध नहीं हो पाता। उत्पत्ति-रहित होने मात्र से किसी की नित्यता सिद्ध नहीं हो जाती जैसे वेदान्तियों की अविद्या तथा नैयायिकों के प्रागभाव की।

४. निद्रा में चेतना रहती है या नहीं : डा० साहेब निद्रा में चेतना का अस्तित्व सिद्ध करना चाहते हैं जिसके लिए निद्रा में ज्ञानाभाव की, जागृति में स्मृति तथा सोये व्यक्ति को जगाने की प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए वे पूछना चाहते हैं कि व्यक्ति जाग कर सुनता है या सुनकर जगता है। इस सम्बन्ध में इसी प्रकार के दो प्रश्न हम भी रखना चाहते हैं, पहला कि निविड़ अन्धकार में प्रकाश रहता है या नहीं ? यदि नहीं तो प्रकाश के अभाव का चाक्षुष प्रत्यक्ष कैसे होता है ? क्योंकि चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए प्रकाश आवश्यक है। तथा दूसरा कि अन्धकार के हटने पर प्रकाश आता है या प्रकाश के आने पर अन्धकार हटता है ? क्योंकि इन प्रश्नों के उत्तर सरलता से दिये जा सकते हैं।

५. सविषयक चैतन्य एवं निर्विषयक चैतन्य:—इस विषय पर विचार करते हुए डा० साहेब अद्वैत वेदान्त की मान्यता को पुष्ट करना चाहते हैं कि मूल चेतना निर्विषयक एवं निराकार है तथा सविषयक या साकार चेतना बुद्धि-वृत्ति पर आधृत है।

इस संदर्भ में मुझे केवल यही कहना है कि यह मत शब्द-प्रमाण मानने के लिए बाध्य कर देता है। क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव तथा प्रत्यक्ष अनुभवाश्रित तर्क से सविषयक या साकार चेतना ही सिद्ध हो पाती है। निर्विषयक चेतना मान्यता या शब्द-प्रमाण पर ही आधृत हो सकती है।

६. डा० साहेब ने अपने निबन्ध में पूर्णरूपेण आत्मविषयक प्रश्न को ही प्रश्रय दिया है अनात्म विषयक प्रश्न की चर्चा ही नहीं की है। जबकि गोष्ठी का विषय स्पष्ट रूप से 'आत्मन् एवं अनात्मन्' रखा गया है।

७. डा० साहेब का निष्कर्ष कि आत्मा को सभी मानते हैं, मुझे उदयनाचार्य के आत्मतत्त्व विवेक के इस कथन का स्मरण दिलाता है जिसमें उन्होंने भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा ही कहा है कि आत्मतत्त्व सभी दर्शनों का प्रतिपाद्य विषय है क्योंकि मण्डन या खण्डन के लिए आत्मवादी तथा अनात्मवादी दोनों ही इसको स्वीकार करते हैं। किसी तत्त्व को खण्डन के लिए मानना भी उसका मानना है, उदयनाचार्य का यह तर्क मुझे बहुत ही दुर्बल प्रतीत होता है।

काशी विद्यापीठ
वाराणसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतीय दर्शन में आत्मन् और अनात्मन्

सरल झिंगरन

'आत्मा' के प्रत्यय के स्थान पर 'आत्मन्' के प्रत्यय के प्रयोग में इसके ज्ञानमीमांसीय संदर्भ को महत्व देने का उद्देश्य है। किन्तु भारतीय दर्शनों में ज्ञान-मीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण में भेद स्पष्ट नहीं है। भारतीय दर्शन में आत्मन् एवं अनात्मन् के विवेचन पर दृष्टि डालें तो दो तथ्य सामने आते हैं; प्रथम, लगभग सभी दर्शनों में आत्मन् की परिकल्पना निर्विकार शुद्ध चैतन्य के रूप में की गयी है, द्वितीय, आत्मन् की परिकल्पना का विकास इन सभी दर्शनों में अनात्मन् के विरोध में किया गया है। इन दर्शनों के तात्त्विक सिद्धान्त परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, किन्तु इन सभी में आत्मस्वरूप के विवेचन में आश्चर्यजनक समानता मिलती है।

न्याय एक वस्तुवादी एवं अनेकत्ववादी दर्शन है। आत्मन् उसमें अनेक तत्त्वों में से एक है। ज्ञान, अनुभव, सुख, दुःखादि आत्मा के गुण हैं, किन्तु स्वरूप नहीं। ज्ञान अनात्मभूत मनस् से आत्मन् के संसर्ग का परिणाम है, जो बन्धन का कारण है। मोक्ष में आत्मन् समस्त संसार से असंबद्ध होकर अपने स्वरूप में स्थित रहता है।

न्याय की संसार एवं मोक्ष की कल्पनाओं में आत्मन् एवं अनात्मन् के जिस द्वैत का आभास मिलता है इसका चरम विकास सांख्य के प्रकृति एवं पुरुष के द्वैतवाद में हुआ है। पुरुष निर्गुण, निर्विकार, शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, प्रकृति उसके ठीक विपरीत सगुण, विकार्य, परिवर्तनशील इत्यादि है।[1] यद्यपि प्रकृति का सम्पूर्ण नाटक पुरुष के भोग तथा अपवर्ग के लिये होता है, किन्तु वास्तव में तो इन दोनों का संसर्ग ही मिथ्या है।

अद्वैत दर्शन में आत्मन् की परिकल्पना आश्चर्यजनक रूप से सांख्य दर्शन से प्रभावित प्रतीत होती है। सांख्य पुरुष के समान ही अद्वैत आत्मन् निर्विकार, स्वप्रकाश चैतन्य रूप है।[2] शंकर अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य का प्रारम्भ ही आत्मन् एवं

१. सांख्य कारिका ११, १९

२. बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य ४.६.७, उपदेश सहस्री २.१०.२, नैष्कर्म्य सिद्धि २.६४, पंचदशी १०.१२, १०.२८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनात्मन् के आधारभूत विरोध से करते हैं।[3] सांख्य की ही भांति, आत्मन् में वस्तु-जगत् ही नहीं हमारे मानसिक जगत् का आश्रय अन्तःकरण भी सम्मिलित है। समस्त ज्ञान एवं कर्म का कर्त्ता अथवा विषयी जड़ अन्तःकरण ही है। आत्मन् के चैतन्य प्रतिबिम्ब के कारण यह चेतन प्रतीत होता है।[4]

तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा दोनों ही दृष्टियों से आत्मन् एवं अनात्मन् का विरोध सन्तोषजनक नहीं है। अनात्मन् सत्य हो अथवा मिथ्या, अपने अस्तित्व की व्याख्या की अपेक्षा करता है, किन्तु तत्त्वमीमांसा के प्रश्नों को छोड़ भी दें तो भी ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से भी, आत्मन् एवं अनात्मन् के आधारभूत भेद से प्रारम्भ करने पर ज्ञान अथवा अनुभव की व्याख्या ही असम्भव हो जाती है। यह अब सर्व-मान्य है कि ज्ञाता अपने ज्ञान से बाहर नहीं जा सकता, अर्थात् ज्ञेय वस्तु ज्ञान के अन्दर ही है एवं उसका रूप बहुत कुछ ज्ञाता के ज्ञान से निर्धारित होता है। ज्ञेय वस्तु का आधार अथवा कारण-रूप यदि कोई वस्तु-तत्त्व है तो उसका ज्ञान ज्ञाता के लिये सम्भव नहीं है। वास्तव में ज्ञानमीमांसा की यह आधारभूत समस्या है कि यदि विषयवस्तु ज्ञान से स्वरूपतः भिन्न है तो ज्ञान के प्ररूप एवं ज्ञाता के विचार के नियम विषय-वस्तु पर किस प्रकार लागू हो सकते हैं? कांट ने इस समस्या के निदान के प्रयत्न में ज्ञेय वस्तु (फिनोमिनन्) एवं वस्तु-तत्त्व (थिंग-इनइट्सेल्फ) में भेद किया। ज्ञेय वस्तु बहुत कुछ ज्ञाता के आत्मन् द्वारा निर्मित है। इस कारण उसका प्रमाण ज्ञान सम्भव है। पर वस्तु तत्त्व कांट के लिये पूर्ण रूप से अज्ञेय रहा। काँट की समस्या ज्ञाता एवं ज्ञेय के द्वैत से प्रारम्भ करने के कारण ही थी।

सांख्य एवं अद्वैत में इस समस्या का एक विचित्र निदान प्रस्तुत किया गया है: आत्मन् अपने स्वरूप में न तो ज्ञाता है न कर्त्ता। जिस को बाह्य जगत् का ज्ञान होता है वह तो वास्तव में अनात्माभूत अन्तःकरण है, हमारे अनुभवों का कर्त्ता एवं भोक्ता अहं ग्रन्थि है जो चैतन्य एवं जड़ अन्तःकरण के मिथ्या संयोग का परिणाम है। वास्तव में तो बुद्धि अथवा अन्तःकरण ही समस्त अज्ञान एवं ज्ञान का विषयी अथवा आश्रय है। यहां तक कि आत्मन् एवं अनात्मन् का विवेक-ज्ञान भी बुद्धि में ही जागृत होता है।[5] चूंकि बुद्धि आत्मन् का ही अंग है, इस कारण आत्मन् एवं अनात्मन् से उत्पन्न विषय जगत् के ज्ञान की समस्या ही यहां नहीं उठती।

इस प्रकार आत्मन् न केवल अनात्मन् का स्रोत अथवा कारण नहीं है, वह अनात्मन् का ज्ञाता भी नहीं है। चैतन्य एवं जड़, आत्मन् एवं अनात्मन् के पूर्ण

३. युष्दस्मत् प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिस्तमः–प्रकाशवद्विरुद्ध स्वभावयोः। अध्यास भाष्य.
४. उपदेश सहस्री २.१५.२६, २७, नैष्कर्म्यसिद्धि ३.५३, २.६९
५. उपदेश सहस्री २.१६.५९, २.१८.१५९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरोध से आरम्भ करके सांख्य और अद्वैत विचारक अन्त में अनात्मन् अथवा अन्तः-करण को हमारे मानसिक जगत् का अंग बना देते हैं। इससे बाह्य जगत् के ज्ञान की समस्या का कुछ निदान भले ही होता हो, दो विरुद्ध स्वभाव वाले तत्त्वों, आत्मन् एवं अनात्मन्, के संबन्ध की समस्या और जटिल हो जाती है। आत्मन् एवं अनात्मन्, पुरुष एवं प्रकृति के सम्बन्ध की तात्त्विक समस्या को छोड़ भी दें तो भी ज्ञानमीमांसीय स्तर पर भी इनके पारस्परिक सम्बन्ध को समझना कठिन है।

हमारा मानसिक जीवन एक सुसंगठित, सुयोजित इकाई है। हमारे विभिन्न अनुभवों की सुसंबद्धता और एकसूत्रता किसी एक ऐसे चेतन तत्त्व की अपेक्षा करते हैं जो उनके संश्लेषण एवं संयोजन का स्रोत हो।[६] अनात्मरूप अंतःकरण को अपने समस्त अनुभवों का आधार अथवा विषयी मानना कठिन है।

हमारा मानसिक जीवन चेतना के प्रकाश मात्र की नहीं, चेतना की संश्लेषणात्मक प्रक्रिया (सिंथेटिक ऐक्टिविटी) की भी अपेक्षा रखता है। कांट के आत्मन् (सेल्फ़) की अनुभव की एकता के रूप में कल्पना सत्य के अधिक निकट है।

अद्वैती कदाचित् कहें कि, अन्तःकरण नहीं अपितु अहं-ग्रन्थि वास्तविक ज्ञाता तथा कर्त्ता है एवं यह अहं-ग्रन्थि आत्मन् एवं अनात्मन् के सम्मिलन का परिणाम है।[७] परन्तु न तो सांख्य की, न ही अद्वैत की आत्मन् एवं अनात्मन् अथवा अन्तः-करण के संयोग की व्याख्या संतोषजनक प्रतीत होती है। निर्गुण, निर्विकार आत्मा के बुद्धि में प्रतिबिम्ब की कल्पना कठिन है। उसी प्रकार सगुण बुद्धि की वृत्तियों अथवा अनुभवों का निर्गुण आत्मन् अथवा पुरुष में प्रतिबिम्ब भी संभव नहीं है। यदि अहं-ग्रन्थि अथवा विषयी आत्मन् को अहंकार विच्छिन्न चैतन्य मानें तो भी समस्या रहती है कि अहंकार रूपी अनात्मन् द्वारा निर्गुण शुद्ध चैतन्य का अवच्छेदन कैसे संभव है। अद्वैत को अध्यास की कल्पना भी सांख्य की प्रतिबिम्ब की कल्पना के समान न केवल द्वैत-सापेक्ष है अपितु आत्मा के सगुणत्व की अपेक्षा रखती है। समस्य वही बनी रहती है कि, यदि आत्मन् एवं अनात्मन् स्वरूपतः इतने भिन्न हैं तो ज्ञान अथवा अनुभव में उनका संयोग कैसे सम्भव है?

यह समस्या भारतीय दर्शन की ही नहीं है, पाश्चात्य दर्शन में भी डेकार्ट इत्यादि जिन विचारकों ने भी चेतन एवं जड़ के द्वैत को पूर्व स्वीकार किया, उनको

६. देखें जॉन लेयर्ड, द प्राब्लम्स आफ सैल्फ, पृ० ७९, २०० इत्यादि तथा लोत्से, मेटाफिज़िक्स, भाग २ पृ० १७०. कांट... क्रिटिक आफ प्योर रीज़न, पृ० ९२ इत्यादि.

७. पंचपादिका १.४३,४३, अध्यास भाष्य.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभव में इन दोनों के योग की व्याख्या बहुत कठिन प्रतीत हुई। शताब्दियों से पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक एवं विचारक शरीर और मन (माइंड) के सम्बन्ध एवं परस्पर प्रभाव (इन्टरेक्शन) की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न करते आ रहे हैं किन्तु कोई संतोषजनक समाधान नहीं ढूंढ पाये, क्योंकि इन दोनों के द्वैत को पूर्वस्वीकार करने पर अनुभव में इन दोनों के निकट सम्बन्ध की व्याख्या संभव नहीं रहती। भारतीय दर्शन में इस समस्या को केवल एक कदम पीछे ले जाकर छोड़ दिया गया है। शरीर एवं मन दोनों के अनात्मभूत होने के कारण उनकी परस्पराश्रयता की व्याख्या आसान है; किन्तु मन अथवा अन्तःकरण एवं आत्मन् के सम्बन्ध की कोई संतोषजनक व्याख्या नहीं मिलती।

इसके अतिरिक्त, अन्तःकरण को समस्त ज्ञान अथवा अनुभव का विषयी मानने पर आत्मा की एक अत्यन्त अमूर्त कल्पना सामने आती है। आत्मन् अथवा पुरुष न कर्त्ता है न ज्ञाता, अपितु समस्त अनात्मभूत जगत् ही नहीं, समस्त अनुभव से भी परे स्वप्रकाश चैतन्य मात्र है।[८]

पाश्चात्य विचारकों के अनुसार, विषय-जगत् से सब सम्बन्धों के निषेध के उपरांत किसी आत्म-चैतन्य की कल्पना करना कठिन है। हमारी चेतना अधिकतर विषयोन्मुख रहती है एवं विषय ही उसको अन्तर्वस्तु (कन्टेन्ट) प्रदान करते हैं। सब सम्बन्धों एवं अन्तर्वस्तु से रहित निर्गुण, निर्विकार चैतन्य जड़ के समकक्ष प्रतीत होता है।[९] पाश्चात्य विचारकों के इस कथन की सत्यता हमें अपने ही न्याय दर्शन में मिलती है। आत्मा को निर्विकार, निष्क्रिय तत्त्व के रूप में प्रतिपादित करने के आग्रह के कारण न्याय दार्शनिकों को उसे चैतन्य-रहित अथवा जड़ निरूपित करना पड़ा।

चैतन्य स्वातंत्र्य का प्रतीक है एवं स्वातंत्र्य क्रियमाणता का। जान लेग्रर्ड, स्टुअर्ट हैम्पशायर इत्यादि यथार्थवादी एवं फिख्टे, जोशिया रॉयिस इत्यादि आदर्शवादी विचारक सभी चैतन्य को अन्तर्वस्तु से रहित एक निरी एकता (ब्लैंक यूनिटी) के स्थान पर सक्रिय रचनात्मक चैतन्य के रूप में प्रतिपादन करते हैं। आत्मन् हमारे अनुभवों को संबद्धता एवं एकसूत्रता प्रदान करने वाला चैतन्य है, न कि उन सब का निषेध।

आत्मन् की उपर्युक्त पाश्चात्य विवेचना पूरी तरह से न भी स्वीकार की जाय तो भी चैतन्य को पूर्ण रूप से निष्क्रिय, निर्विकार, निरपेक्ष मानना आवश्यक

८. उपदेश सहस्री २.९.६, २-१०.२, नैष्कर्म्य सिद्धि २.२४

९. देखें—स्टुअर्ट हैम्पशायर, थाट एंड ऐक्शन, पृ० ५१,८७,१०१,१२६.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं। स्वयं शंकर विज्ञानवाद के विरोध में एक ऐसे आत्मन् अथवा विषयी चैतन्य का प्रतिपादन करते हैं जो हमारे विभिन्न अनुभवों, यथा प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा इत्यादि, को एकसूत्रता प्रदान करता है।[१०] यह आत्मन् समस्त प्रमाणों की पूर्वापेक्षा है[११] एवं समस्त इंद्रिय, मनस् इत्यादि का प्रेरक है। अतएव यह आत्मन् समस्त अनुभवों में व्यक्त होता है।[१२] यह आत्मन् अन्तःकरण के अनुभवों का मात्र प्रकाशक नहीं उनका स्रोत, प्रेरक एवं आधार है।

अनुभव की व्याख्या के लिये कुछ बातें स्वीकार करना बहुत ज़रूरी है :— प्रथम, आत्मन् एवं अनात्मन् का विरोध अनुभव के अन्तर्गत एक सापेक्ष सत्य है, अनुभव का आधार नहीं, जैसा सांख्य अथवा अद्वैत विवेचना से प्रतीत होता है। द्वितीय, विषयी आत्मन् एवं अनात्मन् सह-सम्बन्धित एवं परस्पराश्रित हैं। न तो उनका निरपेक्ष विरोध सत्य है, न उनमें से एक के मिथ्यात्व का प्रतिपादन। इनके व्यावहारिक द्वैत से उनकी परस्पराश्रित सत्ता ही सिद्ध होती है। जिस प्रकार विषयी के ज्ञान से स्वतन्त्र विषय-वस्तु के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार विषय-वस्तु के ज्ञान से रहित शुद्ध चैतन्य भी अनुभव का विषय नहीं है। तृतीय, विषयी का पद अनात्मन् को नहीं दिया जा सकता। हमारा विषयी चैतन्य अन्तःकरण अथवा बुद्धि से अधिक कुछ है। बुद्धि अथवा अन्तःकरण उसका माध्यम है, उससे अभिन्न नहीं। चतुर्थ, यदि विषयी आत्मन् को परम् आत्मन् एवं अन्तःकरण की ग्रन्थि माना जाय तो यह और भी स्पष्ट रूप से सिद्ध करता है कि आत्मन् एवं अन्तःकरण में कोई स्वरूप-भेद नहीं है। स्वरूपतः भिन्न वस्तुओं का सम्मिलन, चाहे अनुभव के क्षेत्र में ही क्यों न हो, संभव नहीं!

अनुभव, चाहे वह वस्तु जगत् का हो चाहे मानसिक जगत् का, विषयी एवं विषय के आधारभूत ऐक्य की अपेक्षा रखता है। उस ऐक्य की अवहेलना करने पर समस्त अनुभव एक मिथ्या प्रवंचना मात्र बनकर रह जाता है। सांख्य के समान आत्मन् एवं अनात्मन् के विरोध पर बल देने के कारण ही अद्वैतियों को अनात्मन् अथवा विषय जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करना पड़ा। उपनिषदों के समान दोनों के आधारभूत ऐक्य को स्वीकार करने पर किसी ऐसे निषेधात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता नहीं रहती। पुनः, आत्मन् की अनात्मन् से सह-सम्बन्धित विषयी

१०. ब्रह्मसूत्र भाष्य २.२.२७–३१, बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य ४.३.६,७.

११. ब्रह्मसूत्र भाष्य २.३.७, बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य ४.३.,७.

१२. केन उपनिषद् भाष्य २.१.१, २.१.२, २.२..४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चैतन्य के रूप में परिकल्पना अद्वैत में परम आत्मा की परिकल्पना के न तो समकक्ष है न विरुद्ध। अपितु आत्मन् एवं अनात्मन्, विषयी एवं विषय के आधार-भूत ऐक्य का निश्चय उन दोनों के आधारभूत एक ऐसी सार्विक चैतन्य सत्ता की ओर संकेत करता है जिसे वेदान्त में आत्मा-ब्रह्म कहा गया है।

उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोष्ठी

समकालीन भारतीय दार्शनिक परिस्थिति

राजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय

(१)

किसी देश की काल-विशिष्ट दार्शनिक सक्रियता का चित्रण करने में सदैव एक विशेष प्रकार की कठिनाई सामने आती है। कठिनाई यह है कि जातीय जीवन से संश्लिष्ट दर्शन को हमें एक ऐसे आइने के रूप में देखना होता है जिसमें गूढ़ जातीय तत्त्व अपने ऐतिहासिक सातत्य में प्रतिबिंबित हों। प्रत्येक देश या जाति का अपना एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व होता है जिसके ऊपरी सांस्कृतिक परिवेश से परे कुछ सत्य या मूल्य होते हैं जो परिवर्त्यमान घटना-चक्र के मध्य उसे स्थायित्व प्रदान तो करते हैं किन्तु साथ ही स्वयं विभिन्न काल-संदर्भों में नया-नया रूप धारण कर आविर्भूत होते हैं। अतः उन्हें ठीक-ठीक पहचान पाना कभी एक सरल बात नहीं होती। मानव-ज्ञान-विज्ञानों के मध्य केवल दर्शन-शास्त्र ही ऐसा शास्त्रीय अध्ययन है जो इस दिशा में चेतन या अचेतन रूप से इस तरह सक्रिय होता है कि इन सत्यों या मूल्यों को विविध वास्तविकताओं और संभावनाओं के मध्य एक आत्म-चेतन व जीवंत संतुलन-केन्द्र के रूप में स्थापित करता है। इसीलिये इस सक्रियता का उपयोग आसानी से किसी भी जातीय या सांस्कृतिक उत्थान या उसके अंतर्दृष्टिपूर्वक विवेचन के लिये किया जा सकता है। यद्यपि इसी सक्रियता का उपयोग इस तरह भी किया जा सकता है, और प्रायः ही सैद्धांतिक रूप से दार्शनिक यही करते हैं, कि एक विशिष्ट ऐतिहासिक-जातीय संदर्भ वाला होते हुए भी वह अपनी सैद्धांतिकता या आकारिकता में समग्र मानव-जाति पर प्रयुक्त हो सके।

संभवतः कुछ ऐसे व्यक्ति होंगे जो दर्शन के सम्बन्ध में ऊपर कही बातों से सहमत न हों। वे कह सकते हैं कि दर्शन-शास्त्र न तो किन्हीं विशेष प्रकार के सत्यों या मूल्यों को उद्घाटित या आत्मचेतन करता है और न ही ऐसा कर सकने में वह प्राविधिक रूप से समर्थ है। यह विचार, जहां तक भारत का सवाल है, अवश्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाश्चात्य दर्शन की उस आधुनिक चिन्तनधारा पर आधारित है जिसके अनुसार दार्शनिक चिन्तन शुद्धतः विश्लेषणात्मक या तार्किक-क्रिया है न कि अन्वेषणात्मक या संश्लेषणात्मक प्रक्रिया। द्रष्टव्य है कि पाश्चात्य ऐतिहासिक चेतना के अंतर्गत इस विचारधारा का विकास बिल्कुल स्वाभाविक ढंग से हुआ है: पाश्चात्य चेतना के विकास-क्रम में एक ओर बौद्धिक आकारिकता और तार्किक युक्तता (वेलेडिटी) के प्रश्न तथा दूसरी ओर आनुभविक-प्रायोगिक ज्ञेयता और व्यवहार-योग्यता के प्रश्न परस्पर इतने पृथक् हो चुके हैं कि वहां के प्रत्येक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र, दर्शन सहित, में उनके बीच का यह अलगाव बिल्कुल सहज ढंग से प्रकट हुआ है। दर्शन-शास्त्र के अंतर्गत ऐकांतिक प्राविधिक विश्लेषणवाद भी इसी ऐतिहासिक प्रक्रिया की स्वाभाविक देन है, ठीक उसी तरह जैसे उसकी विरोधी विचारधाराएं, फिनामिनालाजी और अस्तित्ववाद, भी उसी प्रक्रिया की स्वाभाविक देन हैं—फिनामिनालाजी उस विलगाव को एक उच्चतर और सारभूत एकता में बदलना चाहता है, जबकि अस्तित्ववाद उसी विलगाव को मानव-नियति मान कर सार और अ-सार के क्षेत्रों की ठीक-ठीक समझ द्वारा मानव-जीवनगत तनाव और वंचना के प्रति हमें सचेत करता है।

अब उक्त पाश्चात्य दार्शनिक परिस्थिति को भारतीय दार्शनिक परम्परा और ऐतिहासिक-प्रक्रिया पर घटाइये। स्पष्ट है कि यहां हमें बौद्धिक आकारिकता व तार्किक औचित्य के प्रश्नों की आनुभविक प्रायोगिक ज्ञेयता व व्यवहार-योग्यता के प्रश्नों से पृथक्ता किसी भी काल में नहीं मिलती। वरन् इसके ठीक विपरीत, वस्तु-स्थिति यह है कि यहां पारम्परिक रूप से 'प्रामाणिकता' की एक ही प्रकार की धारणा—जिसके अन्तर्गत उपर्युक्त दोनों प्रकार के प्रश्न संश्लिष्ट हैं—का सर्वत्र प्रयोग हुआ है। अवश्य आधुनिक भारत में प्राकृतिक-विज्ञानों के प्रचार और प्रभाव के साथ-साथ पाश्चात्य संस्कृति के तत्त्व भी घुस-पैठ कर गये हैं—दर्शन के सम्बन्ध में विशुद्ध सैद्धांतिकता या ऐकांतिक विश्लेषणवादिता के दृष्टिकोण इसी तरह के तत्त्व हैं।[1] किन्तु जैसाकि एक विद्वान लेखक ने[2] बताया है, विज्ञान स्वतः मूल्य-निरपेक्ष है यद्यपि प्रत्येक सांस्कृतिक संदर्भ अवश्य उसे एक विशिष्ट ढंग से मूल्यवान् समझता है, अर्थात् किन्हीं विशिष्ट मूल्यों का उद्भासक। इससे कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि प्राकृतिक विज्ञानों को अपनाने और उनसे लाभान्वित होने का प्रश्न दार्शनिक

१. देखिये: हुस्सर्ल का "दि क्राइसिस आफ यूरोपियन सांइसेस एण्ड ट्रान्सेन्डेन्टल फिनामिनालाजी" तथा हाइडेगर "दि इन्ट्रोडक्शन टू मेटाफिजिक्स"। इन रचनाओं में क्रमशः सैद्धांतिकता व विश्लेशणवाद को एक विशिष्ट मानसिक-सांस्कृतिक विकास-क्रम में अनुस्यूत दिखाया गया है।

२. जी.सी. पांडे, दि मीनिंग एण्ड प्रासेस आफ कल्चर" (१९७३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्लेषणवाद से प्रश्न ले बिल्कुल जुड़ा नहीं है। शायद वह भारत में आधुनिकतावाद, जो एक सांस्कृतिक धारणा है, के अधिक विस्तृत प्रश्नों से जुड़ा हो; किंतु दार्शनिक चिन्तन में आधुनिकतावाद की मीमांसा व मूल्यांकन आवश्यक है।

(२)

अतः स्पष्ट है कि दर्शन के स्वरूप के सम्बन्ध में यह मत कि उसमें किसी प्रकार के तथ्य या मूल्य उद्घाटित नहीं होते, या नहीं हो सकते, पाश्चात्य जातीय-चेतना के संदर्भ से बिल्कुल स्वाभाविक है, जब कि भारतीय जातीय-चेतना से उसका कोई मेल नहीं बैठता। अतः यह तथ्य कि समकालीन भारतीय दार्शनिक अध्ययन में दर्शन सम्बन्धी उक्त निषेधात्मक मत काफी असर रखता है, हमें अनायास कार्ल पाटर के इस कथन की याद दिलाता है :

".....इस समय भारत में दर्शन केवल शास्त्रीय पांडित्य, भारतीय अथवा पाश्चात्य दार्शनिक मतों के निरूपण, वर्गीगरण और तुलनात्मक अध्ययन के स्तर पर उतरा हुआ है। दार्शनिक समस्या-चर्चा नहीं करते, समस्याओं के बारे में चर्चा करते हैं।.....वे अपने-आप को भारतीय भूतकाल के दृष्टिकोण, जो उनसे छूट गया है, और पाश्चात्य वर्तमान के दृष्टिकोण, जिसमें उन्हें अभी भी अपनापन बोध नहीं होता, के बीच फंसा-जैसा पाते हैं।[3]

अभी हाल में **रिव्यू आफ मेटाफिजक्स**[4] में एक पर्यालोचना "भारत में दर्शन –१९६७-६८" शीर्षक से प्रकाशित हुई थी, जिसका आरम्भ पर्यालोचना-लेखक डा० जे०एन० मोहन्ती ने कार्ल पाटर के उपर्युक्त उद्धृत मत से किया है। लेखक ने पाटर से सहमत न होने की कोशिश में काफी मेहनत की है, किन्तु उसकी यह मेहनत किस हद तक बेकार सिद्ध हुई है, उसी के इन कथनों से स्पष्ट है :

"भारतीय दार्शनिक, चाहे वह जिस भी दार्शनिक समस्या या आंदोलन या प्रविधि से सम्बन्धित क्यों न हो, इसके प्रति संचेत हुए बिना नहीं रह सकता कि वह अपनी परम्परा से किस तरह जुड़े।.....प्रश्न यह है कि अपने दार्शनिक वर्तमान में परम्परा को किस तरह व्याख्यापूर्ण ढंग से समन्वित किया जाय"[5] और यह भी :

".....भारतीय परम्परा की प्रमुख विचार-धाराओं को (भारत में) या तो विश्लेषणात्मक दर्शन के दृष्टिकोण से या फिर फिनामिनलाजिकीय आंदोलन के दृष्टि-

३. प्रिसप्पोज़ीशंस् आफ इंडियन फिलासफीज़, १६६३, पृ० २५५।
४. सितम्बर १९७५. (Vol. xxviii. No1); लेखक जे० एन० मोहन्ती।
५. वही पृ० ८३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोण से समझने की चेष्टा की गई है। इन चेष्टाओं में विजातीय जान पड़ने वाले तत्त्व पर एक प्राविधिक संरचना आरोपित करने का खतरा है।"[६]

साफ है कि ये कथन घूम-फिर कर कार्ल पॉटर के ही मत का समर्थन करते हैं, न कि खण्डन। इनमें और इन्हीं जैसे लेख के अन्य कथनों में, यह बात उजागर है कि समकालीन भारतीय दार्शनिक स्थिति किसी तरह वर्तमान पाश्चात्य चिंतन-धारा और पारम्परिक भारतीय दार्शनिक मतों के बीच उलझ कर रह गई है। यह शंका, संभ्रम और लक्ष्य-भ्रष्टता की स्थिति है। इस निराशाजनक स्थिति से निबटने में अभी तक कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिल पायी है। और यहीं, इसी अत्यधिक महत्वपुर्ण संदर्भ में, हम इस मूलभूत प्रश्न पर आते हैं कि किसी समूची दार्शनिक स्थिति में निहित उलझाव व भटकाव से किस तरह सफलतापूर्वक निपटा जा सकता है? पुनः यह भी कि, क्या आधुनिक भारतीय दार्शनिक इस आधारभूत उलझाव व भटकाव के प्रति सचेत भी है? यह ध्यान देने योग्य बात है कि श्री मोहन्ती की पर्यालोचना में इन प्रश्नों या इनके सम्भावित समाधानों के प्रति कोई संकेत तक नहीं मिलता। अवश्य आधुनिक भारतीय दार्शनिक परिस्थिति के आकलन में कार्ल पॉटर एक बार पुनः सही सिद्ध हुआ है। यद्यपि इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि उस परिस्थिति की सही सही विवेचना करने में वह सफल हुआ है।

(३)

अभी हाल में श्री जी० सी० पांडे की एक पुस्तक **"संस्कृति का अर्थ और उसकी प्रक्रिया"**[७] प्रकाशित हुई, जिसमें द्वितीय परिशिष्ट में एक बड़ी महत्वपूर्ण बात कही गई है जो आज हमारी सारी दार्शनिक परिस्थिति को समझने-समझाने की दृष्टि से बड़ी उद्बोधक है—यह कि दार्शनिक चिंतन का एक अनिवार्य सांस्कृतिक संदर्भ होता है,[८] अर्थात्, वह एक पूरी संस्कृति में समाई "विश्व-दृष्टि" को आत्म-चेतन ढंग से सुसम्बद्धता-पूर्वक प्रकट करने की विधा है, जिससे उस विश्व-दृष्टि को एक निश्चित ऐतिहासिक लक्ष्य की दिशा में विकसित तथा समृद्ध किया जा सके। द्रष्टव्य है कि सांस्कृतिक "विश्व-दृष्टि" का ही अर्थ "दार्शनिक-चिंतन" नहीं है, किन्तु अवश्य वही उसका आवश्यक आधार है। और इससे यह बात ज़ाहिर होती है कि दार्शनिक का सदैव एक ऐतिहासिक-जातीय दायित्व होता है, यह कि वह सांस्कृतिक आधार से भटक कर कहीं अपने समकालीन चिंतन-धारा में अवरोध, भटकाव या स्थिति न पैदा कर दे। इस अवरोध, भठकाव या उलझन की स्थिति

६. वही।
७. दि मीनिंग एण्ड प्रॉसिस ऑफ कल्चर, १९७२
८. वही, पृ० १५१-१५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का साफ अर्थ यह है कि या तो उसके चिन्तन में उसकी सांस्कृतिक "विश्व-दृष्टि" आत्म-चेतना के स्तर तक नहीं पहुंची है, या फिर वह "विश्व-दृष्टि" ही अपने ऐतिहासिक विकास के क्रम में कहीं दिग्भ्रमित हो गई है। वस्तुतः यह अनिवार्य नहीं कि उक्त दो बातें बिल्कुल प्रथक् हों, और शायद आधुनिक भारतीय संदर्भ में वे पृथक् भी नहीं हैं। जहां तक "दार्शनिक विवेक" का एक विशिष्ट क्रिया-लक्षण ही आत्म-चेतनापूर्ण स्पष्टीकरण है, किसी विश्व-दृष्टि का अपने विकास-क्रम में दिग्भ्रम की स्थिति में बने रहना या आत्म-चेतन न हो सकना अवश्य उस संदर्भ में दार्शनिक अक्षमता की ही सूचना है। दार्शनिक क्रियापरता सदैव किन्हीं "आद्य विश्वासों" (प्रोटोडॉक्सा) से ऊपर उठ कर उन्हें "विवेक-सम्मत ज्ञान" रूप में निर्दशित करना चाहती है। अतः यदि कोई विश्व-दृष्टिकोणमूलक आद्य विश्वास (सत्य या मूल्य) विवेकसम्मत ज्ञान के रूप में विकसित नहीं होते या अपने स्वाभाविक विकास में दिग्भ्रमित होते हैं तो निस्संदेह इसका एक प्रबल कारण स्वतः उचित दार्शनिक क्रिया-परता का ही अभाव है। आधुनिक भारत के सांस्कृतिक भटकाव व अवरुद्धता के लिए आज का भारतीय दार्शनिक कम जिम्मेदार नहीं है।

अब हम इस स्थिति में हैं कि पॉटर के कथन का सही अभिप्राय समझ सकें। उसके कथन में वस्तुतः ये बातें निहित हैं : (१) आधुनिक भारतीय दार्शनिक अपनी सांस्कृतिक विश्व-दृष्टि की सही समझ खो बैठा है, (२) वह आधुनिक पाश्चात्य दृष्टिकोण, अर्थात् पाश्चात्य सांस्कृतिक विश्वदृष्टि, के प्रभाव में है, यद्यपि उसकी भी उसे ठीक-ठीक समझ नहीं, (३) आधार-हीनता की यह स्थिति उसकी दार्शनिक क्रिया-विधि में स्पष्ट है—इस तरह कि जिन समस्याओं (सत्य या मूल्य सम्बन्धी) से वह अपने जीवन्त जगत् में सम्बन्धित है वे उसके चिन्तन में साकार नहीं होतीं, वरन् केवल वही समस्याएं वहां स्थान पाती हैं जिनका उल्लेख अन्यत्र मिल पाता है, और (४) फलस्वरूप समकालीन भारत में दार्शनिकता का उच्चतम रूप शास्त्रीय पांडित्य का है, न कि दार्शनिक सर्जन या समृद्धि का।

(४)

अब हम एक उदाहरण द्वारा समकालीन भारतीय दार्शनिक परिस्थिति में निहित उक्त भटकाव की स्थिति को स्पष्ट करेंगे। पाश्चात्य दार्शनिक जगत् में अभी कुछ समय से तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में बिल्कुल स्वाभाविक ढंग से "निरूपणात्मक तत्त्वमीमांसा" की प्रवृत्ति प्रकाश में आयी है, और जैसे-जैसे उसका जोर वहां बढ़ते गया है यहां भारतीय चिन्तकों के संवेद-तन्तु भी उसके ग्रहण के लिए फड़कने लगे हैं। अनायास यहां उसके समर्थकों और विरोधियों के दल उठ खड़े हुए हैं जो अपनी अस्वा-भाविक अंग्रेजी में उन्हीं तर्कों को उलट-पुलट कर रखते हैं जो पश्चिम में घिस-पिट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर पुराने पड़ चुके हैं। ये चिन्तक यदि भारतीय न भी होते तो कोई फर्क नहीं पड़ता। दार्शनिक सार्वभौमता का एक नाम यदि सारहीनता हो तो उसका एक बढ़िया उदाहरण इस भारतीय स्थिति में उपलब्ध है।

जहां तक एक दार्शनिक प्रवृत्ति के रूप में "निरूपणात्मक तत्त्वमीमांसा" का सवाल है, वह निस्संदेह पश्चिम के तार्किक अनुभववाद और विश्लेषणवाद की परंपरा में है। इसके अन्तर्गत किसी भी समूची प्रत्ययात्मक संरचना को विश्लेषणवाद के प्राविधिक सांचे में ढाल कर उसमें संभावित भावमीमांसात्मक प्राकल्पनाओं के रेखाचित्र बनाये जाते हैं। शायद इसका उत्स शुद्ध विश्लेषणवाद के सम्बन्ध में उठाये गये इस नारे से है कि "कोरी भाषायी स्पष्टता पर्याप्त नहीं, अर्थात् आखिर उसका कोई यथार्थपरक संदर्भ भी होना चाहिए।" यह वह दृष्टिकोण है जो पाश्चात्य दार्शनिक चिंतन की लम्बी परम्परा में पहले भी काफी प्रबल रहा है—एरिस्टॉटल, कांट, पर्स आदि, और अभी हाल में ही मूर, रसेल और विट्न्गेंस्टाइन के प्रभावशाली चिंतन का यही प्राविधिक दृष्टिकोण रहा है। इस तरह, पाश्चात्य दार्शनिक परिस्थिति की पृष्ठभूमि में इसके अभ्युदय का कारण एक ऐतिहासिक आवश्यकता है जो वहाँ निरन्तर वृद्धिमान विज्ञानवाद में अन्तर्निहित निगमनात्मक औचित्य और प्रायोगिक वस्तुनिष्ठता के अन्तर्विरोधों से अधिकाधिक पुष्ट हो कर सामने आयी है और जिसकी अनदेखी वहां के चिंतक नहीं कर सकते। अब इस ऐतिहासिक सन्दर्भ और आवश्यकता को आधुनिक भारतीय परिस्थिति में ढूँढिये—साफ है कि यहां ये उपलब्ध नहीं हैं। अवश्य भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल—भारत में भावमीमांसा तथा ज्ञान की प्रामाणिकता के प्रश्नों के प्रति पारम्परिक लगाव के कारण तथा न्याय दर्शन, विशेषकर नव्य-न्याय, द्वारा ज्ञान में आकारिकता के तत्त्वों पर ज़ोर दिये जाने के फलस्वरूप—"निरूपणात्मक तत्त्वमीमांसा" की दिशा में एक प्रयास नव्य-नैय्यायिकों, विशेषकर रघुनाथ शिरोमणि, द्वारा शुद्ध तार्किक विधि से नवीन अर्थाभ्युपगम संरचना के निर्माण में विद्यमान है। किन्तु शायद भारत में निरूपणात्मक तत्त्वमीमांसा के उत्साहियों को उसका पता तक नहीं। निस्संदेह हम यह नहीं कह रहे कि पाश्चात्य दार्शनिक चिंतन प्रस्तुत संदर्भ में या किसी और भी संदर्भ में, किसी तरह उपेक्षणीय या निम्नकोटि का है: अवश्य वह बहुत महत्वपूर्ण, उच्चकोटिक और यहां तक कि स्पृहणीय भी है। किन्तु तब कम से कम वह हमारे अपने ऐतिहासिक दृष्टिकोण और महत्वाकांक्षा की दृष्टि से उसी रूप में अनुकरणीय नहीं है।

(५)

हम इस पर ज़रा और गहराई से विचार करें। तत्त्वमीमांसा का अनिवार्य संदर्भ 'तत्त्व' का है—पारम्परिक तत्त्वमीमांसा में 'सत्ता' के पर्याय के रूप में, और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक निरूपणात्मक तत्त्वमीमांसा में तर्कोचित वस्तुनिष्ठता के पर्याय के रूप में। पारम्परिक तत्त्वमीमांसक तत्त्व को सत्ता से इसलिए अनिवार्यतः संलग्न मानता है क्योंकि उसके लिए तत्त्व सम्बन्धी प्रमुख प्रश्न का रूप है—'तत्त्व सचमुच क्या है ?' निरूपणवादी तत्त्वमीमांसक को इस समूचे प्रश्न पर आपत्ति है, क्योंकि उसके अनुसार तत्त्व सम्बन्धी उचित प्रश्न केवल इस तरह हो सकता हैं—'तत्त्व का स्वरूप कैसा है ?' अर्थात् 'वह हमें किस तरह ज्ञात है ?' उक्त दो प्रश्नों के बीच आधारभूत अन्तर यह है कि प्रथम के अन्तर्गत 'तत्त्व,' चाहे वह जो हो, की प्रस्तुति समस्यात्मक है, उसके सम्बन्ध में 'सचमुच क्या-पन' का प्रश्न उठाने से स्वतः ही यह प्रश्न पैदा हो जाता है कि 'क्या वह है भी ?' दूसरे शब्दों में, यहां तत्त्व या सत्ता को संदेह के अनुल्लंघनीय घेरे में बांध दिया जाता है जिससे मुक्ति का एकमात्र उपाय अतिशय कल्पना का सहारा है। दूसरी ओर, निरूपणवादी तत्त्वमीमांसक का प्रश्न यह मान कर चलता है कि 'तत्त्व' अवश्य है और उसके संदर्भ में हमें केवल यह स्पष्ट करना है कि उसका तर्क-सम्मत स्वरूप कैसा है ? यहाँ सवाल 'तत्त्व' को किसी नये सिरे से जानने, निश्चित करने या प्रमानित करने का न हो कर केवल यह है कि हमारी भाषायी संरचना, जिसमें वह अवगमनात्मक रूप में प्रकट है, में उसकी सर्वाधिक प्रामाणिक रूप-रेखा क्या है। स्पष्ट है कि यहां हमें किसी कल्पना के सहारे की आश्यकता नहीं। केवल वह विश्लेषण विधि पर्याप्त है जिसके द्वारा हम किसी भी प्रत्ययात्मक-संस्थान की संरचनामूलक व्याख्या कर सकें। इस सीधी-सादी दार्शनिक स्थिति को, जो अवश्य अपनी निष्पत्तियों में गूढ़ है, कतिपय भारतीय उत्साहियों ने किस तरह विभिन्न अनावश्यक बातों—जैसे दार्शनिक-अदार्शनिक निरूपणों के भेद, निरूपण-परानिरूपण के भेद, भाषायी अर्थ, अभिप्रायमूलक अर्थक्रिया व वस्तुनिष्ठ तत्त्वों के भेद[६] से जोड़ कर भ्रमपूर्ण बना दिया है, केवल यही सिद्ध करता है कि इस दार्शनिक स्थिति की गहराई तक पहुंच पाने में ये भारतीय असमर्थ रहे हैं, और इसलिए उनकी सारी चर्चा में प्रकाश व स्पष्टता की अपेक्षा अँधेरा और भटकाव अधिक है।

इस एक उदाहरण से प्रकट है कि पाश्चात्य दार्शनिक मतों की हमारी जानकारी में सही समझ का स्वरूप कितना धुँधला है। और शायद इसी एक उदाहरण से यह भी प्रकट है कि स्वयं हमारी अपनी दार्शनिक परम्परा से हम कितने अलग-थलग पड़ गये हैं। अन्यथा यह कैसे सम्भव था कि वे यह न देख पाते कि निरूपणात्मक तत्त्वमीमांसा द्वारा उठाया गया प्रश्न, अपनी इस महत्वपूर्ण निष्पत्ति के साथ कि 'तत्त्व' की आधारभूत समझ हमें पहले ही उपलब्ध है, भारतीय दार्शनिक परम्परा में काफी

६. देखिये, कालिदास भट्टाचार्य सम्पादित "फिलॉसफिकल पेपर्स" में 'निरूपणात्मक तत्त्वमीमांसा' पर मोहन्ती आदि के लेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राचीन काल से एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न रहा है। वस्तुतः उक्त प्रश्न और उसकी उपर्युक्त निष्पत्ति को भारतीय तत्त्वचिंतकों ने इस तरह रखा है, कि उससे तथाकथित 'कल्पना प्रधान तत्त्वमीमाँसा' और 'निरूपणात्मक तत्त्वमीमांसा' का ऐकांतिक भेद ही मिट जाता है। प्रश्न इस प्रकार है : वह क्या है जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है ? यहां प्रश्न का स्वरूप ही ऐसा है कि न केवल 'तत्त्व' और 'तत्त्व-ज्ञान' संदेह से अछूते रहते हैं, वरन् साथ ही वह दार्शनिक सार्वभौमिकता व संप्रेषणीयता भी बनी रहती है जिससे कि हम अनावश्यक रहस्यवाद में डूबने-उतराने के लिए विवश नहीं होते। भारतीय दार्शनिक परम्परा में प्रमाण सम्बन्धी अत्यन्त विस्तृत व प्रगाढ़ चर्चा के पीछे इसी मूल प्रश्न की प्रेरणा निहित है। 'प्रमाण' की धारणा में तत्त्व और ज्ञान की संरचनात्मक एकता को स्पष्ट करने की कोशिश की गई है यद्यपि इसका आधार सदैव केवल भाषायी संरचना का विश्लेषण नहीं रहा है। वस्तुतः भारतीय चिंतन-धारा के संदर्भ में इस तरह का ऐकांतिक विश्लेषण सम्भव नहीं था, क्योंकि पश्चिम की तरह यहां ज्ञान को उसके सर्वोच्च रूप में शुद्ध सैद्धांतिकता[१०] का लक्षण वाला नहीं समझा गया। वह 'ज्ञान के लिये ज्ञान' के रूप में स्वीकृत न होकर एक ऐसे मूल्यबोध के रूप में मान्य हुआ जिसके द्वारा मनुष्य की आंतरिक श्रेष्ठता का प्रकाश हो सके। द्रष्टव्य है कि सर्वोच्च ज्ञान के सम्बन्ध में पश्चिमी दृष्टिकोण व भारतीय दृष्टिकोण का यह भेद कोरी बहस की चीज़ नहीं है, इन पृथक् दृष्टिकोणों के चलते पाश्चात्य सांस्कृतिक-राजनैतिक-सामाजिक दिशा और भारतीय सांस्कृतिक-राजनैतिक-सामाजिक दिशा में ही मौलिक अन्तर आ गया। पश्चिमी 'विश्व-दृष्टि' में निहित विशिष्ट भंगिमा के अनुकूल, ज्ञान को आंतरिक मूल्यों के स्फुटन से अनिवार्यतः सम्बद्ध न करने के ही फलस्वरूप वहां ज्ञान या तो शुद्ध आकारिक व्यवस्था के रूप में या फिर केवल सुविधानुकूल उपयोगितावाद अथवा शक्तिसाधनवाद के रूप में ही प्रकट हो पाया। या तो वह अपने शुद्ध रूप में मूल्य-निरपेक्ष रहा जिसकी चरम निष्पत्ति आधुनिक आकारिकतावाद, अनात्मवाद और विश्लेषणवाद में हुई, या फिर अपनी प्रायोगिक परिणति में वही विज्ञानवाद तथा भौतिकवाद बन कर एक शक्तिस्रोत के रूप में प्रकट हुआ। पुनः, ज्ञान की इसी धारणा में पश्चिमी बुद्धिवाद और अनुभववाद का निरन्तर द्वंद्व भी विद्यमान है : ज्ञान को शुद्ध सैद्धांतिकता केवल बुद्धि से मिल पाती है जो उसे शुद्ध आकारिकता की ओर खींचती है, जबकि उसमें गति के लिये अनुभव आवश्यक है जो उसमें आकस्मिकता और संदेह की जड़े-जमाता है। दूसरी ओर, भारत में ज्ञान के सभी रूपों, उनके अपने प्रायोगिक-व्यावहारिक पक्ष

१०. हुस्सर्ल: दि क्राइसिस ऑफ यूरोपियन साइंसेस एण्ड ट्रासेंन्डेंन्टल फिनामिनलॉजी, (१९३६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहित, की परिणति अन्ततः आत्म-बोध में पहुंच कर होती है। व्यक्ति तथा उसके आंतरिक जीवन तथा बाह्य सम्बन्धों के सन्दर्भों के बिना यहां 'ज्ञान' को समझना कठिन है, इसीलिये यहां सर्वोच्च ज्ञान का भी रूप अनिवार्यतः ऐसा हैं कि उससे व्यक्ति, उसका जीवन, समाज और परिवेश समानरूपेण प्रभावित होते हैं। अतः आश्चर्य नहीं कि एक प्रबुद्ध भारतीय मार्क्सवाद को इस आधार पर अस्वीकार करे कि उसमें एक अच्छा व्यक्ति बन सकने की कोई दिशा प्रकट नहीं होती, या एक गांधी शुद्धतः वैयक्तिक अहिंसा के मूल्य द्वारा सामाजिक-राजनैतिक क्रांति का सफल आयोजन कर सके। समकालीन भारतीय दार्शनिक चिन्तन में अवश्य इस मूल भारतीय दृष्टिकोण की सम्यक् समझ का अभाव हमारे लिये किसी तरह सन्तोष का विषय नहीं हो सकता।

(६)

अभी हाल के कुछ वर्षों में भारत के कुछ जाने-माने दार्शनिक-चिंतकों ने मोक्ष की धारणा को समझने-समझाने का प्रयास किया है। श्री दयाकृष्ण ने अपने एक लेख[१२] में यह निष्कर्ष निकाला है कि 'मोक्ष' कभी भारतीय चिन्तन का लक्ष्य नहीं रहा, और उनका यह निष्कर्ष शायद उनके द्वारा 'मूल्य' के सम्बन्ध में किये गये इस भेद पर आधारित है कि मूल्य 'विपश्यनात्मक' (कॉन्टेम्प्लेटिव) या 'क्रियामूलक' (एक्टिव) होते हैं। विपश्यनात्मक मूल्य आत्मा व चेतना की सरचना में भी अपनी पूर्ण स्वायत्तता ढूंढ़ते है और इस तरह अन्यत्र (इतिहास, समाज) से हट कर स्वयं अपनी स्वतन्त्रता में स्थित हो जाते हैं, जबकि दूसरी ओर, क्रियामूलक मूल्य मनुष्य को उसकी सामाजिकता और ऐतिहासिकता में ही स्थिर करते हैं।[१३] अब यह देख पाना अधिक कठिन नहीं कि उनके द्वारा किया गया मूल्य सम्बन्धी उपर्युक्त भेद ठीक नहीं हैं। भारतीय परम्परा में मूल्य-सम्बन्धी विवेचनाओं से यह बिल्कुल स्पष्ट है। मनुष्य के लिये उसकी तात्त्विक सम्पूर्णता की दृष्टि से एक ही जीवन में चार पुरुषार्थों को काम्य और प्राप्तव्य बताने के पीछे निहित दृष्टिकोण के महत्व को हमें समझना चाहिये और तब हमें स्पष्ट हो सकेगा कि क्यों हमारी परंपरा में केवल उन्हीं ऐतिहासिक व्यक्तियों को ईश्वरावतार की संज्ञा मिली जिनके ऐहिक जीवन में उक्त चार पुरुषार्थों का स्वस्थ समन्वय हो सका। भारत में कभी ज्ञान और क्रिया का ऐकांतिक भेद लोकप्रिय नहीं हुआ। वरन् इसके विपरीत धर्म की व्यवस्था के सहारे काम और अर्थ के विशुद्ध क्रियात्मक मुल्यों की भी व्याख्या इस तरह की

११. देखिये: डायोजनीज़ (१९६६) "थ्री मिथ्स ऑफ इंडियन फिलॉसफी।"

१२. इसके लिये विशेषतः देखिये उनका 'एक्टिव एण्ड कान्टेम्प्लेटिव वेल्यूज़, फिलासफी एण्ड फिनामिनालॉजिकल रिसर्च (१९३७) में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गई उनसे शुद्धतः आध्यात्मिक मूल्य 'मोक्ष' तक की गति मनुष्य के लिये स्वाभाविक और सुगम हो सके।[13] अतः डा० दयाकृष्ण का यह मत कि मोक्ष कभी भारतीय चिन्तन का लक्ष्य नहीं रहा, ठीक नहीं जान पड़ता। संभव है उससे उनका आशय यह हो कि भारतीय चिन्तकों ने भौतिक जीवन की इस तरह व्याख्या नहीं की कि उससे 'मोक्ष' एक स्वाभाविक मूल्य के रूप में मानव-जीवन का आदर्श बन सके। अधिक सम्भव यह है कि उनका मत आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक स्थिति में उत्पन्न उस तनाव को व्यक्त करता है जो वहां तर्कवादी 'ज्ञान के लिये ज्ञान' की धारणा और अस्तित्ववादी 'क्रिया ही जीवन है' की धारणा के बीच टकराव से पैदा हुआ है, और जिसकी परछाईं वे भारतीय स्थिति में भी ढूंढ़ते प्रतीत होते हैं।

कुछ-कुछ इसी तरह का प्रयास, किन्तु नीतिशास्त्र के संदर्भ में, डा० राजेन्द्र-प्रसाद[14] द्वारा भी किया गया है। वे वाक्यों के पुष्टिकरण के सम्बन्ध में आधुनिक दार्शनिक मान्यता को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि मोक्ष के निरूपणात्मक 'अस्ति-मूलक' वाक्यों के सहारे धर्म के आदर्श-मूल्यात्मक वाक्यों को पुष्ट नहीं किया जा सकता। उनका मत है कि 'मोक्ष' द्वारा 'नैतिक' (मूल्यपरक) के सत्तामूलक पुष्टिकरण का प्रयास किया गया है, जबकि वास्तविकता यह है कि मोक्ष का अनुभव, यदि वह हो भी, हमें यह नहीं बता सकता कि वह उच्चतम मूल्य क्यों है, और इसीलिये वह किसी मूल्य-निर्णय का निकष भी नहीं बन सकता। मोक्ष की इच्छा धर्म के लिये प्रेरणा हो सकती है, उसकी पुष्टि नहीं। अब, निस्सन्देह प्रसाद जी की बातें हैरत में डालने वाली हैं। यद्यपि हम ऐसा तो नहीं कहेंगे कि वे भारतीय पारम्परिक चिन्तन के मर्म में पैठ नहीं सके, किन्तु यह अवश्य कहना पड़ेगा कि प्रकट ही उनके मन में कांट के इस मत के खण्डन की इच्छा रही कि 'नैतिक' का एक अनिवार्य पुष्टिकारक तत्त्व 'पारलोकिक सत्ता' (ईश्वर) होता है। और इसी सन्दर्भ वाले अपने प्रयास को उन्होंने भारतीय 'मोक्ष' और 'धर्म' पर लागू कर दिया। किन्तु उनका प्रयास ठीक नहीं है, यह इससे स्पष्ट है कि 'मोक्ष' की धारणा को जिस तरह उन्होंने नैतिक-क्रिया के लिये पुष्टीकरण के रूप में उभारा है उसका भारतीय दृष्टि से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। भारतीय दृष्टि से 'धर्म' के समर्थन के लिये मोक्ष की धारणा अपरिहार्य नहीं है, वरन् इसके विपरीत धर्म या नैतिक-क्रिया को स्वतः अपने रूप में मूल्यवान् समझा गया है, विशेषकर सामाजिक-ऐतिहासिक सन्दर्भ में, और इसलिये स्वतः उसे भी

१३. इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचना के लिये देखिये मेरा: "प्रगति-एक विश्लेषण" लेख, तत्त्व चिन्तन (१९६७)।

१४. देखिये उनका "दी कॉन्सेप्ट ऑफ मोक्ष," फिलॉसफी एण्ड फिनामिनालॉजिकल रिसर्च (१९७१)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक प्रकार के पुरुषार्थ या मूल्य की संज्ञा दी गई है। पुनः यह सोचना भी ठीक नहीं कि भारत में 'मोक्ष' सदैव पारलौकिक सत्ता के अर्थ वाला रहा है, जैसाकि बौद्ध और जैन विचारधाराओं से स्पष्ट है। फिर यह भी द्रष्टव्य है कि भारतीय मूल्य संरचना में मूल्यों को सदैव एक समग्रता की द्रष्टि से समन्वित करने की चेष्टा रही है, (वस्तुतः कमोबेश सभी संस्कृतियों में ऐसा हुआ है और यही प्रत्येक संस्कृति में निहित 'विश्व-दृष्टि' का मूल-तत्त्व है)। अर्थात् वे एक-साथ ही सत्ता-क्रिया-ज्ञान की एकता में स्थित हैं। अवश्य उनका अलग-अलग जीवन-स्तरीय संदर्भ है, किन्तु इसका आशय यह नहीं कि उनकी सत्ता, क्रिया व ज्ञान सम्बन्धी अलग-अलग कोटियां हैं।

(७)

अब, यह नहीं समझा जाना चाहिये कि आधुनिक पाश्चात्य दृष्टिकोण के प्रभाव से भारतीय मनस् की गूढ़ किन्तु कालक्रम से सुप्त दार्शनिक प्रवृत्तियों को समझने, या न समझने, के जो भ्रमपूर्ण प्रयास सामान्यतः किये गये उसका कोई अपवाद ही नहीं। अवश्य उसके कुछेक अपवाद भी हैं, जिनमें से केवल एक की चर्चा हम यहां करेंगे।

कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य[१५] ने पारम्परिक पाश्चात्य दर्शन और पारम्परिक भारतीय दर्शन की व्याख्या जिस रूप में की है, वह हमारे लिए स्वस्थ दार्शनिक चिंतन की कई दिशायें खोलने में समर्थ है। उनके अपने दार्शनिक चिंतन का मूलाधार शायद वही भारतीय दार्शनिक जिज्ञासा है जिसके अन्तर्गत आत्मबोधपूर्वक सर्वोच्च ज्ञानोपलब्धि की बात कही गई है। इसी मूलाधार से वे पाश्चात्य दर्शन की भी व्याख्या करते हैं और इस तरह देशकालातीत दार्शनिक चिंतन की एकता को भारतीय संदर्भ में उभारते हैं। उदाहरणार्थ, कांट की यह महत्त्वपूर्ण धारणा लें : कि आत्मा केवल वस्तु-ज्ञान के संदर्भ में चिंतन व ज्ञान के अतिक्रामी आकारों के रूप में तथा नैतिक आस्था की विषय-वस्तु के रूप में ही ध्यातव्य है, अपने स्वरूप में ज्ञातव्य नहीं। अब, श्री भट्टाचार्य द्वारा इस मत की यह निष्पत्ति कि आत्मा ठीक इन्हीं कारणों से अचिन्त्य रूप से ज्ञातव्य होना चाहिये[१६] विशुद्ध भारतीय दृष्टिकोण से संभव हो पायी है। स्पष्ट है कि यहां सवाल न तो आत्मा की सत्ता प्रमाणित करने का है और न ही उसे स्वनिष्ठ वस्तुओं के क्षेत्र में ढकेलने का है, वरन् केवल यह है कि उसे अपनी स्वानुभूति में इस तरह स्पष्ट किया जाय कि मानव-जीवन सत्ता-ज्ञान-क्रिया की अपनी समग्रता

१५. स्टडीज़ इन फिलॉसफी, भाग १ और २ (१९५६) और (१९५८)

१६. वही, भाग २।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में अपना तात्त्विक अर्थ प्रकट कर सके। जब तक जीवन का तात्त्विक अर्थ इस तरह आत्मानुभूत ढंग से स्पष्ट नहीं हो पाता, मनुष्य के आन्तरिक जगत् और बाह्य जगत् के बीच की खाई को नहीं पाटा जा सकता। फलतः मानव-जीवन एक अर्थहीन कूद-फांद बनने के लिए बाध्य होता है। आधुनिक जीवन के संघर्षपूर्ण अलगाव-बिखराव वाले द्वंद में यही व्यर्थ की कूद-फांद प्रतिबिम्बित है, जिसका कोई तात्त्विक आधार नहीं है, जो तत्त्व-शून्य है, और इसीलिए मानव-जीवन को एक अन्तहीन व्यर्थता में उलझाये रखने में समर्थ है। आधुनिक जीवन के इस तनाव को वस्तुतः पाश्चात्य-चिन्तन के अन्तर्गत वस्तुनिष्ठता और आत्मनिष्ठता की प्रवृत्तियों के बीच बढ़ते हुए अन्धे तनाव से जोड़ा जा सकता है। समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक विचारधाराओं में शायद फिनामिनालॉजी एकमात्र ऐसा दर्शन है जिसने न केवल इस तनाव के प्रति जागरूकता दिखायी है वरन् इससे एक विशिष्ट ढंग से निपटने की भी चेष्टा की है। शायद यही कारण है कि कभी-कभी कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य के कुछ व्याख्याकार[१७] उनके चिंतन में पाश्चात्य प्रतिभासवाद का असर ढूँढते मिल जाते हैं; जबकि वस्तु-स्थिति यह है कि उन्हें समझने के लिए हमें यह देखना चाहिये कि उनका उक्त पाश्चात्य विचार-धारा से क्या आधारभूत मतभेद है और क्यों है। इस दिशा में आगे बढ़ने पर हम पाते हैं कि उनका दार्शनिक दृष्टिकोण ही भिन्न है। वे फिनामिनालॉजि-कीय चिंतकों की तरह यह नहीं मानते कि आत्मा अपने-आपको अनुभव-प्रवाह के अन्तर्गत व्यक्तिरूप (एगो) में रचित कर लेने के पश्चात् अपने उसी व्यक्तिरूप में अनुल्लंघनीय हो जाता है। पुनः उन्हें इस फिनामिनालॉजिकीय मत से भी कोई सहानु-भूति नहीं कि वस्तुनिष्ठता मानव 'आत्म' से इस तरह संश्लिष्ट है कि उसके बगैर 'आत्मनिष्ठता' का कोई अर्थ ही नहीं निकल सकता। स्पष्ट है कि इन्हीं अस्वीकृतियों के कारण उनके लिए यह संभव हो पाता है कि वे भारतीय परम्परा के अनुकूल आत्म-स्वातंत्र्य को मौलिक व शुद्ध आत्मनिष्ठता का रूप वाला मान सकें जबकि पाश्चात्य परम्परा के समर्थक-पोषक फिनामिनालॉजी में वह स्वतन्त्रता केवल वस्तु-निष्ठता के संदर्भ में ही प्रकाश्य है। आश्चर्य नहीं कि पाश्चात्य परम्परा में, उसके सांस्कृतिक प्रवाह में, स्वतन्त्रता का सर्वोच्च रूप केवल राष्ट्रीय स्वाधीनता, सांस्कृतिक अहम् या फिर सामाजिक-राजनैतिक अधिकारों के दावों के रूप ही उभर पाया है।

पुनः, भारतीय चिंतन-धारा में आत्मनिष्ठता को ठीक-ठीक समझने के फलस्वरूप कुछ-एक दार्शनिक उपलब्धियां भी रहीं हैं जिनका स्पष्टीकरण हमें श्री भट्टाचार्य के लेखों में मिलता है। इनमें एक इस तरह है : जो अपने बोध में बिना 'अर्थ' का है,

१७. उदाहरणार्थ, देखिये, कन्डलकॉविल लिखित–दि फिलॉसफी ऑफ एब्स्योल्यूट, पृ ५६,६५ ६७.७१ आदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् जिसमें स्वरूपतः विषय-विषयी का द्वंद्वात्मक बोध नहीं है, वही विशुद्ध दार्शनिक-चिंतन व ज्ञान का आधार है। सामान्य पश्चिमी दार्शनिक विचार-धारा के संदर्भ में यह विचार एकदम नया है जबकि भारतीय संदर्भ में यह उतना ही पुराना है जितना कि स्वयं दार्शनिक-चिंतन। पश्चिमी दार्शनिक दृष्टि से हमारी चेतना का सारा क्षेत्र किसी न किसी तरह 'अर्थ' के क्षेत्र से जुड़ता है, यहां तक कि फिनामिनालॉजी में तो वह सारा क्षेत्र ही शुद्ध अभिप्रायात्मकता के रूप में समग्रतः अर्थमय हो उठता है। और यही कारण है कि पश्चिम में विधानात्मक-निषेधात्मक तर्कशास्त्र का इतना ज़ोर है कि उसके चलते वहां प्रकटतः अस्पष्ट और अनिश्चित 'अवक्तव्य' को कभी 'ज्ञान' के समीप भटकने नहीं दिया गया। दूसरी ओर, यहां भारत में उसे प्रायः ही सत् या सत्य का एक अनिवार्य पक्ष समझा गया और इसलिए विशुद्ध तर्क को ज्ञान के मार्ग में केवल एक बाधा ही माना गया है। शुद्ध तार्किक संरचना और सत्ता की संरचना को समरूप मानने का, जैसा कि वह विट्गेन्स्टाइन के ट्रक्टेटस में खुल कर व्यक्त हुआ है, हमारे पास कोई औचित्य नहीं है। अतः इसी तर्क के चलते सत्ता के संदर्भ में विधानात्मक-निषेधात्मक निरूपण की द्विधा वाले अर्थ-क्षेत्र की मान्यता एक सुखद कल्पना मात्र है। जब तक इस निरूपण-संरचना में वह परात्मक 'अवक्तव्य' प्रकट नहीं हो पाता जो सत्ता संरचना का अनिवार्य अंग है, मनुष्य की अनन्त जिज्ञासा और ज्ञान-पिपासा मात्र एक भटकती छाया बन कर रह जाती है। दार्शनिक चिंतन मूलतः इसी 'अवक्तव्य' की गवेषणा है, जिसके अनिवार्य संदर्भ से समग्र 'वक्तव्य' को समझने की चेष्टा दर्शन-शास्त्र करता है। अतः यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि हम श्री कृष्णचंद्र भट्टाचार्य के चिंतन को इसी केन्द्रीय धुरी के इर्द-गिर्द घूमता हुआ पाते हैं।

(८)

आशय यह कि जो भारतीय चेतना और विवेक हमें उपलब्ध है, इसकी कुछ अपनी ऐतिहासिक-जातीय प्रवृत्तियां संस्कृति और दार्शनिक-चिंतन के क्षेत्र में रही हैं। इन्हें अपने वैयक्तिक व सामाजिक जीवन के संदर्भ में समझना, समझ कर उनकी व्याख्या करना तथा उनकी गत्यात्मकता का स्वरूप अपने विशेष ऐतिहासिक काल-खण्ड के लिए स्पष्ट करना, दार्शनिक चिंतन का एक महत्त्वपूर्ण दायित्व है। उसके लिए केवल 'दर्शन के लिए दर्शन' 'ज्ञान, के लिए ज्ञान' का दृष्टिकोण न केवल एक अंधी नकल है, वरन् दार्शनिक उच्छृंखलता तथा अनैतिकता भी है। सामान्य भारतीय जीवन में पश्चिम के सांस्कृतिक अतिक्रमण की चुनौती कम से कम भारतीय दार्शनिक को स्वीकार करनी ही चाहिये। भारतीय दार्शनिक का यह दायित्व बड़ा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि केवल उसी की पारदर्शी तार्किक विवेचना के प्रकाश में भारत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने वर्तमान सांस्कृतिक अपचन से छुटकारा पा सकता है। अतः किसी कार्ल पॉटर को ग़लत और अपने-आप को सही मानने का दंभ छोड़ कर हमें उसके प्रति कृतज्ञ होना चाहिये कि उसने शायद अनजाने ही हमारी एक ऐसी कमज़ोरी को प्रकाश में लाया है जिसे दूर करना तो दूर, उसे ही हम अपनी बुद्धिमत्ता व विवेक का पर्याय समझ रहे हैं, जबकि हमसे अपेक्षा यह की जाती है कि हम अपनी दार्शनिक क्रियाशीलता का एक अच्छा, सार्थक और उत्तरदायित्वपूर्ण उपयोग उस कमज़ोरी को दूर करने के लिए करते।

विश्व भारती, शांतिनिकेतन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समकालीन भारतीय दार्शनिक परिस्थिति

या. मसीह

मैं भाषा-विश्लेषण को बहुत महत्त्व देता हूँ क्योंकि इसने स्पष्ट कर दिया है कि तत्त्वमीमांसा असंज्ञानात्मक प्रयास है और तत्त्वमीमांसा का मूल्यांकन इसके इसी स्वरूप के आधार पर करना चाहिये। फिर दर्शन के इतिहास से स्पष्ट हो जाता है कि दर्शन में तत्त्वमीमांसा को ही विशेष स्थान दिया गया है। पाश्चात्य दर्शन में प्लेटो-अरस्तू, देकार्त-स्पिनोज़ा-लाइबनित्स, बर्कले-कांत–हेगेल तथा नित्शे से लेकर हाइदेगर तक की मुख्य गवेषणाएँ तत्त्वमीमांसीय ही कही जांयगी। प्रारम्भ से लेकर आधुनिक काल तक प्रमुख तत्त्वमीमांसियों ने तत्त्वमीमांसा को विज्ञान नहीं स्वीकारा है। प्लेटो-अरस्तू के चिंतन में दार्शनिक चेतना को 'प्रज्ञा' (विज़डम) कहा गया है और इसे व्यावहारिक ज्ञान से भिन्न कहा गया है। इसकी सत्यता हेगेल से लेकर ब्रैडले तक की प्रत्ययवादी परम्परा में देखी जाती है[1]। यही बात भारतीय दर्शन में और भी अधिक स्पष्टता के साथ पायी जाती है।

अतः तत्त्वमीमांसा को संज्ञानात्मक मानना ही भूल है। अब यदि तत्त्वमीमांसा संज्ञानात्मक नहीं हो तो इसे संज्ञानात्मक समझकर इसका खंडन करना भी भारी भूल होगी। पर प्रश्न उठता है कि यदि तत्त्वमीमांसा संज्ञानात्मक न हो तो इसमें वैज्ञानिक तथ्यों तथा तर्कों की दुहाई क्यों दी जाती है? मैं विज़डम के मत को स्वीकार कर समझता हूँ कि दर्शन की युक्तियां मात्र प्रतिकथन (प्लीस्) हैं जिनके द्वारा सम्यग्दृष्टि अथवा सर्वव्यापी अभिवृत्ति की स्थापना की जाती है। कम से कम कान्त ने इस बात को ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में दिये तर्कों को अनुनयात्मक ही स्वीकारा है।

1. मैंने तत्वमीमांसा के इस स्वरूप को 'पाश्चात्य आधुनिक दर्शन का समीक्षात्मक इतिहास,' 'प्रत्ययवादी तत्वमीमांसा का स्वरूप,' दार्शनिक त्रैमासिक, अक्टूबर १९७३, तथा All India Philosophical Congress, 1975 की बैठक में 'Man in relation to Science, Religion and Philosophy' में प्रस्तुत किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्त्वमीमांसा में सर्वसमावेषी तथा संगत दृष्टि स्थापित की जाती है ताकि इस दृष्टि के आधार पर मानव-लक्ष्य तथा नूतन अनुभूतियों के व्यापक आयामों को स्थापित किया जाय। चूँकि प्रत्येक जाति की दृष्टि उसकी संस्कृति तथा परिस्थिति पर निर्भर करती है, इसलिए भारतीय दार्शनिकों का कर्तव्य हो जाता है कि आधुनिक स्थितियों को ध्यान में रख कर अपनी संस्कृति के अनुसार एक ऐसे सम्यग्दर्शन की स्थापना करें जो विज्ञान, तकनीकी तथा औद्योगीकरण के युग के अनुरूप हो।

इसमें संदेह नहीं कि भारतीयों में विज्ञान की अच्छी परिपाटी थी जिसे बी० एन० सील ने "दि पॉज़िटिव साइन्स आफ दि हिन्दूज़" नामक पुस्तक में विस्तारपूर्वक सिद्ध किया है और जिसे आज भी प्राचीन नालंदा विश्वविद्यालय के खण्डहरों के विज्ञान-प्रांगण में देखा जा सकता है। तो भी स्वीकारना होगा कि पाश्चात्य विज्ञानधारा १५ वीं शताब्दी से अनवरत प्रवाहित होती रही है और पिछले ४०० वर्षों में विकसित होकर क्रान्ति के रूप में इस युग में स्थापित हो गई है। वर्तमान युग में कोई भी राष्ट्र बिना विज्ञान के एक पग भी नहीं बढ़ सकता है। अतः, भारत भी विज्ञान और तकनीकी से ओतप्रोत होता जा रहा है और इसलिए वर्तमान-युगीन भारतीय सम्यग्दर्शन को विज्ञान-धारा से संगत और उसके अनुकूल रहना चाहिये।

भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष मानव के चार पुरुषार्थ बताये गये हैं। परन्तु इनकी व्याख्या आधुनिक चिंतन के अनुरूप ही होनी चाहिए। आधुनिक युग-धारा के अनुसार लोकतंत्र, समाजवाद तथा ऐहिकता (सैक्युलरिज़्म) को प्रमुख स्थान प्राप्त है और भारतीय सम्यग्दर्शन को इन तीन धाराओं के अनुरूप होना चाहिये। साधारणतया लोकतन्त्र के अनुसार कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के समान है और किसी भी व्यक्तिविशेष को अमुक वंश तथा कुल में जन्म लेने के कारण विशेष अधिकार का पात्र नहीं माना जा सकता है। समाजवाद के अनुसार राज्य की सभी सेवाओं तथा जीवन की आवश्यकताओं की प्राप्ति के लिए समानाधिकार है और इसलिए सभी उपभोग-वस्तुओं का उचित आवंटन होना चाहिये। फिर समाजवाद के अनुसार सभी व्यक्तियों को आत्माभ्युदय के लिए समान अवसर मिलना चाहिये।

ऐहिकता के संदर्भ में लोगों की दृष्टि विशेष नहीं गयी है, पर यह विचारणीय विषय है। भारत धर्म-प्रधान देश है और लोकसभा में विचार-परामर्श के फलस्वरूप सेक्यूलरिज़्म का अर्थ धर्मों का सहास्तित्व लगाया गया है। साथ ही साथ सेक्यूलरिज़्म को धर्म-निरपेक्षतावाद भी स्वीकारा गया है। परन्तु दार्शनिक चिंतन के अनुसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेक्यूलरिज़्म को पारलौकिक धर्मों का विरोधी माना गया है[२] अतः, सेक्यूलरिज़्म का अर्थ न तो धर्मों का सहास्तित्त्व हो सकता है और न धर्म-निरपेक्षता[३]। सिद्धांततः न तो पारलौकिक धर्म-परम्परा ऐहिकता से मेल खा सकती है और न ऐहिकता सम्पूर्णतया धर्म-तटस्थ हो सकती है। पाश्चात्य विचारधारा में सेक्यूलरिज़्म का महत्त्व बहुत अधिक है और इसका सम्बन्ध तकनीकी तथा औद्योगीकरण के साथ है और इसी संदर्भ में इसकी व्याख्या होनी चाहिये।

यदि लोकतन्त्र, समाजवाद तथा ऐहिकता के तीन कुञ्जी-पदों पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि परम्परागत भारतीय चिंतन इन प्रत्ययों से मेल नहीं खाता है। यदि लोकतन्त्र और समाजवाद के अनुसार सभी नागरिकों को समानाधिकार और अवसर रहना चाहिये तो इनके अनुसार वर्ण-भेद तथा साम्प्रदायिकता को स्थान नहीं दिया जा सकता है। फिर ऐहिकता के साथ अलौकिकता को स्थान नहीं दिया जा सकता है। अन्य भारतीय धाराओं का क्या कहना जब निरीश्वरवादी जैन और बौद्ध धर्मों में भी अलौकिकता को स्थान दिया गया है। संक्षेप में, भारतीय चिंतन में वर्ण-विचार, अलौकिकता तथा संसार-विरक्ति को विशेष स्थान दिया गया है जिनका मेल तीन उपर्युक्त आधुनिक धाराओं के साथ नहीं हो सकता है।

मैं यह भी स्पष्ट कहना चाहता हूं कि किन्ही भी मूल्यों की अन्यों से उत्कृष्टता के पक्ष में निर्णायक तर्क प्रस्तुत नहीं किये जा सकते हैं। न तो आधुनिक और न प्राचीन भारतीय मूल्यों के पक्ष में निर्णायक युक्तियों को प्रस्तुत किया जा सकता है। तर्कों का मुख्य उद्देश्य यही है कि मानव के लिए ऐसे सम्यग्दर्शन की स्थापना की जाय जिसे वे अपने हृदय, मस्तिष्क तथा सम्पूर्ण अनुभूतियों के आधार पर व्यापक आयाम तथा अभिवृत्ति को अपना पायें। जीवन का सर्वतोन्मुख तथा बहुपक्षीय समायोजित विकास ही सम्यग्दर्शन का प्रमुख उद्देश्य है। अब यदि लोकतंत्र, समाजवाद तथा ऐहिकता को इस युग की अभियाचना मान लिया जाय तो भारतीय दर्शन के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चार पुरुषार्थों को आधुनिक रूप दिया जा सकता है।

भारतीय इतिहासकार बताते हैं कि वैशाली के लिच्छवियों का लोकतंत्र अति प्राचीन है। पर इसे लोकतन्त्र नहीं वरन् कुलीनतन्त्र कहा जायगा और यदि यह लोकतन्त्र था भी तो यह तन्त्र अन्य सम्राटों के शासनकाल में नहीं पाया जाता है। भारतीय साम्राज्य का शायद सर्वश्रेष्ठ विकास चन्द्रगुप्त-अशोक के युग में हुआ और

२. या. मसीह, 'निरीश्वरवाद: प्राच्य एवं पाश्चात्य' बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पृ. २४०–२४४।

३. इसका उल्लेख मैंने 'धर्म और ऐहिकता' नामक लेख में प्रस्तुत किया है। देखें, दर्शन-समीक्षा, दिसम्बर १९७१। इस संदर्भ में वहाँ ४४ पुस्तकों की सूची भी प्रस्तुत की गयी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी शासन-पद्धति को हितकारी अधिनायकत्व कहा जायगा। शायद यही बात दक्षिण भारत-शासन के संदर्भ में चोला-पांडेय के समृद्धिशाली राज्यों के लिए सत्य समझी जा सकती है। चूँकि दर्शन में जीवन की झाँकी परिलक्षित होती है इसलिए देखा जा सकता है कि भारतीय दर्शन में एकाधिकारी शासन-तन्त्र ही परिलक्षित होता है न कि लोकतन्त्र।

यह विचारणीय बात है कि विज्ञान के होते हुए भी भारतीय परम्परा में प्रकृति-विजय तथा तकनीकी-विस्तार का मत विशेष स्थान नहीं रखता है। दर्शन के क्षेत्र में त्रिविध ताप का ही विशेष उल्लेख मिलता है। यदि लोकतान्त्रिक व्यवस्था रहती तो विचारक लोक-कल्याण की बात सोचते, न कि पलायनवादी त्रिविध ताप की। यह पलायनवादी विचार तभी सोचा जा सकता है जब एकाधिकारी शासन से त्रस्त होकर तथा दैवी शक्तियों से निराश होकर विचारक आत्म-विजय की बात सोचते। इसलिए अटकल लगाया जा सकता है कि लोकतन्त्र के अभाव में ही संसार-विरक्ति तथा मोक्ष के सिद्धांत को प्रस्तुत किया गया है, न कि ऐहिकता को।

फिर भारतीय दर्शन में वेदान्त विशेष स्थान रखता है। वेदान्त की मुख्य शाखा शांकर मत के अनुसार केवल एक निर्गुण ब्रह्म ही को असत् नहीं कहा जा सकता है। इस विचारधारा में परम वास्तविकता के रूप में असाक्षात् रीति से केवल एक ही अलौकिक सत् को स्वीकारा गया है और शांकर वेदान्त को पाश्चात्य दर्शन में निरपेक्ष प्रत्ययवाद के अनुरूप माना गया है। इतिहास साक्षी है कि निरपेक्ष प्रत्ययवाद से साम्राज्यवाद तथा सर्वसत्तावाद को प्रोत्साहन मिला है। प्लेटो-अरस्तू के प्रत्ययवाद के अनुसार एक सर्वोच्च सत्ता है जो विश्व की सभी घटनाओं का संचालन करती है, और इसी एक सत्ता की पुकार को सुनकर सिकन्दर महान के अन्दर विश्व-विजय की आकांक्षा जगी थी। सिकन्दर की दिग्विजय की आकांक्षा यूनानी सभ्यता, संस्कृति तथा दर्शन के प्रचार एवं प्रसार के हेतु ही उत्पन्न हुई थी। इसी प्रकार हेगेल के प्रत्ययवाद के अनुसार जर्मन जाति और राज्य को निरपेक्ष सत्ता की पार्थिव उच्चतम अभिव्यक्ति कहा गया है और इसी विचार से प्रोत्साहित होकर जर्मन-जाति में विश्व-विजय की आकांक्षा जगी थी। फिर अंग्रेज़ों का उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद ग्रीन, हॉल्डेन, ब्रेडले-बोसाँके प्रभृति प्रत्यय-वादियों के विचार से पुष्ट हुआ था। अतः, वेदान्ती प्रत्ययवाद से सर्वसत्तावाद तथा सामंतवादी विचारों को ही प्रश्रय मिल सकता है।

यह भी ज्ञात ही है कि भारतीय विचारधारा में वर्ण-विचार विशेष स्थान रखता है और यह वर्ण-विचार आगे चलकर जातिवाद में परिणत हो गया है। आरंभ में वर्ण-विचार उदार था और इसे कर्मणा समझा जाता था, पर बाद में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलकर इसे जन्मना स्वीकारा गया है। जन्मना मानने के कारण इसे सामंती धारा के उपयुक्त माना जायगा, क्योंकि इसमें वंश तथा कुल के अनुसार समाज में अधिकार-वहन के लिये वरीयता तथा अस्वीकरण होता है। सामंतवाद को लुप्त धारा समझ कर इस युग में प्रश्रय नहीं दिया जाता है। परंतु भारत में लोकतंत्र को अपनाने पर, विशेषकर बिहार राज्य में राजनेता जातिभेद के सिद्धान्त को अपनाकर, चुनाव में जीतकर, अपनी-अपनी जाति के राजनेता बने हुए हैं। जातिभेद के कारण बिहार-राज्य में राष्ट्रीयता की भावना दुर्बल हो गयी है और विकास एवं औद्योगीकरण की परियोजनाएं ठप पड़ गयी हैं। सभी स्थितियों में गुटबाजी के कारण राष्ट्रीय परियोजनाओं को कार्यान्वित करने में कठिनाई आ गयी है। अतः जातिवाद और लोकतंत्र दोनों एकसाथ नहीं चल सकते हैं। इसलिए यदि लोकतंत्र को मान्यता दी जाय तो भारतीय दार्शनिकों का समयोचित मुख्य उद्देश्य हो जाता है कि वे वर्ण-विचार का खण्डन साहित्य-आलोचना, इतिहास, विज्ञान तथा मानवजाति में प्रचलित अर्थों के आधार पर करें। इसी प्रकार विचार क्रांति की आवश्यकता समाजवाद के अपनाने पर होती है।

समाजवाद के अनुसार राज्य की सभी सामग्रियों का समुपयोजन एवं विकास कर राज्य के सभी नागरिकों के लिए उनकी योग्यता एवं आवश्यकता के अनुसार सेवा तथा उपभोग-वस्तु का उचित वितरण होना चाहिये। यह भी स्पष्ट है कि समाजवाद के अन्तर्गत अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा पिछड़ी जातियों को समानावसर प्रदान करने के लिए तब तक उन्हें संरक्षण तथा सुविधाएं दी जांयगी जब तक वे सहस्रों वर्षों के सामंतवादी सांस्कृतिक दबाव के प्रभाव से मुक्त होकर अन्य जातियों के समकक्ष न हो जांय। खेद का विषय है कि 'समाजवाद' का ऐसा दुरुपयोग किया गया है कि इसका क्रांतिकारी पक्ष एकदम धुंधला पड़ गया है। अतः समकालीन भारतीय दार्शनिकों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रखकर समाजवाद की ऐसी व्याख्या करें कि भारत में वर्गविहीन तथा वर्णविहीन समाज के आदर्श की पूर्ति हो सके।

ऐहिकता की बात पहले ही कह दी गई है और स्पष्ट ही है कि ऐहिकता को स्वीकारने पर अलौकिक शक्तियों को स्थान नहीं दिया जा सकता है। जिन लोगों ने हाइदेगर के विचारों का अध्ययन किया है और उन विचारों से प्रभावित पॉल तीलिख तथा बुल्तमान के धर्मदर्शन का अध्ययन किया है उन लोगों को स्वीकारना होगा कि समकालीन निरीश्वरवादी दर्शन उत्तुंग विचार-चोटी पर पहुंचा हुआ है। यह विचारधारा भारतीय चिन्तन के सर्वथा अनुरूप ही है।[४] अतः, यदि लोकतन्त्र,

४. या. मसीह, निरीश्वरवाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाजवाद तथा ऐहिकता को स्वीकारा जाय तो युगों से समादृत चार पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को नया मोड़ मिलेगा। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से प्रत्येक शब्द अनेकार्थक है और फिर इन शब्दों की अनेक अन्तर्ध्वनियां तथा अर्थ-च्छटायें हैं। इस लेख के संदर्भ में इन शब्दों की व्याख्या प्रचलित अर्थों के ही आधार पर लोकतन्त्र, समाजवाद ऐहिकता की दृष्टि के अनुसार की जायगी।

'धर्म' शब्द के अनेक अर्थ हैं और इन्हें भारतीय दर्शन से परिचित व्यक्ति अच्छी तरह जानते हैं। समाजवादी तथा ऐहिकता की दृष्टि से भारतीय परम्परागत 'धर्म' से मुख्यतः अभिप्राय होगा वेद-विहित कर्म, वर्णाश्रम तथा जाति विषयक कर्म इत्यादि। मीमांसा में 'कर्म' का विवेचन तथा भेद किया गया है, पर धर्म-अनुष्ठान को ही विशेष रूप से 'कर्म' संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार की कर्म-निष्ठा को कर्म-बाध्यता कहा जायगा, न कि कान्तीय कर्त्तव्य-निष्ठा।

कर्मकांड अथवा शास्त्र-वैधिकी (रिचुअल्स) को अहैतुक तथा अन्तर्बाध्यता-नियम के वश कार्य कहा जायगा, नकि स्वतन्त्र इच्छा पर आधारित कर्त्तव्यता। शास्त्रविहित कर्मकाण्ड को 'निष्काम कर्मनिष्ठता' कहा जा सकता है, पर इसे ब्रैडले के समाज-स्थान-निर्भर कर्त्तव्यता से सर्वथा भिन्न समझना चाहिये। फिर मीमाँसा के कर्मकाण्डों का लक्ष्य है स्वर्ग–प्राप्ति, न कि सामाजिक कल्याण तथा बहुजन सुखाय-हिताय की लक्ष्य प्राप्ति। पुनः, भारतीय दर्शन में संसार-विरक्ति की बात कही गयी है और इसी अनासक्ति-योग के आधार पर गीता के निष्काम कर्म का सिद्धान्त टिका हुआ है। संसार-विरक्ति का संदेश लोकतन्त्र के लोकहित, समाजवाद के समाज-विकास तथा सामाजिक न्याय और ऐहिकता की लौकिकता के लक्ष्य के साथ मेल नहीं खाता है। समाजवाद तथा ऐहिकता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को मनसा, वाचा और कर्मणा अपनी समस्त शक्तियों को लोक-कल्याण की वेदी पर न्यौच्छावर कर देना होता है। अतः आधुनिक विचारधारा के अनुसार धर्म वह कर्म कहा जायगा जिसे विज्ञान और तकनीकी के आधार पर लोकहित-हेतु सम्पादित किया जाय। इसमें स्वतन्त्र संकल्प के द्वारा मानव की समस्त शक्तियों का बाह्यीकरण होता है। यहां भय बना रहता है कि कहीं व्यक्ति अपने को ही भूल जाय। सेक्यूलरिज़्म में भी निर्वैयक्तिकता का भय सदैव बना रहता है। पर दर्शन का चरम उद्देश्य है कि मानव उद्बुद्ध, जाग्रत तथा चेतन रहे। इस स्थल पर एकांगीपन से मुक्त रहने के लिए बृहदारण्यक उपनिषद् की चेतावनी को ध्यान में रखना चाहिये :

सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति। अर्थात् वित्त से पूर्ण राज्य को करने से क्या लाभ यदि व्यक्ति को आत्म-ज्ञान न हो ? यहाँ दार्शनिक चेतना के दो छोर हैं जिनके बीच भारतीय विचारकों को समन्वय करना है। एक ओर संसार-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरक्ति पर आधारित आत्म-ज्ञान का संदेश और दूसरी ओर लोक-कल्याण-हेतु आत्म-विमुखीकरण का लक्ष्य, एक ओर मानव-शक्तियों का चित्तवृत्तिनिरोध के द्वारा पूर्णतया अन्तरीकरण और दूसरी ओर ऐहिकतावादी समाजवाद में मानव-शक्तियों का बाह्यीकरण।

'अर्थ' शब्द भी अनेकार्थक है और इस लेख के संदर्भ में इस शब्द से धन, शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन, द्रव्य-लाभ, इन्द्रियों द्वारा स्थूल प्रत्यक्ष-वस्तु इत्यादि का अभिप्राय होता है। वैदिक युग में 'अर्थ' से संतान, गो-धन, खाद्य-सामग्री इत्यादि का भी तात्पर्य होता था। परन्तु यह स्पष्ट है कि अर्थ का संदर्भ अधिक ऐहिकता का है, न कि आध्यात्मिकता अथवा पारलौकिकता का। वास्तव में अर्थ सामाजिक अर्थ है और इसी रूप में इस युग में इसे स्पष्ट करना चाहिये। समाजवादी संदर्भ में अर्थ-प्राप्ति से अभिप्राय होगा राज्य के अन्तर्गत अधिक से अधिक उपभोग-वस्तुओं का उत्पादन तथा उनका समाजोचित युक्तिपूर्ण विवरण। नकारात्मक रूप से घूसखोरी, जमाखोरी, तस्करी-व्यापापार, मुनाफाखोरी इत्यादि से निपटने को ही 'अर्थ-प्राप्ति' कहा जायगा।

अर्थ के अन्तर्गत शिक्षा-व्यवस्था भी गिनी जायगी, क्योंकि किसी भी व्यक्ति की अर्थ-प्राप्ति की योग्यता उसकी शिक्षा पर निर्भर करती है। आधुनिक युग की पुकार है कि सभी बच्चों को निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा दी जाय ताकि जाति-भेद का विलयन हो जाय।

भारतीय परम्परा के अनुसार आयुवृद्धि के साथ अर्थ-त्याग की बात कही गयी है और सन्यास की स्थिति को सर्वोत्तम जीवन बताया गया है। यह अवस्था जितनी सहज रूप में समाजवाद तथा साम्यवाद में प्राप्त हो सकती है वह पूँजीवादी परम्परा में सम्भव नहीं हो सकती है।

'अर्थ' की अपेक्षा 'काम' शब्द का अधिक सावधानीपूर्वक विश्लेषण करना पड़ेगा। 'काम' शब्द से कामना, विषय-वासना तथा इन्द्रिय-सुख की इच्छा इत्यादि का अभिप्राय होता है। वैदिक काल में 'काम' से 'संतान-कामना' का तात्पर्य होता था और बाद में यह पुत्र-कामना में परिणित हो गया और इस धारा के अनुसार 'जो नरक आदि से पितरों का त्राण करे वह पुत्र है'। यही कारण है कि गृहस्थ आश्रम को भी जीवन की आवश्यक अवस्था समझा गया। इसके विपरीत इन्द्रिय-निग्रह तथा तपस् इत्यादि की धारा ने जड़ पकड़ी और ब्रह्मचर्य के आदर्श का प्रचार और प्रसार हुआ। इन दोनों विचारधाराओं में संघर्ष होता रहा। इस संदर्भ में गांधी जी का विचार था कि बिना संतान-कामना के इन्द्रिय-भोग नहीं होना चाहिये। ऐसा स्वीकार कर लेने पर परिवारनियोजन के जितने भी साधन बताये गये हैं उन्हें गांधी-विचार से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संगत नहीं कहा जा सकता है। पर क्या गांधी-विचार को आधुनिक परिवारनियोजन की अपेक्षा अधिक मान्यता दी जा सकती है ?

बढ़ती हुई जनबाढ़ तथा सभी पंचवर्षीय योजनाओं की विफलता को दृष्टिगत कर कहना पड़ेगा कि यौन-लिप्सा तथा संतान-कामना दो भिन्न-भिन्न विषय हैं और जनबाढ़ को रोकने के लिए गर्भ-निरोध पर विशेष ध्यान देना होगा। यौन-सम्बन्ध तथा विवाह के सन्दर्भ की ऐसी समस्या है कि दार्शनिक, साहित्यकार तथा अन्य कलाकारों एवं विचारकों को इसका तत्काल समुचित तथा समयोचित विज्ञान-परम्परा के अनुकूल समाधान करना चाहिये। यदि जातिभेद-विलयन को समुचित युग-धर्म स्वीकारा जाय तो वैवाहिक छूट की व्यवस्था करनी होगी। सम्भव है कि पाश्चात्य सामाजिक राज्यों में काम-विषयक व्यवस्था को भारत में नहीं स्वीकारा जाय, परन्तु स्वीकारना होगा कि समकालीन भारतीय परिस्थिति में 'काम-सम्बन्धी' समस्या विचारकों के लिए एक महान चुनौती है।

यदि 'अर्थ' और 'काम' को सामाजिक दर्शन में विशेष स्थान प्राप्त है तो 'धर्म' और 'मोक्ष' को महज़ब और नीति में प्रमुख स्थान देना होगा। इस लेख के सन्दर्भ में 'धर्म' को नीतिशास्त्र के अन्तर्गत रखा गया है और यही बात 'मोक्ष' पर भी लागू होती है। भारतीय दर्शन में 'मोक्ष' का अर्थ जन्म-जन्मान्तर के बन्धन से मुक्ति तथा 'अज्ञान एवं कर्म' के बन्धन से छुटकारा इत्यादि का होता है। 'मोक्ष' शब्द दर्शन का पारिभाषिक शब्द है और इसे साधारण तथा प्रचलित शब्द स्वीकारना नहीं चाहिये। परन्तु यदि कोई 'अज्ञान, कर्म, संसार तथा मोक्ष' के चतुष्पदीय सिद्धान्त को स्वीकार न करे तो 'मोक्ष' को किस रूप में समझा जा सकता है ? मेरी समझ में 'मोक्ष' को समाजवादी एवं लोकतान्त्रिक विचारधारा में 'इच्छा-स्वातंत्र्य' के रूप में स्वीकारा जा सकता है।

भारतीय परम्परा में इच्छा-स्वतन्त्र्य का कोई स्थान नहीं दीखता है। कर्मकांड तथा सामूहिक विचार में जकड़ा हुआ वैयक्तिक इच्छा-स्वातन्त्र्य दबा हुआ दीखता है। पाश्चात्य विचारधारा में भी तीन-चार सौ वर्षों में ही इसे न्यूनाधिक उस प्रकार का स्थान मिलता आ रहा है जिसकी भावना इस बीसवीं शताब्दी में अस्तित्ववादी चिंतन में निखर रही है। अब जब तक इच्छा-स्वातन्त्र्य बहुसंख्यक व्यक्तियों में न हो तब तक लोकतंत्र की सम्भावना विशेष नहीं हो सकती है। इच्छा-स्वातन्त्र्य के पूर्ण विकास और उसका स्वरूप-ज्ञान न होने के कारण लोग समझते हैं कि अनुशासनहीनता तथा मनमानापन ही स्वतन्त्रता का असली स्वरूप है। इसके विपरीत जातिवादी सामन्ती धारा के आधार पर आज बिहार की राजनीति टिकी हुई है। इसे लोकतन्त्र नहीं वरन् जातिवादी सामन्तवाद कहा जायगा। अनेक राजनेता जातीयता का नारा लगाकर अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी जाति का नेता होने का स्वप्न देख रहे हैं। दार्शनिकों का कर्त्तव्य है कि वे इच्छा-स्वातन्त्र्य के स्वरूप को स्पष्ट करें और इसमें अन्तर्निहित ध्वनियों को उग्र रूप में प्रस्तुत करें। बिना इच्छा-स्वातन्त्र्य का सही अर्थ अपनाये नैतिक व्यवहार भी संभव नहीं हो सकता है। इस समय नैतिकता की नितान्त कमी है। घूसखोरी, जमाखोरी, काला बाज़ार, तस्करी व्यापार तथा जातिवादी दलगत व्यवहार प्रमाणित करता है कि बिहार में नैतिक जीवन अभी भी ओझल ही है। विश्वविद्यालयों में भी नीतिशास्त्र सब से कम अध्ययन-अध्यापन का विषय रहा है।

मैंने इस लेख में कतिपय दार्शनिक समस्याओं की अधूरी रूपरेखा प्रस्तुत की है। मेरा लक्ष्य इतना ही भर है कि स्पष्ट कर दिया जाय कि समसामयिक दर्शन की समस्याएं गहरी, गम्भीर, व्यापक तथा भारतीयों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। जब तक आदर्श मानव अथवा मानव पुरुषार्थ का समुचित दार्शनिक चित्रण न किया जाय तब तक मात्र परियोजनाओं द्वारा भारतीय जीवन प्रगतिशील नहीं हो सकता है।

रांची विश्वविद्यालय, रांची

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के प्रकाशन

१.	अनुभववाद	सं. यशदेव शल्य	५.५०
२.	समकालीन दार्शनिक समस्याएं	सं. यशदेव शल्य	१३.००
३.	दार्शनिक विश्लेषण	ले. यशदेव शल्य	१२.००
४.	विषय और आत्म	ले. यशदेव शल्य	२०.००
५.	समकालीन भारतीय दर्शन	सं. के. सच्चिदानन्द मूर्ति	१२.००
६.	भारतीय मनोविज्ञान	सं. नारायण शास्त्री द्राविड़	९.००
७.	ओपहसिद्धि, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	३.००
८.	न्यायबिन्दु, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	८.००
९.	नृतत्त्व तथा समाजदर्शन (७ खंड)	सं. दयाकृष्ण, गोविन्दचन्द्र पाण्डे यशदेव शल्य	५२.००

श्री यशदेव शल्य द्वारा अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लिए डी ३१, बापूनगर जयपुर से सम्पादित तथा प्रकाशित एवं मनोज प्रिन्टर्स, गोदीकों का रास्ता किशनपोल बाजार, जयपुर से मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संपादक—यशदेव शल्य

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी
३५३१२६

वर्ष २०, अंक ४, जुलाई १९७५

दार्शनिक त्रैमासिक

विषय सूची

बौद्ध दृष्टि के आलोक में सौन्दर्यशास्त्र	गोविन्दचन्द्र पांडे	१६१
समकालीन भारतीय दार्शनिक परिस्थिति	सतिन्दर महाजन	१६३
स्याद्वाद के विरोधाभास	संगमलाल पांडेय	१७१
क्या वर्तमान युग में मोक्ष की अवधारणा उपादेय है ?	वेदप्रकाश वर्मा	१७९
प्ररूप-सिद्धान्त	जगदीशसहाय श्रीवास्तव	१८८
कांट : निर्बन्ध आत्म का कल्पना-बन्धन	भगवती	१९३
धर्म-दर्शन	नलिनी शुक्ला	२१२

वार्षिक मूल्य : १५.००

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष २१ जुलाई १९७५ अङ्क ३

बौद्ध दृष्टि के आलोक में सौंदर्यशास्त्र*

गोविन्दचन्द्र पांडे

सौंदर्य-शास्त्र को नितांत कला-परक मानना एवं यह मानना कि कला एक सर्वथा स्वतन्त्र अर्थात् अपने ही मूल्यों के लिए उद्दिष्ट अनुभूति का आयाम है, एक ऐसी दृष्टि है जोकि पिछली दो शताब्दियों से ही विकसित हुई है। इसके विपरीत बौद्ध दृष्टि में सौंदर्य और कला आध्यात्मिक जीवन के अंग के रूप में स्वयं मूल्यास्पद बनते हैं। आध्यात्मिक अनुभूति की व्याख्या होने के नाते बौद्ध चिंतन सौंदर्य और कला के इस पारमार्थिक स्वरूप के विषय में उपेक्षा नहीं करता। एक पृथक् सौंदर्यशास्त्र की स्थापना न करते हुए भी बौद्ध परम्परा सौंदर्य के विषय में गम्भीर अन्तर्दृष्टि प्रस्तुत करती है।

बौद्ध दर्शन और कला दोनों ही बुद्ध की आध्यात्मिक अनुभूति को अपनी-अपनी विधा के अनुसार प्रकाशित करते हैं। एक ही मूल बिन्दु प्रारम्भ होने के कारण उनका निगूढ़ अन्तःसम्बन्ध निर्विवाद है। मूलतः यह सम्बन्ध वही है जोकि प्रज्ञा और भावना में है।

कला को नैतिक मूल्यों से पृथक् समझना एक प्रचलित दृष्टि है जिसका मूल कांट की कृतियों में देखा जा सकता है। बौद्ध दृष्टि के अनुसार नगण्य हुए बिना कला नैतिक मूल्यों का परिहार नहीं कर सकती। इस दृष्टि से कला एक प्रकार की "विज्ञप्ति" सिद्ध होती है जोकि बौद्ध दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। तात्पर्य यह है कि कला एक साभिप्राय संकेत होने के कारण नैतिक उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकती।

कला का प्राण कल्पना ही बहुधा मानी जाती है और उसे इस प्रकार व्यवहार एवं विद्या, दोनों से ही पृथक् कर दिया जाता है। किन्तु कल्पना की ऐसी व्याख्या कला के

*इण्डियन फिलासफी कांग्रेस के स्वर्ण-जयन्ती अधिवेशन (२८ दिसम्बर १९७५ से ३ जनवरी १९७६) के अवसर पर आयोजित विश्व-दर्शन सम्मेलन में दिये गए बुद्ध जयन्ती व्याख्यान का हिन्दी में प्रस्तुत सारांश। पूरे व्याख्यान का अनुवाद अगले अंक में प्रकाशित किया जायगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्य को घटा देती है। बौद्ध दृष्टि से वास्तव में कल्पना मन की मूल सृजनात्मक विशेषता है। आश्चर्य तो यह है कि मन के इस काल्पनिक साम्राज्य में यथाकथंचित् व्यवहार एवं ज्ञान के लिए स्थान जुट पाता है। बौद्ध दृष्टि से भावनात्मक कल्पना आंतरिक अनुभूति को प्रस्फुटित करती है। इस प्रकार की भावना का संस्कार ही प्रतिभा का मूल है। भावनामूलक आंतरिक अनुभूति न केवल प्रज्ञा के विषयभूत सत्यों का धर्मिभूत विषयों के माध्यम से धर्मभूत लक्षणों के रूप में साक्षात्कार प्रस्तुत करती है, अपितु उसमें स्मृति अथवा प्रत्यक्ष की अपेक्षा के बिना भी साक्षात्कार उत्पन्न करने की शक्ति होती है। कलात्मक अथवा सौंदर्यात्मक अनुभूति भावना-जन्य आंतरिक एवं विशद सत्यानुभूति ही है।

कला का मूल्य भी अन्ततोगत्वा उसी कसौटी पर स्थिर होता है जिस पर अन्य किसी भी बात का। सर्वोच्च अनुभूति ही अन्य अनुभूतियों के मूल्यांकन में मानदंड बनती है। बौद्ध दृष्टि से यह सर्वोच्च अनुभूति बोधि की ही है जिसमें एक ओर नित्य परतन्त्र प्रवाह का एवं दूसरी ओर अनिर्वचनीय शान्त निर्वाण का साक्षात्कार होता है। इस अनुभूति का परिणाम मन का उद्भावन, विमोचन एवं प्रशमन होता है। यही तीन प्रभाव आध्यात्मिक अनुभूति के मूल्यांक माने जा सकते हैं। कलात्मक अनुभूति भी अपने प्रबोधनात्मक, विमोचनात्मक एवं उपशमनात्मक प्रभाव से ही तोली जानी चाहिए।

बौद्ध दृष्टि कला को आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में रखती है, उसे नैतिक, सार्थक, अन्तर्भावनात्मक स्फूर्ति में केन्द्रित मानती है और "परावृत्ति" की स्थिति को समर्पित करने के सामर्थ्य से ही उसका मूल्यांकन करती है। कला के दर्पण में अर्पित जीवन का प्रतिबिम्ब आध्यात्मिक आलोक से लोकोत्तर अनुभूति का उपाय बनता है।

राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समकालीन भारतीय दार्शनिक परिस्थिति*

सतिन्दर महाजन

यह नहीं कहा जा सकता कि समकालीन भारतीय दर्शन सजीव एवं गतिशील है, उन्नत एवं प्रकृष्ट स्तर का है और न कोई निष्पक्ष पर्यवेक्षक ऐसा ही कहने का साहस करेगा कि भारत के सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक जीवन में दार्शनिक, दर्शन-अध्येता या अध्यापक कोई उल्लेखनीय योग दे रहे हैं। चाहे हम शुद्ध अकादमिक दृष्टिकोण से इसे निरखें-परखें या एक व्यापक सामाजिक उपयोगिता के दृष्टिकोण से इसका मूल्यांकन करें दोनों में से किसी एक कसौटी पर भी यह खरा उतर पायेगा, इसमें दुर्भाग्यवश सन्देह ही है। अतः यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि आज भारत में दर्शन अधोगति को प्राप्त हो चुका है।

निश्चय ही दर्शन की शोचनीय अवस्था का कोई कारण होगा। मेरे विचार में भारत में आज दर्शन के अध्ययन-अध्यापन में प्रमुखतः दो ही प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं और उन दोनों ने ही इसे गर्व और सम्मान के समुन्नत शिखर से नीचे गर्त में गिरा दिया है; या यूं ही कहें कि एक सजीव, गतिशील, महत्त्वपूर्ण बौद्धिक धारा से इसे एक निर्जीव, मृतप्राय, निरुपयोगी, समाज पर एक बोझमात्र, गतिरुद्ध अवस्था में पड़े सड़े ताल जैसा कर दिया है। एक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति है : आधुनिकता से मुख मोड़कर अपने प्राचीन दर्शन की भव्यता पर मुग्ध-भाव से ध्यान, मनन करना, उसमें अन्ध-श्रद्धा और अनन्य भक्तिभाव रखना, वेदवाक्य की मनःस्थिति से उसकी समुचित दार्शनिक समीक्षा-आलोचना को वर्ज्य मानते हुए केवल स्पष्टीकरण, पुनराख्यान, पुनरावृत्ति और भाष्यकारिता में दर्शन की सार्थकता और सफलता मान लेना। इतना तो है कि इस प्रवृत्ति से हमारी पारम्परिक दार्शनिक उपलब्धियाँ सुरक्षित बनी रही हैं, किन्तु इनको सजीव बना, इनका उपयोग कर, हम अपने वर्तमान को समझने-बूझने और अपनी आज की चुनौतियों से जूझने से अपने को वञ्चित ही रख रहे हैं। दूसरी ओर अन्धश्रद्धा और भक्ति-भाव की प्रबलता के कारण तर्क और आलोचना से हम उनकी परीक्षा नहीं करते, फलतः एक गतिमान, मौलिक, सृजनात्मक दर्शन-प्रवाह का अभाव रह जाता है।

अंशतः इस उपर्युक्त प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया के रूप में पिछले बीस-पच्चीस वर्षों से भारत के दर्शन-जगत् में एक दूसरी प्रवृत्ति ने अपना स्थान बनाया, वह थी— अमरीकी दर्शन को अपनाने का प्रयत्न। पाश्चात्य, विशेषतः आंग्ल-अमरीकी दर्शन को अपनाने और बढ़ावा देने से प्राचीन भारतीय दर्शन के प्रति अन्ध श्रद्धा पर ही नहीं, वरन् कहा जा सकता है कि प्राचीन दर्शन के पठन-पाठन पर ही एक कड़ा प्रहार हुआ, इसका प्रभाव यहाँ तक बढ़ा कि जब तक कोई दर्शन-अध्यापक या अध्येता कुछ बहुचर्चित पाश्चात्य

* परिषद् के २०वें वार्षिक अधिवेशन में इस विषय पर हुई गोष्ठी में प्रस्तुत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दार्शनिकों की रचनाओं से परिचित होने का सबूत नहीं दे पाता, उसे दर्शन-जगत् में एक प्रतिष्ठित स्थान पाना ही कठिन हो जाता। इससे दर्शन-जगत् में उन्हीं लोगों का प्रभाव और बल बढ़ा जो पाश्चात्य दार्शनिकों पर टिप्पणी करते न थकते थे। किन्तु यह प्रवृत्ति भी इस देश के दर्शन के लिए अभिशाप ही बनी, वरदान नहीं। देखने में यही आया कि प्राचीन भारतीय दर्शन के प्रति अन्ध-श्रद्धा का स्थान आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिकों के अन्धानुकरण ने ले लिया। सांख्य, वेदान्त ग्रंथों के स्थान पर 'ट्रैक्टाटस', 'इन्वैस्टिगेशन्ज़', 'कांसेप्ट आफ माइण्ड', 'सैन्स एण्ड सेंसिबिलिया', 'इण्डिविजुअल्ज़' प्रभृति ग्रन्थ श्रुति बन गए और विट्गिन्स्टाइन, रसेल, क्वाइन, एयर, मूर, राइल, ऑस्टिन इत्यादि के विचारों को समझ पाने और उन्हीं का पुनराख्यान कर लेने में दार्शनिक अपने को कृतकृत्य मानने लग गए। इनका अध्ययन, अध्यापन खूब ज़ोर-शोर से चला और चल रहा है। इस बात में तो आप मुझसे सहमत ही होंगे कि भारत के अधिकतर विद्यार्थी अंग्रेज़ी भाषा पर सामान्य अधिकार भी नहीं रखते। ऐसे में उनसे यह अपेक्षा करना कि वे, उदाहरणतया, ऑस्टिन के सरीखे विश्लेषणात्मक दर्शन की रचना, जिसमें भाषा पर केवल सामान्य अधिकार ही नहीं उसमें प्रवीणता और उसकी लाक्षणिक-व्यञ्जक अभिव्यक्तियों में अन्तर्दृष्टि रखना भी आवश्यक है, सफलतापूर्वक कर पायेंगे, क्या हास्यास्पद नहीं है? उनके लिए तो इस प्रकार के दर्शन को समझना ही एक महत् कार्य होगा, उसको आगे बढ़ाना, उसमें मौलिक कार्य करना तो दूर की बात है। ऐसी स्थिति में आश्चर्य नहीं कि यदि कोई भारतीय दर्शन-अध्येता या अध्यापक पाश्चात्य दार्शनिकों के सिद्धान्तों या विचारों का, कुछ उन्हीं के शब्दों में और बाकी पाश्चात्य व्याख्याताओं के शब्दों को ही तोड़-मरोड़ कर, ऊपर-नीचे कर, कुछ अपने भी शब्द बीच में मिलाकर, प्रस्तुत कर देता है तो वह अपने को धन्य मानता है। और यदि गुरु-प्रयत्नों के बाद कहीं वह इन विचारों को आत्मसात् कर किन्तु उसी परिपाटी में कुछ अपने ढंग के कहने में समर्थ हो पाता है तब तो वह मौलिक सृजनात्मक दार्शनिक ही हो जाता है। मेरा कहने का यह तात्पर्य नहीं कि केवल भाषा के विदेशी होने के कारण ही अन्यथा सजीव, गतिशील पाश्चात्य दर्शन भारत में दर्शन का जीर्णोद्धार करने में असफल रहा। कारण इससे गहरा है और वह है पाश्चात्य दृष्टि का हमारे लिए विदेशी होना।

इसको समझने के लिए हमें यह देखना होगा कि एक सांस्कृतिक, बौद्धिक, सामाजिक परिवेश में ही दर्शन पलता, बढ़ता, फलता-फूलता है। काव्य-कला और साहित्य की भाँति यह भी एक परिवेश में जन्मता, पलता, उसकी अभिव्यक्ति करता, उसको प्रतिबिम्बित कर, उसी से पोषण पाता व प्रगति करता है।[1] आंग्ल-अमरीकी, जर्मन या फ्रांसीसी परिवेश और सभ्यता के मूल और सन्दर्भ में पला-बढ़ा दर्शन जब भारतीय परिवेश में लाया जाता है तो अपने प्रेरणा-स्रोत, नैसर्गिक वातावरण से कट जाने से वह एक प्रतिकूल धरती पर ज़बरदस्ती खड़े किये गए पौधों की तरह निर्जीव हो जाता है और अपनी कांति और संवर्धनशीलता खो बैठता है।

यदि हम दर्शन का कल्याण करने के लिए वस्तुतः ईमानदार और तत्पर हैं तो मेरा निवेदन है कि अपने प्राचीन में अन्ध-श्रद्धा और पाश्चात्य का अन्धानुकरण, इन दोनों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही त्यागना होगा और दर्शन को अपने नैसर्गिक परिवेश में प्रतिष्ठित करना होगा। दर्शन को नव-स्फूर्ति और नवजीवन देने का यह एक अचूक उपाय है कि हम इसे अपने परिवेश के प्रति उत्तरदायी, संवेदनशील बनायें और भारत की वर्तमान समस्याओं का समाधान करने में उसका पथ-प्रदर्शन करें। दार्शनिक लोग अपनी विकसित तार्किक और समालोचनात्मक योग्यता का, समग्रात्मक दृष्टिकोण में प्रकृष्ट प्रशिक्षण का और किसी भी प्रश्न को गहन, मर्मभेदी, तलस्पर्शी विश्लेषण करने की सामर्थ्य का सुन्दर सदुपयोग समाज-सम्बन्धी प्रश्नों और समस्याओं के समुचित विवेकपूर्ण विश्लेषण देने में कर सकते हैं। मूल्यों, आदर्शों और लक्ष्य के सही विवेचन एवं निर्धारण करने में योगदान देकर दार्शनिक समाज की अमूल्य सेवा कर सकते हैं और उसके प्रति अपने उत्तरदायित्व को एक सार्थक और विशिष्ट रूप में निभा सकते हैं। तब निश्चय ही समाज में भी दर्शन की अवहेलना न होगी और वह भी इसे एक महत्त्वपूर्ण स्थान देगा। इस प्रकार परस्पर एक-दूसरे से सम्बद्ध होकर और एक-दूसरे को प्रेरणा एवं नव-स्फूर्ति देते हुए एक-दूसरे का पोषण-संवर्धन करते हुए समाज और दर्शन दोनों ही मंगलमय उन्नति एवं श्रेय के पथ पर अग्रसर होंगे। इससे समाज को, अपने-आपको समझने-बूझने और सम्यग्रूपेण निरूपित आदर्शों और मूल्यों के सन्दर्भ में अपनी सामयिक समस्याओं का विवेचन और उनका समाधान करने की अमूल्य अन्तर्दृष्टि मिलेगी और दर्शन को मिलेगा एक नैसर्गिक प्रेरणा-स्रोत, एक सार्थक दिशा जिस पर अग्रसर हो वह अपनी दीनहीन दशा से ऊपर उठ सकता है।

कुछ दार्शनिकों को इस पर यह आपत्ति होगी कि ऐसा करने से दर्शन का क्षेत्र संकुचित हो जायेगा। समाज-सम्बन्धी समस्याएँ तो सामयिक होती हैं। यह भी कहा जाता है कि वस्तुतः समाज या व्यक्ति का पथ-प्रदर्शन करना दर्शन के क्षेत्र में ही नहीं है तथा दार्शनिकों को दर्शन की शुद्ध समस्याओं पर ही विचार करना चाहिए। दर्शन की ये शुद्ध समस्याएँ दर्शन मात्र की हैं, सार्वभौम हैं और इसमें भारतीय-अभारतीय का प्रश्न ही नहीं उठता।

इसके उत्तर में मेरा यह निवेदन है कि जो सुझाव यहाँ दिया जा रहा है उसमें दार्शनिकों को अपनी विशिष्ट योग्यताओं का विकास करने और उनका उपयोग-अभ्यास करने का पूरा अवसर मिलता है। अतः ऐसा नहीं है कि यदि हम इन समस्याओं पर ध्यान देंगे तो हमारी दार्शनिकता ही समाप्त हो जायगी। अतः यदि यह सुझाव दर्शन का जीर्णोद्धार करने में एक सराहनीय भूमिका निभा सकता है तो हमें इसे अपनाने में आनाकानी नहीं होनी चाहिए।

दूसरे यह भी द्रष्टव्य है कि वस्तुतः दर्शन की तथाकथित शुद्ध समस्याएं भी एक परंपरा की ही देन होती हैं। पूर्णतया परम्परा-निरपेक्ष चिन्तन सम्भव भी है या नहीं, यह भी सन्देहजनक ही है। यह आग्रह है कि वैयक्तिक या सामाजिक, सामयिक या शाश्वत प्रश्नों और समस्याओं के समाधान में योगदान देकर, जीवन-दर्शन प्रतिपादित कर पथ-प्रदर्शन करना दर्शन के क्षेत्र में ही नहीं है वरन् यह स्वयं अर्वाचीन पाश्चात्य दर्शन परिपाटी की एक मान्यता है, या शायद अब यूं कहना चाहिए कि रही है। यह नहीं कहा जा सकता कि अफलातून और अरस्तू की भी यह मान्यता थी या जर्मनी और फ्रांस के अस्तित्ववादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दार्शनिकों का या भारत के दर्शनों का यह आग्रह रहा है। दर्शन में दार्शनिक परम्परा का समुचित स्थान देखने पर और दार्शनिक परम्परा को सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक परिवेश का अंग देखने पर दर्शन की तथाकथित सार्वभौमिकता का सच्चा रूप दिख जाता है। अतः शुद्ध दार्शनिक समस्याओं पर काम करने की बात व्यर्थ है, परम्परा के चुनाव में समस्याओं का चुनाव भी होता है। उपर्युक्त से इतना तो स्पष्ट कर ही दिया गया है कि हमारे लिए पाश्चात्य परम्परा का चुनाव, दार्शनिक परम्परा के संस्कृति में प्रतिष्ठित होने के कारण, अनुपयुक्त और अहितकर होगा। अतः अब प्रश्न केवल इतना रह जाता है कि दार्शनिक पूरी तरह केवल समसामयिक सामाजिक समस्याओं के विवेचन में ही पूरी तरह से लग जांय या कि भारतीय दर्शन-परम्परा को समझें-बूझें और उसके अन्तर्गत उठी समस्याओं पर ही विचार करें? यह विकल्प वस्तुतः परस्पर उतने विरोधी नहीं हैं जितने प्रतीत होते हैं। दर्शन-परम्परा का समुचित गुनग्राही मूल्यांकन, अध्ययन, अनुशीलन हमें भारतीय संस्कृति एवं समाज को निरखने-परखने में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है और यह सूझ-बूझ हमें अपने वर्तमान के विभिन्न पक्षों के विषय में सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि विकसित करने में सहायक होती है क्योंकि ऐतिहासिक भित्ति और मूल को जाने-समझे बिना हमारा अपने वर्तमान का ज्ञान भी सतही और अधूरा रह जाता है। अतः अन्धभक्ति को त्याग, सजग रूप से अपनी परम्परा का गहन गुणग्राही, आलोचनात्मक अनुशीलन समाज के प्रति संवेदनशील एवं उत्तरदायी दर्शन का पूरक ही होगा, विरोधी और बाधक नहीं।

इसका यह आशय नहीं कि हम कूपमण्डूक वृत्ति को ही अपना लें और अन्य दर्शनों की ओर दृष्टिपात करने से भी इन्कार कर दें। स्वस्थ भाव से यूरोपीय और आंग्ल-अमरीकी या जापानी और चीनी संस्कृति और दर्शन का हम अध्ययन कर उसके श्लाघ्य तत्त्व-विचार को ग्रहण कर सकते हैं। इस प्रकार हमारा दर्शन स्वच्छ, निर्मल, जागरूक और स्वस्थ रहेगा। सामयिक, सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय दर्शन की दुहरी चुनौतियों से जूझता हमारा दर्शन गतिरोध, निष्क्रियता और स्वल्प तुष्टि से बच सकता है। किन्तु ऐसा तभी हो सकता है जब हम सर्वप्रथम स्वस्थ -- अपने में स्थित होवें,—अपने वैयक्तिक, जातीय अनुभव के प्रति झूठे न होवें, अपने सांस्कृतिक अनुभव और उपलब्धियों से विच्छिन्न न होवें। अपने वैशिष्ट्य में स्थित होकर उसके परिप्रेक्ष्य में ही हम अन्य परम्पराओं का सही गुण-ग्रहण एवं मूल्यांकन कर सकते हैं। निर्मूल हो पाश्चात्य दर्शन के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति हमारी औपनिवेशिक मनःस्थिति और उससे जन्य हीन-भावना की ही द्योतक हो सकती है। यह शोचनीय है कि इस प्रवृत्ति-जन्य, दुःखद और कुण्ठित मनःस्थिति की ओर विरले ही दार्शनिकों ने ध्यान दिया है।[२] अपने सन्दर्भ से विच्छिन्न, पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा में उल्लेखनीय स्थान प्राप्त करने में असमर्थ हमारी दशा हवा में लटके त्रिशंकु जैसी हो रही है; जिसका यथाशीघ्र परिशोध होना चाहिए।

भारत में दर्शन के भारतीयकरण पर और भारतीय दर्शन-परम्परा के समुचित अध्ययन के सुझाव पर एक और आपत्ति हो सकती है जिसका यहाँ संक्षेप से उल्लेख एवं समाधान कर देना उचित होगा। यह प्रायः कहा जाता है कि मोक्ष-प्रधान भारतीय दर्शन-परम्परा इहलोकघाती, नकारात्मक, पलायनवादी एवं अध्यात्मपरक है, जो कि आज के युग के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए अनुपयुक्त है, इस पर व्यर्थ समय व्यतीत करने में दर्शन, देश और समाज का कल्याण नहीं हो सकता। कहा जाता है कि आवश्यकता है एक नूतन दृष्टिकोण की जो मानवीय इच्छाओं, आकांक्षाओं पर वज्रपात न कर उन्हें समुचित स्थान दे, भौतिक उन्नति की तरफ प्रेरणा दे, इस जीवन को आभास मात्र नहीं माने, मानव की चिर सुख और अमरत्व की कामना को यथासम्भव पूर्ण करने में प्रेरणा और योग दे[3] और यह माना जाता है कि मोक्ष-परक भारतीय दर्शन-परम्परा में ऐसी क्षमता नहीं है। अतः इस कारण भी भारतीय दर्शन-परम्परा का अध्ययन-अनुशीलन त्याज्य ही है और आवश्यकता है नूतन, अर्थात् पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन-स्वीकरण की।

इस पर मैं यहाँ कुछ कहना चाहूँगा। सर्वप्रथम भारतीय दर्शन और मोक्ष का परस्पर क्या सम्बन्ध रहा है यह एक अत्यन्त रुचिकर किन्तु विवादास्पद विषय है। यह ठीक है कि बहुधा भारतीय संस्कृति और दर्शन के अध्येताओं ने मोक्ष को प्रमुख स्थान दिया है।[४] श्री द्राविड़ ने तो यहाँ तक कहा है कि आत्म-प्रत्यय के परिप्रेक्ष्य में ही विश्व के स्वरूप का संश्लेषण-विश्लेषण करना, न केवल भारतीय दर्शन का अपितु दर्शन मात्र का प्रमुख कार्य है।[५] उनके मत में इस कसौटी पर विज्ञान और गणित की प्रणाली की प्रमुखता के कारण डेकार्ट से चलने वाली अब तक की पाश्चात्य दर्शन-परम्परा को सच्चे अर्थों में दर्शन ही नहीं कहा जा सकता।

पश्चिमी दार्शनिक अधिकतर गणित और विज्ञान को ही दार्शनिक चिंतन का लक्ष्य मानते रहे हैं। फलस्वरूप पश्चिमी दर्शन संवेदवाद तथा उस पर आधारित तार्किक प्रत्यक्ष-वाद की क्षुद्र समस्याओं में इस शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर पिछले दशक तक उलझा रहा है।[६] ऐसा भी नहीं कि इन विचारों को विज्ञान-दर्शन या वैज्ञानिक दर्शन के रूप में भी स्वीकार किया जा सकता हो। अपितु इन्हें "अधिक से अधिक, कुछ प्रतिभाशाली विद्वानों के स्वैरचिंतन के रूप में स्वीकार करना ही उपयुक्त होगा",[७] जबकि भारतीय दर्शन में इस प्रकार की भूल कभी नहीं की गई है। आरम्भ से ही परा विद्या और अपरा विद्या का स्पष्ट भेद कर भारतीय परम्परा में दर्शन को आत्म-ज्ञान और मोक्ष-प्रत्यय से दृढ़ता से सम्बद्ध कर दिया गया है; क्योंकि आत्म-संप्रत्यय विषयक ज्ञान और मोक्ष में अभिन्नता न होते हुए भी एक आंतरिक एवं अटूट सम्बन्ध है। अन्य लेखकों ने दर्शन मात्र का आत्म-संप्रत्यय से इतना गहरा सम्बन्ध स्वीकार न भी किया हो, तो भी इतना तो माना ही है कि भारतीय दर्शन अध्यात्मोन्मुख अतएव मोक्ष-प्रधान ही रहा है।[८] तो भी इस विषय पर ऐकमत्य नहीं है। कुछ सजग विचारशील भारतीय दार्शनिकों ने ही भारतीय दर्शन और मोक्ष के बीच माने गये अटूट सम्बन्ध पर कड़ा प्रहार किया है और सम्यक् विवेचन के आधार पर यह दावा किया है कि वस्तुतः मोक्ष और भारतीय दर्शनों में कोई गहरा सम्बन्ध नहीं है। बहुत-से दर्शन-सम्प्रदायों में मोक्ष को कोई स्थान नहीं और बहुत-से अन्यों में यदि कोई है तो नगण्य या गौण ही है, प्रमुख नहीं है।[९] अतः इस प्रश्न पर गहन समीक्षात्मक विचार की आवश्यकता है और यह विवेचन भी अपनी संस्कृति और समाज को सम्यग्रूपेण समझने की चेष्टा में एक रुचिकर एवं उपयोगी भूमिका निभायेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तु, इस विवेचन का निष्कर्ष जो भी हो, इसमें तो शायद ही दो मत हों कि मोक्ष का कुछ स्थान तो हमारे जीवन-दर्शन और संस्कृति में अवश्य ही रहा है और है। अतः इस मत पर कि यह नकारात्मक जीवन-दर्शन है, संक्षेप में टिप्पणी दे देना उचित होगा।

मेरा निवेदन है कि इस मोक्ष-प्रमुख दर्शन (जीवन-दर्शन) के विषय में इस प्रकार का मत भ्रममूलक ही है। काम और अर्थ को वैध, अर्ज्य मूल्य मानकर मानव की इहलौकिक सुख-भोग की कामनाओं और आकांक्षाओं को उचित सम्मान ही दिया गया, उन्हें वर्जित नहीं घोषित किया गया। गृहस्थाश्रम को एक महत्त्वपूर्ण स्थान देकर धर्मानुसार लोक-साधन के लिए कर्मठ, कर्त्तव्यशील, उत्साह, प्रेरणा-युक्त जीवन बिताना उचित बताया गया। स्मृतियों ने तो गृहस्थ को दूसरे आश्रमों से अधिक महिमावान् ही बताया। उपनिषद् ने कुर्वन्नेवेहकर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः का उपदेश किया। बहुत पहले ही गीता ने श्रमण-प्रधान कर्म-त्यागी मोक्ष-साधन को गौण बतलाया। कर्म-त्याग, सन्यास, जीवन्मुक्ति की भली-भाँति समीक्षा करके आलस्य और प्रमाद को त्याग, धृति, उत्साह-सहित, सेवा और लोक-संग्रह-हित कर्म करके ही मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर होना उचित और श्रेष्ठ बताया। वस्तुतः यह बात द्रष्टव्य है कि उत्साह और तत्परता से कर्त्तव्य-कर्मों को भली-भाँति सम्पादित कर चित्त-शुद्धि प्राप्त करना मोक्ष-साधना के लिए आवश्यक ही माना गया है। सन्यास-प्रधान अद्वैत में भी परम ज्ञान का अधिकार एक साधारण मुमूक्षु को कर्मठ, उद्यमशील जीवन व्यतीत करने के उपरान्त ही प्राप्त होता है। मोक्ष-मार्ग पर अधपके वासना और लालसा-पीड़ित मन से अग्रसर नहीं हुआ जा सकता बल्कि भोगोपरान्त वैराग्य के जाग्रत होने पर ही मानव सच्ची निष्ठा से इस पथ का अनुसरण कर सकता है। अतः एक कर्मठ, उद्यमशील, प्रेरणामय, सफल जीवन के लक्ष्य के रूप में ही मोक्ष की अभीप्सा की गई है। भोग के जीवन के ज्ञान के बिना उसका अतिक्रमण सम्भव नहीं है, उससे तो भ्रांति होने की सम्भावना ही रहती है। इस बात को दृष्टि से ओझल करके ही हम इस आदर्श को जीवन-घाती और पलायनवादी कह सकते हैं।

किन्तु यदि आपत्ति यह है कि भारतीय संस्कृति ने भोग और वासना के जीवन को अपने-आप में साध्य नहीं माना तो बात दूसरी है और उसके बारे में मुझे कुछ नहीं कहना है। केवल अर्थ, काम को ही सर्वोच्च मूल्य ठहराने वाला दर्शन मानव के लिए सम्पूर्ण और सर्वप्रकारेण शान्ति, सन्तोष, आनन्ददायक नहीं हो सकता। वासनाओं की पूर्ति करते-करते सांसारिक जीवन में खोये मनुष्य को उसकी निस्सारता, अपूर्णता अनुभव होने लगती है और स्वार्थपरक, भोग-केन्द्रित, अल्प-तुष्टिदायक, सीमित, मरणांतक, तुच्छ, कुण्ठित जीवन को वह दुःख के ही रूप में देखने लगता है और एक अन्य उदात्त, व्यापक, गहन, चिरसुख, शांति-सम्पन्न भूमा जीवन की ओर अग्रसर होने की उसे प्रेरणा होती है। केवल तभी व्यक्ति सच्चाई और ईमानदारी से निवृत्ति की ओर अग्रसर हो पाता है। किन्तु जब जीवन इस प्रकार के मोड़ पर आ पहुँचता है तब उसे निवृत्ति-प्रधान, आत्म-ज्ञान-जनित परम सुख, शांति के मार्ग की ओर बढ़ने का रास्ता दिखाना ही उसकी नैसर्गिक प्रगति और विकास के अनुकूल है। यदि मानव के जीवन-दर्शन में इस अवस्था के लिए कोई आदर्श नहीं है तो वह दर्शन अधूरा, अपूर्ण और अपर्याप्त ही कहा जायगा। और आदर्श की संकीर्णता के कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन में अस्वाभाविक गतिरोध और कुण्ठा आ जायेगी।

दूसरी ओर मोक्ष-साधना में रत जीवन एक प्रकार के उत्साह, स्फूर्ति और लक्ष्य से कृतकृत्य हो जाता है। निःस्वार्थभाव से लोक-सेवा और लोक-हित कार्य करता, आत्म-ज्ञान के मार्ग पर अग्रसर होता व्यक्ति अपने चारों तरफ सत्यं, शिवं और सुन्दरं का ही प्रसार करता है।[१०] आत्म को अनात्म से पृथक् देख, आत्म में सदा प्रतिष्ठित मुनि दुःख, बाधा, कुण्ठा, तृष्णा, आर्ति, क्रोध, विद्वेष, मत्सर से सदा के लिए मुक्त हो जाता है और उसके जीवन से सब प्राणियों के प्रति अहैतुकी मैत्री, प्रेम और करुणा की सरस सरिता बह निकलती है। आत्माराम, अपने में स्थित, पूर्णतया निष्काम, सर्वतः शान्ति और आनन्द से परिपूर्ण ऐसे महात्मा का जीवन सबके लिए मङ्गलमय वरदान बन जाता है। दुःख, भय, कायरता, अल्पता के स्थान पर मुक्ति जीवन को आत्यंतिक शान्ति, अगाध आनन्द, अविचलित निर्भयता और अनन्तता से परिपूर्ण कर देती है। जिसने इस आदर्श को व्यवहार में उतार लिया उसका जीवन उदात्त, निर्मल, दिव्य, परितः परिपूर्ण, अक्षय सुख शान्तिपूर्ण हो गया।

अतः मेरा निवेदन है कि ऐसे आदर्श को नकारात्मक, जीवनघाती, पलायनवादी अतः त्याज्य कहना कदाचित् भारतीय संस्कृति के सतही अध्ययन-जनित एक निराधार महा भ्रांति का प्रतिपादन ही कहा जा सकता है।

आई० आई० टी०, कानपुर

टिप्पणियाँ

१. इस विषय में द्रष्टव्य श्री यशदेव शल्य : "भारत संक्रांति में, सन्दर्भ : दार्शनिक परिस्थिति", दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष २०, अंक २, अप्रैल १९७४, पृ० ९३–१००।

२. अपवाद के रूप में श्री यशदेव शल्य, श्री के. जे. शाह, श्री देवराज, श्री ह. ला. माहेश्वरी, श्री राजेन्द्र पांडेय इत्यादि इने-गिने दार्शनिकों का नाम लिया जाता है।

३. श्री विश्वनाथ भट्टाचार्य : "आवश्यकता है नूतन दृष्टिकोण की", दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष १९, अंक १, जनवरी १९७३, पृ० १–५।

४. उदाहरणस्वरूप : श्री देवराज, श्री के. सच्चिदानन्द मूर्ति, श्री शल्य, श्री माहेश्वरी, श्री द्राविड़। देखिए—दार्शनिक त्रैमासिक में इनके विविध लेख।

५. श्री नारायण शास्त्री द्राविड़ : "भारतीय दार्शनिक परम्परा के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन", दार्शनिक त्रैमासिक वर्ष १९, अंक ३, जुलाई १९७३, पृ० १२७।

६. श्री द्राविड़ : वही, पृ० १३८।

७. वही, पृ० १३९।

८. वही, पृ० १२७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९. "ठीक यह है कि भारत के अनेक दार्शनिकों और दर्शन के अनेक सम्प्रदायों का मोक्ष से कोई सम्बन्ध नहीं है।.....और फिर दूसरे कुछ ऐसे सम्प्रदाय हैं जो मोक्ष से सम्बन्धित हैं किन्तु केवल आंशिक रूप से।" श्री दयाकृष्ण : भारतीय दर्शन के तीन संप्रत्यय — दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष ११. अंक ३, जुलाई १९६५, पृ० १६०।

१०. अतः श्री देवराज ने जिसे ऐतिहासिक निष्ठा कह उसे मोक्ष से भिन्न माना है वह वस्तुतः मोक्ष के आदर्श से भिन्न नहीं है और उसके अन्तर्गत ही आ जाती है। देखिये—उनका "मोक्षवाद बनाम ऐतिहासिक निष्ठा" : दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष १०, अंक ४, अक्तूबर १९६४, पृ० १८२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्याद्वाद के विरोधाभास

संगमलाल पांडेय

स्याद्वाद के दो विरोधाभासों की चर्चा मैं इस निबन्ध में करूँगा जो स्याद्वाद के प्रमाणीकरण के सम्बन्ध में उठते हैं। प्रथम विरोधाभास यह है कि यदि कोई कथन स्यात् विशेषित है तो वह सम्पूर्णतया सत्य कैसे है। जैन दार्शनिक मानते हैं कि 'स्यात् घट है' यह वाक्य स्याद्वाद का उदाहरण है और सम्पूर्णतया सत्य है क्योंकि यह एकान्तवाद को व्यक्त करने वाले नय से भिन्न है और सकलार्थ का विनिश्चायक है। जैनेतर विद्वानों ने 'स्यात्' का तात्पर्य कुछ ऐसा लगाया जिससे 'स्यात्' का अर्थ सन्देहजनकता से सम्बन्धित है। अतः उनके अनुसार प्रथम विरोधाभास का रूप यही होगा कि यदि स्याद्वाद सन्देहास्पद है तो वह सत्यता-प्रतिपादक कैसे हुआ ? इस विरोधाभास को दूर करने के लिये जैन तर्कविदों ने स्यात् शब्द की व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि स्यात् एक निपात है जिसका अर्थ कथञ्चित्, किञ्चित्, किञ्चन् होता है। तर्कतः स्याद्वाद का अर्थ अनेक धर्मों को पृथक्-पृथक् निरूपित करने वाले नयों अर्थात् विशिष्ट परामर्शों को श्रुत-मार्ग में प्रवृत्त करना और श्रुत का सम्पूर्ण अर्थ निश्चित करना है।[1] इस प्रकार सिद्धसेन दिवाकर से लेकर यशोविजय तक सभी जैन तर्कविदों ने स्यात् के अर्थ को सन्देह से पृथक् करके निश्चय के अर्थ में प्रयुक्त किया है। निःसन्देह उनके इन प्रयत्नों से जैनेतर विद्वानों द्वारा उत्थापित प्रथम विरोधाभास दूर हो जाता है।

परन्तु स्याद्वाद के बारे में यह विरोधाभास प्रकारान्तर से पुनः लागू हो जाता है। अपने इस पुनर्व्यवस्थित रूप में वह इस प्रकार है—

यदि स्याद्वाद एक धर्म का सम्यक् रूप से विशिष्ट कथन करता है तो वह सम्यक् रूप से सर्व-धर्म का कथन कैसे करता है ? दूसरे शब्दों में, वह एक भाव के परामर्श से सर्वभाव का ज्ञान कैसे कराता है ? स्पष्ट है कि जैनियों के अनुसार स्याद्वाद एकधर्म या एकभाव का परामर्श है और उसका व्यापार सर्वधर्म या सर्वभाव का सम्यक् बोध कराना है। यह कैसे सम्भव है ? मोटे तौर से यहाँ वही समस्या है जिसको पाश्चात्य तर्कशास्त्र में आगमन की छलाँग (इंडक्टिव लीप) कहा जाता है। एक भाव से सर्वभाव की छलाँग कैसे की जाती है ? इस रूप में प्रथम विरोधाभास रखा जा सकता है और उसके समाधान पर विचार किया जा सकता है।

तर्कतः जैन विद्वानों ने इस समस्या का समाधान करने के लिए सर्वप्रथम विकल्प-कल्पना को प्रस्तुत किया। उनके मत से सम्पूर्ण सत्य विकल्प-सापेक्ष है और उसका ज्ञान क्रम से

१. नयो नामेक निष्ठानां प्रवृत्तेः श्रुत वर्त्मनि।
सम्पूर्णार्थ विनिश्चायि स्याद्वादंश्रुतमुच्यते॥ (सिद्धसेन दिवाकर कृत न्यायावतार, ३०)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया जाता है। स्याद्वाद के द्वारा एक-एक अंग का पृथक्-पृथक् ज्ञान प्राप्त करके सम्पूर्णांश का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इस सिद्धान्त को क्रमवाद कहा जाता है। यह सिद्धान्त बताता है कि एकभाव से सर्वभाव का ज्ञान कैसे होता है। यह मत भद्रगणी का है, जिसका प्रतिपादन उन्होंने विशेषावश्यक भाष्य में किया है। परन्तु यह मत तर्कतः समीचीन नहीं है क्योंकि इसके द्वारा स्याद्वाद वास्तव में आगमन-जैसी प्रक्रिया नहीं हो पाता, वह पूर्ण गणनामूलक आगमन (इडक्शन बाई पर्फेक्ट इन्यूमरेशन) हो जाता है जिसे वास्तव में आगमन कहा ही नही जा सकता। अतः इस मत के विरोध में जैन विद्वानों ने युगपद्वाद या सहवाद को विकसित किया जिसके अनुसार चेतना किसी वस्तु के विशेष और सामान्य अंशों का ज्ञान एक-साथ ही प्राप्त कर सकती है। इस सिद्धान्त के अनुसार जिस समय एक भाव का ज्ञान होता है उसी समय सर्वभाव का भी ज्ञान हो सकता है। स्याद्वाद सकलादेश है। उसके द्वारा समग्र वस्तु का ज्ञान हो सकता है। ऐसा क्यों होता है और कैसे होता है? इसकी व्याख्या करते हुए परन्तु युगपद्वाद से भिन्न सिद्धसेन दिवाकर ने अभेदवाद को प्रस्तावित किया है। उनके अनुसार एकभाव और सर्वभाव में अभेद का सम्बन्ध है जिसके आधार पर एकभाव के ज्ञान से सर्वभाव का ज्ञान हो जाता है। यह समाधान वैसा ही है जैसा पाश्चात्य तर्कशास्त्री जोसेफ ने आगमन की समस्या को हल करने के लिए दिया है। परन्तु जैसे जोसेफ का समाधान अनुभवमूलक ज्ञान पर आधारित न होकर प्रागनुभविक ज्ञान पर अवलम्बित है वैसे ही सिद्धसेन दिवाकार का भी अभेदवाद स्याद्वाद का विरोधी बन जाता है क्योंकि वह सिद्धान्ततः उस अनेकान्तवाद के मूल पर ही प्रहार कर देता है जो स्याद्वाद का नियामक है। अतः इस समाधान को उचित नहीं कहा जा सकता। वास्तव में युगपद्भाव ही इस प्रसंग में क्रमवाद और अभेदवाद से युक्ततर प्रतीत होता है और उस परामर्श विधि को लक्षित करता है जिसे जैन विद्वानों ने नैगम नय कहा है। नैगम नय के द्वारा अंश और अंशी दोनों का ज्ञान होता है। इसी नय के द्वारा एकभाव और सर्वभाव का ज्ञान होता है। परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि नैगम नय क्या है और क्या किसी प्रक्रिया का नामकरण कर देने से तत्सम्बन्धित समस्या का हल हो जाता है? क्या एकभाव से सर्वभाव को जानने की प्रक्रिया का नाम नैगम नय रख देने से उस समस्या का हल हो जाता है जिसकी चर्चा हम यहाँ कर रहे हैं?

यह उल्लेखनीय है कि अभेदवादी सिद्धसेन दिवाकर नैगम नय को नहीं मानते हैं। फिर नैगम नय के स्वरूप पर भी ऐक्यमत नहीं है। कोई मानता है कि नैगमनय निगमभव है अर्थात् श्रुत से उत्पन्न है और इस कारण अंश और अंशी दोनों का ज्ञान करा देता है। परन्तु अन्य आचार्य इस मत को नहीं मानते हैं और कहते हैं कि नैगमनय एक का ज्ञान नहीं कराता है, अर्थात् अंश और अंशी या धर्म और धर्मी दोनों में से वह एक का ही ज्ञान कराता है, दोनों का नहीं। अतः दोनों का ज्ञान एक साथ कैसे सम्भव है? इस प्रश्न का कोई समीचीन समाधान स्याद्वाद दर्शन में नहीं है और जो है भी वह स्याद्वाद से असंगत प्रतीत होता है। आगम-प्रमाण या शब्द-प्रमाण के द्वारा एकभाव और सर्वभाव का ज्ञान प्राप्त होना भी कभी-कभी जैन ग्रन्थों में निर्दिष्ट किया हुआ मिलता है। परन्तु यह ज्ञानात्मक श्रुत है और उस वचनात्मक श्रुत से भिन्न है जिसको मतिपूर्वक कहा जाता है। स्याद्वाद वचनात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुत है अतः स्याद्वाद के द्वारा एक भाव से सर्वभाव को जानना असम्भव है। इस रूप में प्रथम विरोधाभास अब भी जैन दर्शन के लिए एक समस्या या चुनौती है।

फिर स्याद्वाद के सम्बन्ध में दूसरा प्रश्न उठता है कि जब एक वाक्य सत्य है तो उसी के उद्देश्य और विधेय को लेकर अन्य छः वाक्य कैसे सत्य हो सकते हैं? उदाहरण के लिए जब 'स्यात् घट लोहित है' यह वाक्य सत्य है तो निम्न छः वाक्य कैसे सत्य हैं?—

१. स्यात् घट लोहित नहीं है।
२. स्यात् घट लोहित है या लोहित नहीं है।
३. स्यात् घट लोहित है और लोहित नहीं है, अवक्तव्य है।
४. स्यात् घट लोहित है या अवक्तव्य है।
५. स्यात् घट लोहित नहीं है या अवक्तव्य है।
६. स्यात् घट लोहित है या लोहित नहीं है या अवक्तव्य है।[२]

पहले वाक्य से दूसरे वाक्य का विरोधाभास स्पष्ट है। अन्य पाँच वाक्यों का कुछ विरोधाभास पहले वाक्य से लगता है। अतएव इन सातों वाक्यों की सत्यता एक साथ कैसे सम्भव है? जैनियों का यह कहना कि इन सातों वाक्यों के उत्पत्ति-निमित्त और प्रवृत्ति-निमित्त भिन्न भिन्न हैं, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है परन्तु तर्क-दृष्टि से वह निःसार है, क्योंकि इन सातों परामर्शों की सत्यता का ज्ञान भले ही क्रम से हुआ हो और विभिन्न परिस्थितियों में हुआ हो, परन्तु जब यह स्थिर हो गया कि ये सभी प्रत्येक सत्य हैं तो इनकी सत्यता का प्रमाणीकरण तर्क का विषय बन जाता है, अतएव प्रश्न है कि ये सातों परामर्श क्यों और कैसे सत्य हैं? इस प्रकार स्याद्वाद का द्वितीय विरोधाभास प्रकट होता है जो हमारे विवेचन का विषय है।

इस प्रश्न के समाधान में हम निम्नलिखित वादों का विचार करेंगे—

१. सुनयवाद
२. प्रायिकतावाद
३. स्यात् की व्याख्या से सम्बन्धित वाद या द्विमूल्यीय तर्कशास्त्र का सिद्धान्त
४. त्रिमूल्यीय तर्कशास्त्र का सिद्धान्त

१. सुनयवाद—जैन विद्वानों के अनुसार जब कोई नय अन्य नयों की सत्यता-असत्यता के प्रति उदासीन रहता है और केवल किसी अपेक्षाभाव के सन्दर्भ में अपनी सत्यता का प्रतिपादन करता है तो वह सुनय है। जब नय को ही सुनय रूप में जैन लेते हैं तो कैमुतिक न्याय से सिद्ध है कि स्याद्वाद अर्थात् प्रमाण नय को भी वे सुनय ही समझते हैं। अतः सुनयवाद के अनुसार उपर्युक्त प्रमाण – सप्तभंगी के परामर्श एक-दूसरे से उदासीन हैं और किसी अपेक्षा से सत्य हैं। इस प्रकार इन वाक्यों में सत्यता फलनात्मक

२ यहाँ सप्तभंगी नय के विकल्पों की व्याख्या विद्यानन्द और अनन्तवीर्य के अनुसार की गयी है जो अवक्तव्य को युगपद् विधिकल्पना और प्रतिषेध कल्पना मानते हैं तथा 'और' का अर्थ 'तथा/या" के रूप में करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ट्रुथ-फंक्शनल) सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक वाक्य स्वतः सत्य है और वह एक स्वतः सत्य वर्णन (इंट्रिंसिक डिस्क्रिप्शन) है।

परन्तु यह मत समीचीन नहीं है क्योंकि विकल्प को सत्यता–फलनात्मक स्वयं जैन मानते हैं और वे मूल नय तथा समुच्चित नय का भेद करते हैं। स्पष्ट है कि समुच्चित नय का सम्बन्ध मूल नयों से सत्यता-फलनात्मक है। फिर यदि प्रत्येक वाक्य को सुनय के अनुसार सत्यांश या सापेक्ष सत्य माना जाय तो उनकी सत्यता में तारतम्य या समकक्षता का सम्बन्ध मानना पड़ेगा। प्रत्येक दशा में उनमें पारस्परिक सत्यता-फलनात्मक सम्बन्ध होगा। सुनयवाद इसकी व्याख्या नहीं कर सकता अतएव वह समीचीन नहीं है।

२. **प्रायिकतावाद**—अकलंक और विद्यानन्द ने प्रत्येक वाक्य की सत्यता को प्रायिक स्थिति बतलाया है जिसका उचित विवेचन प्रो० महेन्द्रकुमार जैन ने आधुनिक सूझ-बूझ के अनुसार किया है।[3]

विद्यानन्द ने उसकी सत्यता को प्रायशः संकीर्ण प्रामाण्याप्रामाण्य स्थिति कहा है जिसका ठीक अनुवाद प्रो० महेन्द्रकुमार जैन ने प्रायिक स्थिति किया है। उसको प्रायिकता, सत्यप्रायता या प्रसंभाव्यता (प्राबेबिलिटी) कहना चाहूँगा और प्रमाण सप्तभंगी के वाक्यों की सत्यताओं में प्रसम्भाव्यता-तर्कशास्त्र के अनुसार सम्बन्ध बैठाना चाहूँगा। इस प्रकार प्रथम वाक्य और अन्य वाक्यों की प्रसम्भाव्यता का निर्धारण शून्य और एक के बीच की गिनतियों में किया जा सकता है। उदाहरणार्थ यदि 'स्यात् घट लोहित है' की प्रसम्भाव्यता चार मूल रंगों के अनुसार $\frac{1}{4}$ है तो 'स्यात् घट लोहित नहीं है' इसकी भी सम्भावना $1 - \frac{1}{4} = \frac{3}{4}$ है। ऐसे ही शेष वाक्यों की कुछ न कुछ प्रसम्भाव्यता है। परन्तु इस प्रकार प्रभाव-सप्तभंगी की व्याख्या करना दोषरहित नहीं प्रतीत होता है क्योंकि, प्रथमतः, प्रत्येक वाक्य की प्रसम्भाव्यता का निर्धारण करना कठिन है, द्वितीयतः, सातों वाक्यों की सत्यता में न्यूनाधिक्य का सम्बन्ध होगा जो जैन तर्कशास्त्र के अनुसार अमान्य होगा; तृतीयतः, इस प्रकार का प्रसम्भाव्यतामूलक सत्य का सम्बन्ध वास्तव में सिद्ध करता है कि सातों वाक्यों में सत्यता-फलनात्मक सम्बन्ध नहीं है और यह, जैसाकि ऊपर कहा गया है, समीचीन नहीं है।

३. **द्विमूल्यीय तर्कशास्त्र**—जैन तर्कशास्त्र की व्याख्या द्विमूल्यीय तर्कशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार की जा सकती है। परन्तु इसके लिए सबसे पहले स्यात् निपात की युगीन व्याख्या अपेक्षित है। स्यात् की जो व्याख्या जैन तर्क विद् देते हैं उससे प्रकट होता है कि वहाँ एक अस्तित्व वाचक परिमाणक (एग्ज़िस्टेंश्यल क्वांटीफायर) है। इस प्रकार 'स्यात् घट लोहित है' यह बराबर है—

$(\exists x)\ [\ P_x \cdot L_x\ ]$ अर्थात् एक अर्थ है जिसमें एक घड़ा (P) है और वह लोहित (L) है। प्राचीन तर्कशास्त्र के अनुसार प्रथम वाक्य आई (I) तर्क वाक्य हुआ, अर्थात् वह विशिष्ट गुणवाचक तर्कवाक्य है। चूँकि नय को जैन विशेष या अंशव्यापी मानते हैं

३. देखिये—सिद्धिविनिश्चय टीका, सम्पादक प्रो० महेन्द्रकुमार जैन, प्रस्तावना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए कैमुतिक न्याय से सिद्ध है कि स्याद्वाद या प्रमाणनय भी विशेष है, अतएव स्यात् को अस्तित्ववाचक परिमाणक मानना सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है।

अब द्वितीय वाक्य को 'ओ' (O) तर्कवाक्य के रूप में लिया जा सकता है। 'आई' और 'ओ' तर्कवाक्यों में उपाश्रय सम्बन्ध है जिसके अनुसार दोनों एक-साथ सत्य हो सकते हैं यद्यपि दोनों एक-साथ असत्य नहीं हो सकते। इस प्रकार यदि 'कुछ गायें शुक्ल हैं' सत्य है तो 'कुछ गायें शुक्ल नहीं हैं' यह भी सत्य हो सकता है और है भी।

इस प्रकार प्रमाण सप्तभंगी के प्रथम दोनों वाक्य सत्य दिखलाये जा सकते हैं। तीसरा वाक्य इन्हीं दोनों वाक्यों का क्रम से कथन है अतएव वह भी सत्य है। चौथा वाक्य प्रथम और द्वितीय का युगपद् भाव है जो कुछ परिस्थितियों में सत्य है, जैसे 'कुछ गायें शुक्ल हैं' और 'कुछ गायें शुक्ल नहीं हैं' ये दोनों वाक्य एक-साथ सत्य हैं। आई (I) तर्कवाक्य और 'ओ' (O) तर्कवाक्य एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं, इसलिए कुछ परिस्थितियों में दोनों का एक-साथ अभिधान करना सत्य है। पंचम, षष्ठ और सप्तम वाक्य चतुर्थ वाक्य के साथ क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय वाक्य का क्रमसमुच्चय हैं अतएव ये वाक्य भी सत्य हैं। इस प्रकार प्राचीन आकारिक तर्कशास्त्र या अस्तित्ववाचक परिणामक का प्रयोग करने वाले वाक्यीय फलनों के तर्कशास्त्र द्वारा प्रमाण सप्तभंगी की व्याख्या की जा सकती है। परन्तु यह व्याख्या भी जैन दर्शन के अनुसार उपयुक्त प्रतीत नहीं होती है। इसमें निम्नलिखित दोष हैं—

१—इसके अनुसार अवक्तव्य की व्याख्या नहीं हो पाती है। अवक्तव्य का अङ्ग बतलाता है कि वास्तव में विधि-कल्पना और प्रतिषेध-कल्पना का युगपद्-भाव एक विरोध है जिसे यह भङ्ग दूर करता है। स्याद्वाद को विरोधध्वंसक कहा गया है।[४] स्याद्वाद की व्याख्या उस तर्कशास्त्र के अनुसार की जानी चाहिए जिसमें द्विमूल्यीय तर्कशास्त्र का बाध नियम ग़लत हो जाता है।

२—यह व्याख्या वास्तव में प्रथम वाक्य की सत्यता के आधार पर द्वितीय वाक्य की सत्यता का निश्चयपूर्वक निर्णय नहीं करती है। यदि प्रथम वाक्य सत्य है तो द्वितीय वाक्य कुछ परिस्थितियों में सत्य और कुछ परिस्थितियों में असत्य भी हो सकता है। उदाहरणार्थ 'कुछ कव्वे काले हैं' यह सत्य है और 'कुछ कव्वे काले नहीं हैं' यह सत्य नहीं है। स्याद्वाद ऐसी परिस्थिति में किये गये 'आई' (I) और 'ओ' (O) तर्क वाक्यों को भी सत्य मानता है। अतः अरस्तू के तर्कशास्त्र या प्राचीन आकारिक तर्कशास्त्र के द्वारा स्याद्वाद की व्याख्या नहीं की जा सकती। आधुनिक द्विमूल्यीय तर्कशास्त्र भी जो अस्तित्व वाचक परिमाणक को लेकर चलता है, स्याद्वाद की व्याख्या नहीं कर सकता।

३. जैन दर्शन की समस्या केवल यही नहीं है कि स्याद्वाद कैसे प्रमाणित किया जाय प्रत्युत यह है कि स्याद्वाद और नयवाद दोनों कैसे प्रमाणित किये जांय ? स्याद्वाद की प्रस्तुत व्याख्या नयवाद का प्रमाणीकरण नहीं करती है। अतएव वह जैन स्याद्वाद का

४. देखिये—द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नय चक्र, लेखक मायिल्य धवल, सम्पादक पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री में उद्धृत, श्लोक [illegible] पृ० १२७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधार नहीं बन सकती।

४. अन्त में त्रिमूल्यीय तर्कशास्त्र आता है। मेरे विचार से वह जैन दर्शन का आधार बन सकता है क्योंकि यह भी जैन दर्शन की भाँति प्रमाण नय, नय और दुर्नय को क्रमशः कम सत्यता से सम्पन्न मानता है और जैसे जैन तर्कशास्त्र निर्मध्य नियम और बाध नियम का खण्डन करता है, त्रिमूल्यीय तर्कशास्त्र भी खण्डन करता है। मैं लुकासी विज़ के त्रिमूल्यीय तर्कशास्त्र और जैन तर्कशास्त्र की पहले तुलना करूँगा और फिर दिखलाऊँगा कि लुकासी विज़ का त्रिमूल्यीय तर्कशास्त्र जैन स्याद्वाद का आधार बन सकता है और उसके द्वारा नयवाद और स्याद्वाद दोनों का प्रमाणीकरण किया जा सकता है।

१. प्रमाण नय सत्य है और दुर्नय असत्य है। नय असत्य और सत्य के बीच में है। यदि प्रमाण नय की सत्यता १ है तो दुर्नय की सत्यता ० है और नय की सत्यता $\frac{1}{2}$ है ऐसा जैन दर्शन से अभ्युपगमित होता है। लुकासी विज़ इस अभ्युपगम को मानता है। दोनों सत्यता और असत्यता के अतिरिक्त एक तृतीय मूल्य को मानते हैं जिसे अवक्तव्यता या अनिरूप्यता या अनभिलाप्यता कहा जाता है।

२ क अथवा अ-क, इस व्यञ्जक में यदि 'क' का सत्यता-मूल्य अनभिलाप्य इंडिटर्मिनेट है तो 'अ-क' का भी मूल्य अनभिलाप्य है। अतएव लुकासी विज़ और जैन दर्शन दोनों में 'क' अथवा 'अ-क' का सत्यता मूल्य सत्य नहीं वरन् अनभिलाप्य है। परन्तु द्विमूल्यीय तर्कशास्त्र के अनुसार यह व्यञ्जक निर्मध्य नियम का प्ररूपक है और सर्वथा सत्य है। जैन दर्शन और लुकासी विज़ दोनों इसका खण्डन करते हैं।

३. 'क' और 'अ-क' यह व्यञ्जक द्विमूल्यीय तर्कशास्त्र के अनुसार सर्वथा असत्य है; परन्तु जैन दर्शन और लुकासी विज़ के अनुसार यह अनभिलाप्य है। अतएव दोनों बाध नियम का खण्डन करते हैं और एक तर्कविधि प्रस्तुत करते हैं जिससे बाध नियम अस्वीकृत या तिरस्कृत हो जाता है।

४. अनभिलाप्यता का मूल प्रतिषेध नियम से भी अनुशासित नहीं है जैसे—सत्यता का निषेध असत्यता है वैसे अनभिलाप्यता का निषेध अभिलाप्यता नहीं वरन् अनभिलाप्यता ही है। फिर जैन दर्शन लुकासी विज़ की तरह ही द्विधा निषेध नियम लॉ ऑफ डबल निगेशन को भी नहीं मानता है और इसी कारण वह बौद्धों के अन्यापोह का खण्डन करता है। बौद्धों का अपोहवाद द्विधा निषेध नियम पर आधारित है और कहता है कि 'गो' का अर्थ 'अगो' नहीं है अर्थात् गो=न=अगो। इस अपोहवाद का खण्डन जैन दर्शन की एक मौलिक विशेषता है जो निर्दिष्ट करती है कि जैन दर्शन द्विधा निषेध का खण्डन करता है।

इन समानताओं के कारण जैन तर्कशास्त्र का तार्किक सम्बन्ध लुकासी विज़ के त्रिमूल्यीय तर्कशास्त्र से है।

यदि हम विकल्प की सत्यता-सारिणी को लुकासी विज़ के तर्कशास्त्र से लें तो वह निम्न प्रकार की होगी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारिणी–१

क	~क
स	अ
अन	अन्
अ	स

ख/क	क V ख
	स अन अ
स	स स स
अन्	स अन् अन्
अ	स अन् अ

जबकि (१) क और ख तर्कवाक्य हैं।

(२) ~ निषेध का प्रतीक है।

(३) V विकल्प का प्रतीक है।

(४) स=सत्यता

(५) अन्=अनभिलाप्यता

(६) अ=असत्यता

इस सारिणी के अनुसार 'क' और 'ख' के नौ विकल्प हैं। इन नौ विकल्पों में से केवल वही विकल्प असत्य हैं जिनमें 'क' और 'ख' दोनों असत्य हैं। शेष सभी विकल्प या तो सत्य हैं या अनभिलाप्य हैं और विकल्प का नियम यह मानता है कि उसका सत्यता-मूल्य उसके अवयवों की अधिकतम सत्यता है। इस सारिणी के अनुसार यदि हम स्याद्वाद की परीक्षा करें तो पहले हमें सातों वाक्यों को प्रतीकों में रखना चाहिए। मान लीजिए पहला वाक्य 'क' है तो दूसरा वाक्य ~क हुआ। तीसरा वाक्य क V~क हुआ। चौथा वाक्य क V~क हुआ जबकि ∧ युगपद्भाव का प्रतीक है। इसी प्रकार—

पांचवाँ वाक्य क V (कV~क)

छठा वाक्य V~क(कV~क)

सातवाँ वाक्य (कV~क)V(क∧~क) है।

इन सभी वाक्यों में से किसी को भी असत्य नहीं साबित किया जा सकता। इनके प्रमाणीकरण में युगपद्भाव की भी सारिणी निहित है जो यों है—

सारिणी–२

क	~ख
स	स
अन्	अन्
अ	स

ख/क	क V ख
	स अन् अ
स	स अन् अ
अन्	अन् अन् अ
अ	अ अ अ

जबकि (१) ∧ समुच्चय या युगपद्भाव प्रतीक है और शेष प्रतीक प्रथम सारिणी के ही अनुसार है। स्पष्ट है कि युगपद्भाव का नियम बताता है कि उसकी सत्यता का मूल्य उसके अवयवों की न्युनतम सत्यता है।

अब हम स्याद्वाद का प्रमाणीकरण उपर्युक्त दोनों सारिणियों के आधार पर कर सकते हैं और देख सकते हैं कि सप्तभंगी का कोई भी भंग असत्य नहीं है। वह सत्य है या अनभिलाप्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्याद्वाद की यह व्याख्या भी स्याद्वादी है क्योंकि संपूर्ण सत्यता इस व्याख्या में भी नहीं प्रतीत होती है। यदि हम क को अनभिलाप्यता-मूल्य प्रदान करें तो प्रत्येक भंग की समुचित व्याख्या हो जाती है। किन्तु यदि हम क को सत्यता मूल्य प्रदान करें तो ~क अर्थात् द्वितीय यंत्र असत्य सिद्ध हो जाता है। अतः लगता है कि स्याद्वाद का प्रमाणीकरण अनभिलाप्यता तर्कशास्त्र के आधार पर ही हो सकता है। सत्यता का प्ररूपक कोई वाक्य नहीं है, क्योंकि वह सत्यता केवल ज्ञान से लभ्य है और केवल ज्ञान स्याद्वाद का विषय नहीं है। अतः अनभिलाप्यता तर्कशास्त्र स्याद्वाद की सही व्याख्या करता है और स्याद्वाद की व्याख्या का उद्देश्य सम्पूर्ण सत्यता के प्रति व्यापक ज्ञान की व्याख्या नहीं है। परन्तु प्रश्न है कि लुकासी विज़ के तर्कशास्त्र में तो साधारण वाक्यों की भी सत्यता का प्रतिपादन होता है और स्याद्वाद में वैसा कोई वाक्य ही नहीं है तो फिर लुकासी विज़ के तर्कशास्त्र से जैन तर्कशास्त्र की समकक्षता कहाँ हुई ? यह प्रश्न कुछ हद तक समीचीन भी है क्योंकि जैन तर्कशास्त्र निषेध को सत्यता-फलनात्मक सम्बन्ध नहीं मानता है जबकि लुकासी विज़ का तर्कशास्त्र ऐसा मानता है। अतः दोनों में कुछ अन्तर भी है और इस अन्तर के कारण क तथा ~क दोनों जैन तर्कशास्त्र में किन्हीं परिस्थितियों में सत्य भी हो सकते हैं। परन्तु फिर भी अभी तक हमने जितनी व्याख्याओं का विचार किया है उनमें लुकासी विज़ का तर्कशास्त्र ही जैन तर्कशास्त्र के अधिक सन्निकट है। यदि इससे भी समीपतर कोई अन्य तर्कशास्त्र है तो तर्कविदों को उसकी खोज करनी चाहिए।

प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या वर्तमान युग में मोक्ष की अवधारणा उपादेय है ?

वेदप्रकाश वर्मा

भारतीय दर्शन में मानव-जीवन के लिए अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ स्वीकार किये गए हैं। इन चार पुरुषार्थों के अन्तर्गत वे सभी मूल्य सम्मिलित किये जा सकते हैं जो मनुष्य के आनन्दमय जीवन तथा उसके सामाजिक विकास और उत्थान के लिए अनिवार्य हैं। वर्तमान युग में अर्थ और काम की महत्ता एवं उपादेयता निर्विवाद ही प्रतीत होती है। यही नहीं, यदि इस युग को 'अर्थ-काम प्रधान युग' कहा जाय तो सम्भवतः अनुचित न होगा। इसी प्रकार 'स्वकर्तव्य-पालन' के अर्थ में धर्म की महत्ता और उपादेयता को भी वर्तमान युग में व्यक्ति तथा समाज के कल्याण के लिए स्वीकार करना अनिवार्य प्रतीत होता है। सम्भवतः कोई भी विचारक इस व्यापक अर्थ में धर्म के महत्त्व का निषेध नहीं करेगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि अर्थ, काम और धर्म ये तीन पुरुषार्थ वर्तमान युग में भी उतने ही महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय हैं जितने वे उस प्राचीन काल में थे जब भारतीय मनीषियों ने मानव-जीवन के लिए इनका प्रतिपादन किया था। परन्तु निश्चयपूर्वक यह कहना कठिन प्रतीत होता है कि आधुनिक युग में मोक्ष की भी उतनी ही सार्थकता एवं उपादेयता है जितनी प्राचीन काल में समझी जाती थी।[1] वस्तुतः जिस रूप में भारतीय दार्शनिकों ने मोक्ष का प्रतिपादन किया है उस रूप में आज मनुष्य के लिए इस पुरुषार्थ की सार्थकता और उपादेयता संदिग्ध ही प्रतीत होती है। हाँ, यदि वर्तमान युग की आवश्यकताओं के अनुरूप मोक्ष की कोई नयी व्याख्या की जाय तो सम्भवतः आधुनिक मनुष्य के जीवन के लिए इसकी उपादेयता को कुछ सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है। इस लेख का मुख्य उद्देश्य मोक्ष के परम्परागत स्वरूप की प्रमुख कठिनाई को स्पष्ट करते हुए किसी ऐसी व्याख्या पर विचार करना है जिसके आधार पर वर्तमान युग के सन्दर्भ में मानव-जीवन के लिए इसकी उपादेयता का निर्णय किया जा सके। परन्तु वर्तमान काल में मोक्ष की उपादेयता के विषय में कुछ कहने से पूर्व इसके परम्परागत स्वरूप को भली-भाँति स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

पूर्णतः भौतिकवादी चार्वाक दर्शन को छोड़कर सभी भारतीय दर्शन मोक्ष को ही मानव-जीवन का अन्तिम ध्येय मानते हैं। अन्य तीन पुरुषार्थ प्रायः मोक्ष-प्राप्ति के साधन माने गए हैं। यद्यपि भारतीय दर्शनों में मोक्ष के स्वरूप तथा मुक्तात्मा की स्थिति के विषय में मतभेद हैं, फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि अधिकतर भारतीय दार्शनिकों ने मोक्ष का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वह हमारे अनुभवमूलक लौकिक जीवन का निषेध करता है।

१. प्रस्तुत सन्दर्भ में 'मोक्ष' से मेरा तात्पर्य 'विदेह मुक्ति' से है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दर्शनों का मत है कि अविद्या, अविवेक अथवा अज्ञान के कारण ही आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को विस्मृत करके शरीर, इन्द्रियों तथा सांसारिक पदार्थों में लिप्त हो जाता है और यही उसके बन्धन का मूल कारण है। विभिन्न दर्शनों ने 'अविद्या', 'अज्ञान' या 'अविवेक' की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की है, किन्तु वे सभी अन्ततः इसे ही सांसारिक बन्धनों में आत्मा के लिप्त होने का मूल कारण मानते हैं। इसका अर्थ यही है कि जब तक मनुष्य वास्तविक ज्ञान के फलस्वरूप अपने शरीर तथा समस्त सांसारिक अनुभवों से पूर्णतः मुक्त न हो तब तक वह मोक्ष प्राप्ति नहीं कर सकता। सम्पूर्ण अनुभवों का आमूल निराकरण करने वाले इसी सिद्धान्त के आधार पर अधिकतर भारतीय दर्शनों ने मोक्ष के स्वरूप की व्याख्या की है। उदाहरणार्थ न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग तथा मीमांसा का मत है कि सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार आदि समस्त अनुभवों का आत्यंतिक विनाश हो जाने के पश्चात् ही आत्मा को वास्तविक मोक्ष प्राप्त हो सकता है और वह सभी प्रकार के दुःखों से पूर्णतया मुक्त हो सकता है। न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा तो मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात् आत्मा में चैतन्य का भी निषेध करते हैं, क्योंकि उनके मतानुसार चैतन्य आत्मा का अनिवार्य लक्षण न होकर शरीर एवं इन्द्रियों के साथ सम्पर्क के फलस्वरूप उसमें उत्पन्न होने वाला बाह्य गुण मात्र है। इस सम्बन्ध में सांख्य-योग की स्थिति कुछ विचित्र ही प्रतीत होती है। आत्मा को मूलतः चैतन्यस्वरूप मानने के कारण यद्यपि ये दोनों दर्शन मोक्ष-प्राप्ति के उपरान्त उसमें चैतन्य का निषेध नहीं करते फिर भी वे यह मानते हैं कि मुक्तावस्था प्राप्त कर लेने पर आत्मा में किसी प्रकार का अनुभव शेष नहीं रह जाता। परन्तु चैतन्य और अनुभवों के पारस्परिक अनिवार्य सम्बन्ध को देखते हुए यह समझना कठिन है कि मुक्तावस्था में समस्त अनुभवों से रहित आत्मा चैतन्यस्वरूप किस प्रकार बना रह सकता है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, सांख्य-योग इस गम्भीर समस्या का कोई सन्तोषजनक समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके। ऐसी स्थिति में मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात् आत्मा को चैतन्यस्वरूप मान लेने के कारण सांख्य-योग का मत न्याय, वैशेषिक तथा मीमांसा के मत से अधिक भिन्न प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इन तीनों दर्शनों की भांति सांख्य और योग भी मुक्तावस्था में आत्मा को समस्त अनुभवों से पूर्णतया शून्य ही मानते हैं। इन सभी दर्शनों का मत है कि अनुभवशून्य होने पर ही आत्मा सभी दुःखों से मुक्त हो सकती है।

शंकर के अद्वैत-वेदान्त में मोक्ष का जो स्वरूप प्रस्तुत किया गया है वह भी न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग तथा मीमांसा द्वारा प्रस्तुत मोक्ष के स्वरूप के समान ही मूलतः निषेधात्मक ही है। शंकर निर्गुण तथा निराकार ब्रह्म को ही एकमात्र पारमार्थिक सत्ता मानते हैं, अतः उनके मतानुसार आत्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अविद्या के कारण ही वह सांसारिक बन्धनों में आसक्त होकर अपने आपको ब्रह्म से भिन्न समझ लेता है। इस अविद्या के नष्ट होने पर जब आत्मा ब्रह्म के साथ पूर्णतः एकाकार हो जाता है तभी उसे मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार शंकर के मतानुसार ब्रह्म के साथ आत्मा का पूर्ण तादात्म्य ही उसकी मुक्तावस्था है। यह सत्य है कि सांख्य-योग की भांति आत्मा को स्वभावतः चैतन्य-स्वरूप मानने के कारण वे मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात् उसमें चैतन्य का निषेध नहीं करते और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म के साथ आत्मा के पूर्ण तादात्म्य के फलस्वरूप उसकी मुक्तावस्था को आनन्दमयी अवस्था मानते हैं, किन्तु आत्मा मोक्ष की यह स्थिति तभी प्राप्त कर सकती है जब वह शरीर तथा सांसारिक पदार्थों से पृथक् होकर समस्त अनुभवों से पूर्णतः मुक्त हो जाय। स्पष्ट है कि मुक्तावस्था में आत्मा के समस्त सांसारिक अनुभवों के पूर्ण विनाश के सम्बन्ध में शंकर का मत न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और मीमांसा के मत से मूलतः भिन्न प्रतीत नहीं होता। उन्होंने मुक्तावस्था में आत्मा की जो आनन्दमयी स्थिति मानी है वह वास्तव में ब्रह्म की स्थिति है क्योंकि मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात् आत्मा का तो अस्तित्व ही नहीं रह जाता। इस प्रकार मुक्तावस्था में शंकर आत्मा के अनुभवों का आत्यन्तिक विनाश ही आवश्यक नहीं मानते अपितु ब्रह्म में उसकी सत्ता का विलीन होना भी अनिवार्य मानते हैं, अतः मोक्ष के विषय में उनके मत को न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों के मत की भाँति निषेधात्मक मानना उचित ही प्रतीत होता है। शंकर की भाँति रामानुज भी यह मानते हैं कि मोक्ष-प्राप्ति के फलस्वरूप आत्मा के समस्त अनुभवों का पूर्ण विनाश अनिवार्य है, क्योंकि इसके बिना उसका अविद्याजनित अहंकार नष्ट नहीं हो सकता। यद्यपि रामानुज मुक्तावस्था में ईश्वर के साथ आत्मा का पूर्ण एकीभाव अथवा तादात्म्य स्वीकार नहीं करते, फिर भी उनका मत है कि वह जन्म-मरण के चक्र से तभी मुक्त हो सकता है जब ईश्वर-कृपा के फलस्वरूप उसके अहंकार, समस्त कर्मों तथा अनुभवों का आत्यन्तिक विनाश हो जाय। इस प्रकार शंकर तथा अन्य अधिकतर भारतीय दार्शनिकों के समान ही रामानुज भी मुक्तावस्था में आत्मा को अनुभवशून्य ही मानते हैं, अतः इस दृष्टि से मोक्ष के सम्बन्ध में उनके मत को भी निषेधात्मक ही कहा जा सकता है। यहाँ यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि जीवन-मुक्ति को स्वीकार करने वाले सांख्य-योग तथा अद्वैतवेदान्त के मोक्ष सम्बन्धी मत को पूर्णतः निषेधात्मक नहीं माना जा सकता। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जीवन-मुक्ति मोक्ष की वास्तविक और अन्तिम अवस्था नहीं है, वह तो इसका प्रथम सोपान मात्र है। ऐसी स्थिति में जीवन-मुक्ति को मनुष्य का अन्तिम ध्येय नहीं माना जा सकता। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, सांख्य-योग तथा शंकर ने भी इसे मानव-जीवन का चरम लक्ष्य नहीं माना। इसका अभिप्राय यही है कि वे भी विदेह-मुक्ति को ही वास्तविक मोक्ष मानते हैं जिसमें आत्मा शरीर तथा समस्त सांसारिक कर्मों और अनुभवों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। इस प्रकार जीवन-मुक्ति को स्वीकार कर लेने के कारण सांख्य-योग तथा अद्वैतवेदान्त का मोक्ष सम्बन्धी मत निषेधात्मकता के आरोप से मुक्त नहीं हो जाता।

अभी तक हम ने मोक्ष के विषय में उन दर्शनों के मत का उल्लेख किया है जो वेदों को प्रमाण मानते हैं और जिन्हें इसी कारण 'आस्तिक दर्शन' कहा जाता है। इन सभी दर्शनों के मोक्ष सम्बन्धी मत का विश्लेषण कर के हम ने यही निष्कर्ष निकाला है कि इन के द्वारा प्रस्तुत मोक्ष का स्वरूप मूलतः निषेधात्मक ही है, क्योंकि ये सभी दर्शन मुक्तावस्था में आत्मा के समस्त कर्मों तथा अनुभवों का आत्यंतिक विनाश अनिवार्य मानते हैं। अब मोक्ष के सम्बन्ध में उन दर्शनों के मत पर विचार करना आवश्यक है जिन्हें वेदों को प्रमाण न मानने के कारण 'नास्तिक दर्शन' कहा जाता है। ईश्वर की सत्ता और आत्मा की अमरता में विश्वास न करने के कारण भौतिकवादी चार्वाक दर्शन तो उस अर्थ में मोक्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अवधारणा का पूर्णतया निषेध करता है जिस अर्थ में अन्य भारतीय दर्शन इसे स्वीकार करते हैं, अतः यहाँ इस सम्बन्ध में उस के मत का उल्लेख करना अनावश्यक है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि मोक्ष के विषय में जैन दर्शन तथा बौद्ध दर्शन का मत क्या है और वे इस सम्बन्ध में अन्य भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों से कहाँ तक भिन्न हैं ? ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार न करते हुए भी जैन दर्शन आत्मा की अमरता में विश्वास करता है, अतः उसने भी मोक्ष को ही मानव-जीवन का अंतिम ध्येय माना है। सांख्य और शंकर की भांति जैन दार्शनिक भी आत्मा को स्वभावतः चैतन्यस्वरूप ही मानते हैं। उनका मत है कि अपनी विशुद्ध और मुक्तावस्था में आत्मा अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सामर्थ्य तथा अनंत सुख से परिपूर्ण रहता है। परन्तु कर्मों—जिन्हें जैन दर्शन में क्षिति, जल आदि के समान ही पौद्गलिक माना गया है—के फलस्वरूप ही आत्मा सांसारिक बन्धनों में बंध जाता है। ये कर्म ही उसके उपर्युक्त चार स्वाभाविक गुणों को पूर्णतः आवृत कर लेते हैं और उसे सांसारिक बंधनों तथा जन्म-मरण के दुःखमय चक्र में डाल देते हैं। इसी कारण जैन दार्शनिकों का विचार है कि जब तक आत्मा के समस्त कर्मों का पूर्ण विनाश नहीं हो जाता तब तक उसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। जब आत्मा के समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है तब वह अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख तथा अनंत सामर्थ्य से परिपूर्ण अपनी नैसर्गिक अवस्था को पुनः प्राप्त कर लेता है और आत्मा की इसी विशुद्ध चैतन्य-युक्त अवस्था को जैन दर्शन में 'कैवल्य' अथवा 'मोक्ष' कहा गया है। परन्तु जैन दार्शनिकों के मतानुसार मुक्त आत्माओं का सांसारिक मनुष्यों से किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रहता और समस्त कर्मों से पूर्णतः मुक्त हो जाने के कारण वे नितान्त निष्क्रिय रहते हैं। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात् पूर्णतः निष्क्रिय आत्मा में किसी प्रकार का अनुभव कैसे शेष रह सकता है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, जैन दार्शनिकों ने इस प्रश्न का कोई संतोषजनक समाधान प्रस्तुत नहीं किया। वस्तुतः मुक्तावस्था में पूर्णतः निष्क्रिय आत्मा को अनुभव-शून्य ही माना जा सकता है। यदि आत्मा की अनुभव-शून्यता सम्बन्धी इस व्याख्या को स्वीकार कर लिया जाय तो मोक्ष के विषय में जैन दर्शन का मत भी अन्य पूर्व वर्णित भारतीय दर्शनों के मत के समान ही मूलतः निषेधात्मक हो जाता है।

अब संक्षेप में बौद्ध दर्शन के मोक्ष सम्बन्धी मत पर विचार करना आवश्यक है। बौद्ध दर्शन में मोक्ष को 'निर्वाण' कहा गया है जिसका शाब्दिक अर्थ है 'बुझ जाना', अथवा 'समाप्त या नष्ट हो जाना'। स्पष्ट है कि शब्दार्थ की दृष्टि से निर्वाण पूर्णतः निषेधात्मक स्थिति है जिसमें मनुष्य का कुछ भी शेष नहीं रह जाता। श्रीमती राइस डेविड्स, ओल्डनबर्ग, पॉल दहलके आदि विद्वानों ने 'निर्वाण' का यही निषेधात्मक अर्थ स्वीकार किया है। इसके अनुसार पूर्णतः नष्ट अथवा समाप्त हो जाने पर ही मनुष्य को निर्वाण प्राप्त हो सकता है—अर्थात् वह सभी दुःखों तथा बंधनों से मुक्त हो सकता है। निर्वाण का यह निषेधात्मक अर्थ बुद्ध के मूल दार्शनिक सिद्धान्तों—क्षणिकवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद, नैरात्म्यवाद—के अनुरूप ही प्रतीत होता है। परन्तु राधाकृष्णन्, हिरियन्ना आदि कुछ विचारकों ने निर्वाण के इस निषेधात्मक अर्थ को स्वीकार नहीं किया। इन विचारकों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतानुसार निर्वाण का वास्तविक अर्थ मनुष्य के समस्त दुःखों का पूर्ण विनाश तथा उसे अखण्ड आनन्द की प्राप्ति है ? यदि निर्वाण के इस अर्थ को स्वीकार कर लिया जाय तो यह उपनिषदों में प्रतिपादित मोक्ष से अधिक भिन्न प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त बुद्ध के क्षणिकवाद तथा नैरात्म्यवाद के साथ निर्वाण के उपर्युक्त अर्थ की संगति प्रमाणित करना बहुत कठिन है। यदि सब कुछ परिवर्तनशील तथा क्षणिक है और शाश्वत आत्मा की सत्ता नहीं है, जैसाकि बौद्ध दार्शनिक मानते हैं, तो प्रश्न यह है कि अखण्ड आनन्द किस को प्राप्त होता है। वस्तुतः इस प्रश्न का पूर्णतया संतोषजनक तथा युक्तिसंगत उत्तर देना कठिन ही प्रतीत होता है। यह सत्य है कि तत्त्वमीमांसा सम्बन्धी सभी प्रश्नों को अव्याकृत मानने के कारण स्वयं गौतम बुद्ध ने निर्वाण की कोई स्पष्ट और निश्चित परिभाषा नहीं दी, किन्तु उनके मूल दार्शनिक सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए यह अवश्य कहा जा सकता है कि निर्वाण कोई ऐसी स्थायी आनन्दमयी अवस्था नहीं है जिसका मुक्त आत्मा निरन्तर अनुभव करता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कुछ विचारक निर्वाण को न तो पूर्ण विनाश की स्थिति मानते हैं और न अखण्ड आनन्दमयी अवस्था ही। उनका कथन है कि निर्वाण एक ऐसी स्थिति है जिस का वर्णन करना असम्भव है। परन्तु निर्वाण के विषय में यह मत नितान्त अस्पष्ट है, अतः यहाँ इस के सम्बन्ध में कुछ न कहना ही उचित होगा। उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि निर्वाण का निषेधात्मक अर्थ बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धान्तों के अधिक अनुरूप प्रतीत होता है। परन्तु इस दर्शन के महायान सम्प्रदाय के आचार्यों ने निर्वाण के इस निषेधात्मक अर्थ को अस्वीकार कर के इस की एक नयी व्याख्या की है जो बहुत रचनात्मक है और मानव-समाज के लिये महान आदर्श प्रस्तुत करती है। इस नयी व्याख्या के अनुसार निर्वाण प्राप्त करने के लिये मनुष्य को शरीर तथा संसार का त्याग करने की आवश्यकता नहीं है; अपने समस्त हितों एवं अहंकार का पूर्णतया परित्याग कर दूसरों की दुःख-निवृत्ति के लिये निरन्तर कार्यरत रहना ही निर्वाण की स्थिति है। जो मनुष्य इस स्थिति को प्राप्त कर लेता है उसे महायान के दार्शनिकों ने 'बोधिसत्त्व' की संज्ञा दी है। ऐसा मनुष्य अपनी मुक्ति के लिये नहीं अपितु दूसरों की मुक्ति के लिये सदैव प्रयास करता है। वह तब तक स्वयं मुक्त होने की इच्छा नहीं करता जब तक अन्य सभी मनुष्य जन्म-मरण के दुःखमय सांसारिक चक्र से पूर्णतया मुक्त नहीं हो जाते। महायान के बोधिसत्त्व का यह आदर्श हीनयान के अर्हत के आदर्श से भिन्न है, क्योंकि अर्हत दूसरों की मुक्ति की चिंता किये बिना स्वयं सांसारिक दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। दूसरे शब्दों में, अर्हत बोधिसत्त्व के समान अपने व्यक्तित्व को दूसरों के व्यक्तित्व में विलीन नहीं कर देता। परन्तु अर्हत के आदर्श को बोधिसत्त्व के आदर्श के विपरीत न मानकर पूरक ही माना जा सकता है, क्योंकि निर्वाण-प्राप्ति के लिये व्यक्ति का अपना प्रयास अनिवार्य है। बुद्ध का निश्चित मत है कि प्रत्येक व्यक्ति अंततः स्वयं अपने प्रयास द्वारा ही दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है, किसी अन्य शक्ति का आश्रय लेकर नहीं। सम्भवतः इसी कारण हीनयान के दार्शनिकों ने अर्हत के आदर्श को स्वीकार किया है। परन्तु अर्हत सम्बन्धी आदर्श के महत्त्व का निषेध न करते हुए भी यह कहा जा सकता है कि मानव-कल्याण के लिये बोधिसत्व का आदर्श अधिक वांछनीय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी तक हम ने मोक्ष के सम्बन्ध में विभिन्न भारतीय दर्शनों के मत पर विचार किया है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि वर्तमान युग के सामाजिक जीवन में मोक्ष की अवधारणा की कोई उपादेयता है अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में मेरा अपना विचार यह है कि अधिकतर भारतीय दर्शनों ने मोक्ष का जो निषेधात्मक अर्थ स्वीकार किया है उस अर्थ में न तो वह आज के मनुष्य के लिये उपादेय है और न प्राचीन युग के मनुष्य के लिये उपादेय था। अपने इस मत की पुष्टि के लिये मैं निम्नलिखित कारण प्रस्तुत करना चाहूँगा। सर्वप्रथम, उस रूप में मोक्ष की अवधारणा का औचित्य ही संदिग्ध प्रतीत होता है जिस रूप में अधिकतर भारतीय दर्शनों ने इसे प्रस्तुत किया है। हम देख चुके हैं कि मोक्ष की अवधारणा कुछ विशेष तत्त्वमीमांसात्मक मान्यताओं—आत्मा की अमरता, ईश्वर या ब्रह्म का अस्तित्व, अविद्या की सर्वव्यापकता आदि—पर ही आधारित है, किन्तु इन सभी मान्यताओं की सत्यता में संदेह किया जा सकता है और किया भी गया है। अब यदि इन तत्त्वमीमांसात्मक मान्यताओं को स्वीकार नहीं किया जाय तो मोक्ष की सम्पूर्ण अवधारणा निरर्थक हो जाती है।

मनुष्य के लिये मोक्ष की परम्परागत अवधारणा की उपादेयता को अस्वीकार करने का दूसरा कारण यह है कि विदेहमुक्ति के अर्थ में यह पूर्णतः निषेधात्मक है। हम पहले ही यह स्पष्ट कर चुके हैं कि अधिकतर भारतीय दर्शन विदेहमुक्ति के अर्थ में ही मोक्ष को स्वीकार करते हैं जिसके लिए शरीर तथा समस्त अनुभवों का पूर्ण विनाश अनिवार्य है। यदि यही मनुष्य का वास्तविक मोक्ष है तो मृत्यु तथा मोक्ष में कोई अन्तर नहीं रह जाता और चार्वाक दर्शन के इस कथन को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है कि "मरण ही मोक्ष है।" इस दृष्टि से मनुष्य के लिये मोक्ष की वही उपादेयता—यदि इसे 'उपादेयता' कहा जाय तो—रह जाती है जो उसके लिये मृत्यु की है। फिर यदि मोक्ष प्राप्त करने के पश्चात् आत्मा पूर्णतः अनुभवरहित तथा चेतना-शून्य हो जाता है तो ऐसे मुक्त आत्मा और जड़ वस्तु में कोई अन्तर नहीं रह जाता। इस प्रकार के निषेधात्मक मोक्ष को जीवन का अन्तिम ध्येय मानना नितान्त अतर्कसंगत एवं हास्यास्पद ही प्रतीत होता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि सांख्य, अद्वैतवेदांत और जैन दर्शन मुक्त आत्मा को अनुभव-शून्य नहीं मानते, अतः उनके द्वारा प्रस्तुत मोक्ष के स्वरुप के विरुद्ध उपर्युक्त आपत्ति नहीं उठाई जा सकती। परन्तु हम पहले ही देख चुके हैं कि ये तीनों दर्शन भी मुक्त आत्मा को साधारण अर्थ में अनुभवयुक्त अथवा चेतनापूर्ण नहीं मानते। सांख्य के अनुसार मुक्त पुरुष प्रकृति—अर्थात् सम्पूर्ण भौतिक जगत्—से पूर्णतया पृथक् हो जाता है और इस अवस्था में वह नितान्त निष्क्रिय होता है। ऐसे मुक्त किन्तु निष्क्रिय पुरुष के चेतन्यस्वरूप बने रहने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। शंकर ने तो मोक्ष-प्राप्ति के पश्चात् आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को ही स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वे निर्गुण ब्रह्म के साथ आत्मा के पूर्ण तादात्म्य को ही मोक्ष मानते हैं। दूसरे शब्दों में, मोक्ष प्राप्त कर लेने के पश्चात् आत्मा ब्रह्म में विलीन होकर निर्गुण तथा निराकार हो जाता है। इस स्थिति में आत्मा के चेतनायुक्त बने रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। जैन दर्शन ने भी कैवल्य-प्राप्ति के उपरान्त आत्मा को पूर्णतया निष्क्रिय ही माना है, क्योंकि उसके मतानुसार समस्त कर्मों का क्षय हो जाने पर ही उसे कैवल्य प्राप्त हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट है कि ऐसे निष्क्रिय आत्मा में किसी प्रकार के अनुभव का शेष रहना सम्भव नहीं है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि सभी भारतीय दर्शन मुक्तावस्था में आत्मा को निष्क्रिय तथा अनुभव-शून्य ही मानते हैं, अतः ऐसे मोक्ष को मानव-जीवन के आदर्श के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मनुष्य के लिये मोक्ष की परम्परागत अवधारणा की उपादेयता को स्वीकार न करने का तीसरा कारण यह है कि जिस रूप में अधिकतर भारतीय दर्शनों ने इसे प्रस्तुत किया है उस रूप में यह नितान्त व्यक्ति-केन्द्रित प्रतीत होती है। न्याय, वैशेषिक, मीमांसा तथा जैन दर्शनों में अन्यों की चिंता किये बिना केवल अपनी मुक्ति के लिये ही प्रयास लक्षित होता है। सांख्य और अद्वैतवेदांत की विदेह मुक्ति की अवधारणा के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। मोक्ष के इच्छुक मनुष्य का एकमात्र उद्देश्य स्वयं अपने लिये मुक्ति प्राप्त करना ही होता है। यदि वह दूसरों की दुःख-निवृत्ति अथवा मुक्ति के लिये प्रयास करता है तो उसका यह प्रयास भी अन्ततः उसके अपने मोक्ष का साधन मात्र ही होता है। स्पष्ट है कि विदेह मुक्ति के अन्तर्गत सामाजिक तथा परोपकारात्मक मूल्यों के लिये कोई स्थान नहीं है, अतः यह कहना अनुचित न होगा कि विदेह मुक्ति के अर्थ में मोक्ष की अवधारणा नितान्त असामाजिक एवं व्यक्ति-केन्द्रित अवधारणा है। ऐसी स्थिति में इस अवधारणा को मानव-जीवन का चरम लक्ष्य मान लेना नैतिक दृष्टि से उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

यह सत्य है कि सांख्य तथा अद्वैतवेदांत के जीवन-मुक्त और महायान के बोधिसत्त्व की अवधारणा के विरुद्ध उपर्युक्त आपत्ति नहीं उठाई जा सकती, क्योंकि जीवन-मुक्त और बोधिसत्त्व दोनों ही दूसरों की दुःखनिवृत्ति एवं मुक्ति के लिये प्रयास करते हैं। परन्तु इस महान् आदर्श के सम्बन्ध में भी एक समस्या है जिसका यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक है। यह कहा जाता है कि जीवन-मुक्त तथा बोधिसत्व दोनों ही दूसरों की मुक्ति के लिये बार-बार जन्म लेते रहते हैं और वे तब तक अपनी मुक्ति की इच्छा नहीं करते जब तक अन्य सभी मनुष्य मुक्त न हो जांय। परन्तु यह मान्यता अन्ततः पुनर्जन्म सम्बन्धी विश्वास पर ही आधारित है जिसकी सत्यता अथवा प्रामाणिकता नितान्त संदिग्ध ही प्रतीत होती है। इस प्रकार अवतारवाद पर आधारित जीवन-मुक्त और बोधिसत्त्व के आदर्श को भी उसी रूप में स्वीकार करना कठिन है जिस रूप में इसे सांख्य, अद्वैतवेदांत तथा बौद्ध दर्शन में प्रस्तुत किया गया है। हाँ, यदि अवतारवाद तथा पुनर्जन्म की अवधारणा का परित्याग करके इस आदर्श को मनुष्य के वर्तमान जीवन तक ही सीमित कर दिया जाय तो इसे निश्चय ही मानव-कल्याण के लिये महान् आदर्श माना जा सकता है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या तत्त्वमीमांसात्मक मान्यताओं का आधार लिये बिना मोक्ष को मानव-जीवन के एक महान् नैतिक आदर्श के रूप में स्वीकार किया जा सकता है ? फिर यदि हम मोक्ष को एक ऐसा नैतिक आदर्श मान लें तो इस प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक है कि उसका स्वरूप क्या होगा और वह अर्थ, काम तथा धर्म इन तीन पुरुषार्थों से किस प्रकार भिन्न होगा। यद्यपि इन दोनों प्रश्नों का कोई स्पष्ट, निश्चित तथा सर्वमान्य उत्तर देना बहुत कठिन है फिर भी मेरे विचार में वर्तमान मानव-जीवन के संदर्भ में मोक्ष की नयी व्याख्या करके उसे ही जीवन का अन्तिम ध्येय माना जा सकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। हमें सभी भारतीय दर्शनों द्वारा मान्य इस कठोर सत्य को स्वीकार करना पड़ेगा कि समस्त प्राणी-जगत् में दुःख सर्वत्र व्याप्त है। इस संसार में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो पीड़ा अथवा दुःख से पूर्णतया मुक्त हो। संवेदनशील होने के कारण मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्रता से दुःख का अनुभव करता है। ऐसी स्थिति में दुःख से मुक्ति प्राप्त करने की समस्या मानव-जाति की सबसे अधिक गम्भीर समस्या है। वस्तुतः मनुष्य की इस गम्भीर समस्या का समाधान करने के लिये ही चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दर्शनों ने मोक्ष के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। प्रत्येक भारतीय दर्शन ने इस दुःख के मूल कारण की खोज करने तथा मनुष्य को इससे मुक्ति प्राप्त करने के उपाय बताने का प्रयास किया है। यहाँ हमें इस विवाद में उलझने की आवश्यकता नहीं है कि भारतीय दर्शनों द्वारा किया गया दुःख के मूल कारणों का विश्लेषण तथा उससे मुक्त होने के लिए बताया गया मार्ग कहाँ तक उचित एवं मान्य है। हमारे समक्ष यह निर्विवाद तथ्य विद्यमान है कि मनुष्य अपने जीवन में पीड़ा अथवा दुःख का अनुभव करता है। यह दुःख या तो भूकम्प, बाढ़, सूखा, तूफान आदि प्राकृतिक विपदाओं के फलस्वरूप उत्पन्न होता है या ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध, लोभ, अभिमान, कामेच्छा आदि मानवीय संवेगों के कारण। स्पष्ट है कि इस दुःख से पूर्ण अथवा आंशिक मुक्ति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को इसके उपर्युक्त मूल कारणों को समाप्त या नियन्त्रित करना होगा। दुःख के समस्त प्राकृतिक कारणों को पूर्णतया समाप्त अथवा नियन्त्रित करना मनुष्य के लिए सम्भव प्रतीत नहीं होता। ऐसी स्थिति में प्राकृतिक विपदाओं के फलस्वरूप उत्पन्न दुःख से पूर्ण मुक्ति प्राप्त करने की आशा व्यर्थ ही प्रतीत होती है, हाँ, इसके लिए यथासम्भव सतत प्रयास करना आवश्यक है। परन्तु मनुष्य के जीवन में अधिकांश दुःख का मूल कारण प्राकृतिक विपत्तियाँ नहीं अपितु ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा आदि मानवीय संवेग ही हैं। इन्हीं संवेगों के कारण व्यक्ति स्वयं भी दुःख प्राप्त करता है और दूसरों को भी अनावश्यक कष्ट पहुँचाता है। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य के अधिकांश दुःख का मूल कारण उसके ये विकृत संवेग ही हैं, अतः इन्हें समुचित रूप से नियंत्रित किये बिना वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के लिए अपने वर्तमान जीवन में ही दुःख से मुक्ति प्राप्त करना मोक्ष है और इस मोक्ष का एकमात्र उपाय है अपने विकृत संवेगों को भलीभाँति नियन्त्रित करना।

यदि मोक्ष का उपर्युक्त अर्थ स्वीकार कर लिया जाय तो इसके लिए आत्मा की अमरता, ईश्वर या ब्रह्म का अस्तित्व आदि किसी तत्त्वमीमांसात्मक मान्यता का आधार लेने की आवश्यकता नहीं है। इसी अर्थ में मोक्ष को मानव-जीवन का चरम लक्ष्य माना जा सकता है। यह सत्य है कि जीवन के इस चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अन्ततः व्यक्ति को स्वयं ही प्रयास करना होगा, किन्तु सामाजिक प्राणी होने के नाते दूसरों की दुःख-निवृत्ति के लिये निरन्तर प्रयत्न करना भी उसका अनिवार्य नैतिक कर्त्तव्य है। इस अनिवार्य कर्त्तव्य का पालन करके ही व्यक्ति मोक्ष सम्बन्धी अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है, अतः दूसरों की दुःख-निवृत्ति और अपनी मोक्ष-प्राप्ति के प्रयास में कोई विरोध या संघर्ष नहीं है। दूसरों को दुःख से मुक्त करने का प्रयास करके ही व्यक्ति आत्मकेन्द्रित होने से बच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता है और अपने उन संवेगों को भी नियन्त्रित कर सकता है जो स्वयं उसके लिए तथा समाज के लिए हानिकारक हैं। इस प्रकार अपने निकृष्ट संवेगों को नियन्त्रित करके दूसरों के दुःख का निराकरण करने के सतत प्रयास में ही व्यक्ति का वास्तविक मोक्ष निहित है। मानव-जीवन के इसी महान् आदर्श को गीता में 'स्थितप्रज्ञ' की संज्ञा दी गई है जो सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय में समत्वभाव रखते हुए सदैव लोक-कल्याण के लिए प्रयत्नशील रहता है। अपनी भावनाओं तथा मनोवृत्तियों को नियन्त्रित कर लेने के कारण ऐसा स्थितप्रज्ञ व्यक्ति हर्ष-विषाद से प्रभावित नहीं होता, अतः संसार में रहते हुए भी वह सांसारिक पदार्थों एवं विषयभोगों में आसक्त नहीं रहता और केवल लोकसंग्रह के लिये ही फलाकांक्षारहित कर्म करता है। मेरे विचार में स्थितप्रज्ञ की यह अवस्था ही मनुष्य की वास्तविक मुक्ति है जिसे मानव-जीवन के लिए महान् आदर्श के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त अर्थ में मोक्ष अन्य तीनों पुरुषार्थों से भिन्न है और उसके लिये किसी तत्त्व-मीमांसात्मक मान्यता को भी स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। अर्थ, काम तथा धर्म क्रमशः संयमपूर्वक धनोपार्जन, इच्छाओं की तृप्ति और स्वकर्तव्य-पालन तक ही सीमित हैं, किन्तु मोक्ष इसी जीवन में अहंकार एवं दुःख से मुक्त होने की अवस्था है जिसके लिए इन तीनों पुरुषार्थों को स्वीकार करना अनिवार्य है। इस दृष्टि से ये तीनों पुरुषार्थ मोक्ष के मार्ग में बाधक न होकर उसके लिये अंततः सहायक ही माने जा सकते हैं। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि परम्परागत अर्थ में मोक्ष मनुष्य के लिये उपादेय प्रतीत नहीं होता, अतः उपर्युक्त नये अर्थ में ही मानव-जीवन के लिए नैतिक आदर्श के रूप में मोक्ष की उपादेयता को स्वीकार किया जा सकता है।

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्ररूप-सिद्धान्त

जगदीशसहाय श्रीवास्तव

एरिस्टॉटल के तर्कशास्त्र के विरुद्ध बर्ट्रण्ड रसेल की प्रमुख आपत्ति यह थी कि सभी तर्क-वाक्य उद्देश्य-विधेय रूप नहीं होते। यदि सभी तर्क-वाक्यों को उद्देश्य-विधेय रूप मान लिया जाय जैसा एरिस्टॉटल मानता था तो इससे कई प्रकार के व्याघात उत्पन्न होते हैं।[1] इसी कारण रसेल ने उद्देश्य-विधेय तर्क-वाक्यों के साथ सम्बन्धात्मक (रिलेशनल) तर्क-वाक्यों को भी स्वीकार किया था। पर आगे चल कर उन्होंने देखा कि सम्बन्धों (रिलेशन्स) के इस "नवीन तर्कशास्त्र" में भी कई प्रकार के गणितीय एवं तार्किक विरोधाभास पाये जाते हैं जिन्हें दूर करना आवश्यक होता है। रसेल के अनुसार इस विरोधाभास का कारण यह होता है कि किसी निश्चित सन्दर्भ में हमें एक पद का जिस प्रकार प्रयोग करना चाहिए वैसा हम प्रयोग नहीं करते। एक विशेष सन्दर्भ में एक विशेष प्रकार के पद का ही प्रयोग किया जा सकता है। एक ही सन्दर्भ में प्रयुक्त प्रतीकात्मक सत्ताओं या इकाइयों को समान प्ररूप की सत्ताओं या इकाइयों के नाम से अभिहित किया जाता है। एक सन्दर्भ में प्रयुक्त सत्तात्मक इकाई का दूसरे सन्दर्भ में प्रयोग करना वर्जित होता है। इस प्रकार हम प्ररूपों के एक श्रेणीबद्ध संगठन या तारतम्य तक पहुँचते हैं जिसमें एक श्रेणी के सदस्यों को दूसरी श्रेणी के सदस्यों का स्थानापन्न बनाना तार्किक दृष्टि से उचित नहीं होता।

१. परिभाषा :

प्ररूप सिद्धान्त की उपयोगिता केवल गणित एवं तर्क-शास्त्र के क्षेत्र में ही नहीं देखी जाती साधारण बोल-चाल की भाषा में भी इसकी पर्याप्त उपयोगिता है। जो शब्द सभी सन्दर्भों में एक-दूसरे के स्थानापन्न हो सकते हैं, एक प्ररूप के शब्द कहे जाते हैं। रसेल ने अपनी पुस्तक प्रिन्सिपिया मैथेमेटिका में तार्किक प्ररूपों को निम्न प्रकार परिभाषित किया है :—

'अ और ब' एक ही तार्किक प्ररूप के तब और केवल तब कहे जाँयगे जबकि एक तथ्य, जिसका अ एक घटक है, की संगति में एक दूसरा तथ्य है जिसका ब घटक है, जो अ के स्थान पर ब को प्रतिस्थापित करने से उत्पन्न होता है अथवा प्रथम तथ्य का निषेध रूप होता है। उदाहरण के लिए, सॉक्रेटीज़ एवं एरिस्टॉटल एक ही प्ररूप की सत्ताएँ हैं क्योंकि "सॉक्रेटीज़ एक दार्शनिक थे" तथा "एरिस्टॉटल एक दार्शनिक थे" दोनों तथ्य हैं; इसी प्रकार, सॉक्रेटीज़ एवं कैलिगुला एक ही प्ररूप की सत्ताएँ हैं क्योंकि "सॉक्रेटीज़ एक दार्शनिक थे" तथा "कैलिगुला दार्शनिक नहीं थे" दोनों तथ्य हैं। पुनः, प्रेम करना एवं हनन करना

१. रसेल, आवर नॉलेज ऑव द एक्सटर्नल वर्ल्ड, पृ० ५८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ही प्ररूप की क्रियाएँ हैं क्योंकि "प्लेटो सॉक्रेटीज़ से प्रेम करते थे" तथा "प्लेटो ने सॉक्रेटीज़ का हनन नहीं किया" दोनों तथ्य हैं।[२]

रसेल ने ऊपर प्ररूप की जो परिभाषा दी है वह अपने में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी कुछ कठिनाइयों एवं विरोधाभासों को उत्पन्न करती है जिनका निराकरण करने के लिए रसेल के प्ररूप सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या आवश्यक हो जाती है। उदाहरण के लिए, कल्पना करें कि उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार क एवं ल एक ही प्ररूप की सत्ताएँ हैं तथा क एवं म विभिन्न प्ररूप की सत्ताएँ हैं। इनके आधार पर निम्न दो कथन यथार्थ हैं—

(१) "क एवं ल एक ही प्ररूप की सत्ताएँ हैं" एक तथ्य है।

(२) "क एवं म एक ही प्ररूप की सत्ताएँ नहीं हैं" एक तथ्य है।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि यदि प्रथम तथ्य में ल के स्थान पर म स्थानापन्न कर दिया जाय तो द्वितीय तथ्य प्रथम तथ्य का निषेधात्मक रूप हो जाता है। चूंकि यहाँ ल और म एक-दूसरे के स्थानापन्न हैं तथा इस स्थानापत्ति के कारण जो तथ्य निकलता है द्वितीय तथ्य उसका निषेध रूप है, अतः इससे निष्कर्ष निकलता है कि ल एवं म एक ही प्ररूप की सत्ताएँ हैं जो पूर्वानुमान के बिल्कुल विपरीत है। इससे एक और मज़ेदार निष्कर्ष निकलता है और वह यह है कि यदि संसार में कम से कम तीन सत्ताएँ हों तो यह असम्भव है कि वे समान प्ररूप की न हों। अर्थात् वे समान् प्ररूप की सत्ताएँ होनी चाहिएं। पर यह निष्कर्ष ऐसा है जिसे कोई भी व्यावहारिक बुद्धि वाला मनुष्य स्वीकार नहीं कर सकता।

२. विरोधाभास का समाधान :

उपर्युक्त विरोधाभास का एक समाधान इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि ऊपर (१) और (२) में "तथ्य" शब्द का जो अर्थ है वह परिभाषा में प्रयुक्त "तथ्य" शब्द के अर्थ से बिल्कुल भिन्न है। यह तथ्य कि "क और ल एक ही प्ररूप की सत्ताएँ हैं" उस तथ्य से बिल्कुल भिन्न है जिसमें क और ल एक घटक के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। (१) और (२) में जो "तथ्य" शब्द का प्रयोग किया गया है उससे स्पष्ट है कि प्रत्येक यथार्थ वाक्य एक "तथ्य" को अभिव्यक्त करता है। पर यह बात सही नहीं है। यदि "तथ्य" शब्द का इस प्रकार प्रयोग किया गया तो इससे हमारे चिन्तन में विरोधाभासों का उत्पन्न होना अनिवार्य है। यदि हम इन विरोधाभासों से मुक्त होना चाहते हैं तो "तथ्य" शब्द का हमें हर स्थान पर वही अर्थ लेना चाहिए जो परिभाषा में लिया गया है। यह तभी हो सकता है जबकि "तथ्य" शब्द को एक खुले अर्थ में न लेकर एक सीमित अर्थ में ही ग्रहण किया जाय जैसा कि परिभाषा में लिया गया है। परिभाषा के अनुसार सभी यथार्थ वाक्य तथ्यों की अभिव्यक्ति नहीं करते, केवल कुछ यथार्थ वाक्य ही तथ्य की अभिव्यक्ति करते हैं जैसे "सॉक्रेटीज़ एक दार्शनिक हैं।" अथवा "राम ने रावण को मारा" इत्यादि।

२. रसेल, प्रिन्सिपिया मैथेमेटिका, पृ० ३६९–३९०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि "तथ्य" शब्द का इस प्रकार सीमित प्रयोग किया गया तो अन्य क्षेत्र में जहाँ "तथ्य" शब्द का इस प्रकार सीमित प्रयोग नहीं किया जाता, विरोधाभासों का किस प्रकार निराकरण किया जा सकता है? कुछ दार्शनिकों का विचार है कि रसेल के प्ररूप-सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या करके इन समस्याओं का समुचित समाधान किया जा सकता है।

३. रसेल के प्ररूप-सिद्धान्त की पुनर्व्याख्या :

इन दार्शनिकों के अनुसार रसेल के प्ररूप सिद्धान्त में जो उपर्युक्त विरोधाभास उत्पन्न होते हैं उनका मूल कारण यह है कि उनके अनुसार "एक ही प्ररूप के होने" का सम्बन्ध केवल सत्ताओं (एण्टिटीज़) के बीच ही घटित होता है। यदि यह सम्बन्ध शब्दों के बीच भी घटित किया जाय तो समस्या का समुचित समाधान किया जा सकता है। अन्तर केवल इतना है कि यह कहने की अपेक्षा कि "क और ल **सत्ताएँ** एक ही प्ररूप की हैं" हमें यह कहना चाहिए कि "क और ल **शब्द** वाक्य-रचनात्मक दृष्टि से (सिंटैक्टिकली) एक ही प्ररूप के हैं।" यदि समान वाक्य-रचनात्मक सम्बन्ध को स्वीकार कर लिया जाय तो पहले के (१) और (२) वाक्यों का निम्न स्वरूप होगा—

(१) "क एवं ल एक ही वाक्यीय सम्बन्ध प्ररूप के हैं" एक तथ्य है।

(२) क एवं म एक ही वाक्यीय सम्बन्ध प्ररूप के नहीं हैं" एक तथ्य है।

जहाँ क, ल एवं म सत्ताएँ न होकर शब्द मात्र हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन तीनों शब्दों की **संज्ञाओं** के बीच रचनात्मक समानता पायी जाती है। चूंकि किसी शब्द के रचनात्मक सम्बन्ध व वह शब्द समरूप नहीं होते अतः संज्ञाओं में रचनात्मक समानता होते हुए भी शब्दों में तार्किक विरूपता हो सकती है। इस प्रकार प्ररूप-सिद्धान्त में उत्पन्न विसंगतियों के निराकरण का प्रयत्न किया गया है। रसेल ने भी एक स्थल पर इस बात की पुष्टि की है। वह कहता है, "प्ररूप सिद्धान्त सत्ताओं का सिद्धान्त न होकर प्रतीकों का सिद्धान्त है।"[३]

उपर्युक्त सिद्धान्त में सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें अनवस्था दोष की प्राप्ति होती है। इसमें "वाक्यीय सम्बन्ध-समानता" के कई स्तर उत्पन्न होते हैं। शब्दों के बीच एक प्रकार के वाक्यीय सम्बन्ध-समानता की कल्पना करनी होगी तो रचनाओं के बीच दूसरे प्रकार की रचनात्मक सम्बन्ध की समानता की कल्पना करनी होगी और "रचनाओं की रचनाओं" के बीच एक तीसरे प्रकार की रचनात्मक सम्बन्ध-समानता की कल्पना करनी होगी। इस प्रकार इसमें अनवस्था दोष की प्राप्ति होती है। पर इसका एक लाभ यह है कि इससे रचनाओं का एक ऐसा श्रेणीबद्ध संगठन उत्पन्न होता है जिनके बीच भेद करने से बहुत सी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है।

सत्तात्मक प्ररूप के स्थान पर रचनात्मक प्ररूप को स्थानापन्न कर देने से कुछ समस्याओं का समाधान तो हो जाता है पर अन्य समस्याएँ शेष रह जाती हैं। भाषा में ऐसे बहुसंगमनी

३. मोनिस्ट, वर्ष २९, पृ० १२१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ आते हैं जिनमें विभिन्न रचनात्मक प्ररूपों को एक ही प्ररूप का मानने को विवश होना पड़ता है। उदाहरण के लिए, "मैं रसेल के विषय में सोच रहा हूँ", "मैं ज्ञातव्य के विषय में सोच रहा हूँ" या "मैं ईश्वर के विषय में सोच रहा हूँ", इन दृष्टान्तों में 'रसेल', 'ज्ञातव्य' व 'ईश्वर' एक ही रचनात्मक प्ररूप के माने जाँयगे। पर इसे कोई स्वीकार नहीं कर सकता। इस प्रकार की समस्याओं के लिए रसेल के प्ररूप-सिद्धान्त की एक निषेधात्मक व्याख्या भी प्रस्तुत की जाती है जो निम्न है— **यदि एक भी परिस्थिति है जिसमें एक शब्द दूसरे शब्द का स्थानापन्न नहीं हो सकता तो वे दोनों शब्द विभिन्न रचनात्मक प्ररूप के होंगे।** इस परिभाषा के अनुसार "रसेल", "ज्ञातव्य" एवं "ईश्वर" भिन्न-भिन्न प्ररूप के हैं। इसी प्रकार ऊपर "सोचने" की जो तीन परिस्थितियाँ हैं उनके "सोचना" शब्द एक शब्द न होकर तीन भिन्न शब्द हैं जिनमें रचनात्मक समानता नहीं पायी जाती। वे भिन्न-भिन्न प्ररूप के हैं।

४. रसेल के प्ररूप-सिद्धान्त की उपयोगिता :

रसेल ने प्ररूप-सिद्धान्त का प्रतिपादन जीवन में आने वाले कुछ विरोधाभासों के निराकरण के लिए किया था। अपने प्ररूप-सिद्धान्त के विकास में उन्होंने प्ररूप के दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया : प्रथम प्ररूप का साधारण सिद्धान्त (सिम्पुल थियरी ऑफ टाइप्स) और द्वितीय प्ररूप का बहुशाखी सिद्धान्त (रैमिफाइड थियरी ऑफ टाइप्स)। प्ररूप का **साधारण सिद्धान्त** कहता है कि फलन अपने कोणांक (आर्ग्यूमेण्ट) से सदा उच्चतर प्ररूप का होता है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई वर्ग (क्लास) स्वयं अपना सदस्य नहीं हो सकता। रसेल के अनुसार कुछ वर्ग ऐसे होते हैं जो स्वयं अपने सदस्य नहीं होते, पर कुछ वर्ग ऐसे अवश्य हैं जो स्वयं अपने सदस्य होते हैं। उदाहरण के लिए गधों का एक वर्ग है पर यह वर्ग स्वयं एक गधा नहीं है। पर उन सभी जीवों का वर्ग जो गधे नहीं हैं, वे सभी जीव हैं जो गधे नहीं हैं। यह निषेधात्मक उदाहरण है। पर ऐसे विध्यात्मक उदाहरणों की कमी नहीं है जहाँ वर्गों का वर्ग स्वयं एक वर्ग है। यहाँ हम उन वर्गों के एक वर्ग के विषय में विचार करेंगे जो स्वयं अपने सदस्य नहीं हैं। मान लें कि वह वर्ग X है। अब प्रश्न यह है कि वर्ग X स्वयं अपना सदस्य है कि नहीं ? यदि वर्ग X स्वयं अपना सदस्य है तो इसका अर्थ यह हुआ कि इसके भीतर इसके सभी सदस्यों के परिभाषात्मक गुण (डिफाइनिङ्ग प्रॉपर्टी) होना चाहिए और यह परिभाषात्मक गुण है कि कोई वर्ग जिसका यह गुण है वह स्वयं अपना सदस्य नहीं है। इस प्रकार X स्वयं अपना सदस्य नहीं हो सकता। इसके विपरीत, यदि मान लिया जाय कि X स्वयं अपना सदस्य नहीं है, तो इसका अर्थ यह है कि इसके भीतर अन्य सभी सदस्यों के परिभाषात्मक गुण (डिफाइनिङ्ग प्रॉपर्टीज़) नहीं होने चाहिएँ, अर्थात् X को स्वयं अपना सदस्य होना चाहिए। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक विकल्प अपना विरोधी निष्कर्ष निगमित करता है जो एक प्रकार का विरोधाभास है।

इस विरोधाभास से घबड़ाकर रसेल ने इसकी सूचना फ्रीग को दी जो तर्कशास्त्र से सम्पूर्ण अंक-गणित को निगमित करने की चेष्टा कर रहा था। रसेल के पत्र का उत्तर देते हुए फ्रीग ने लिखा कि अंक-गणित का आधार ही नष्ट हो गया है क्योंकि अंक-गणित में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संख्या की इस प्रकार व्याख्या दी गई थी : "संख्या उन वर्गों का वह वर्ग है जो एक वर्ग के समान होते हैं।" रसेल ने देखा कि हमारे चिन्तन में कहीं-न-कहीं कमी अवश्य है जिसके कारण इस प्रकार के विरोधाभास उत्पन्न होते हैं।

इसी प्रकार की समस्या तब उत्पन्न हुई थी जब क्रीट के निवासी एपिमेनाइडीज़ ने कहा था कि "सभी क्रीट-निवासी असत्यवादी होते हैं।" परन्तु प्रश्न उठता है कि उसका उपर्युक्त कथन सत्य है कि नहीं ? यदि वह असत्य बोल रहा है तो उपर्युक्त कथन असत्य होगा, अर्थात् "सभी क्रीटवासी सत्यवादी होते हैं", यह सत्य होगा। पर यदि सभी क्रीटवासी सत्यवादी होते हैं तो उपर्युक्त कथन कि "सभी क्रीटवासी असत्यवादी होते हैं" सत्य होगा। यहाँ एक ही परिस्थिति से दो परस्पर विरोधी निष्कर्ष निकाले जा रहे हैं। इसी प्रकार की परिस्थिति तब उत्पन्न होती है जब कोई मनुष्य कहता है कि "मैं झूठ बोल रहा हूँ"। इससे "मैं सत्य बोल रहा हूँ" व "मैं झूठ बोल रहा हूँ" दोनों प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इन विरोधाभासों का समाधान किस प्रकार किया जा सकता है ? इस प्रकार की समस्याओं का समाधान रसेल ने अपने प्ररूप-सिद्धान्त के द्वारा करने की चेष्टा की।

रसेल ने प्ररूप-सिद्धान्त को एक वाक्यात्मक फलन (प्रपोज़िशनल फंक्शन) द्वारा निम्न प्रकार समझाने की चेष्टा की :[४] मान लें कि fx एक वाक्यात्मक फलन है। जब हम fx के सभी मूल्यों के विषय में बात करते हैं तो इसका यह अर्थ होता है कि हमारी दृष्टि x के उन सभी मूल्यों की ओर है जो x किसी निश्चित समय में धारण कर सकता है। अर्थात् x के सभी सम्भाव्य मूल्यों का एक साकल्य है। अब यदि हम x के नवीन मूल्यों की सृष्टि करते हैं तो ये नवीन मूल्य भी उस साकल्य के बाहर नहीं रह सकते; उन्हें इस साकल्य के अन्तर्गत ही रहना होगा। इस प्रकार साकल्य का विस्तार हो जाता है। पुनः, यदि हम x के नवीन मूल्यों की सृष्टि करते हैं तो साकल्य का विस्तार होना अनिवार्य हो जायगा। चूँकि प्रत्येक स्थिति में नवीन मूल्यों को साकल्य के भीतर आना होगा, हम साकल्य का कितना ही विस्तार करते चले जाँय, कुछ न कुछ नवीन मूल्य उसके बाहर रहेंगे ही। सारी समस्या तब उत्पन्न होती है जब हम नवीन मूल्य को साकल्य के भीतर ढकेलने की चेष्टा करते हैं। हमें सदा दो प्रकार के तर्क-वाक्यों के बीच भेद करना होगा : वे तर्क-वाक्य जो तर्क-वाक्यों के साकल्य का वर्णन करते हैं तथा वे तर्क-वाक्य जो साकल्य का वर्णन नहीं करते। **वे तर्क-वाक्य जो तर्क-वाक्यों के साकल्य का वर्णन करते हैं, उस साकल्य के सदस्य कभी नहीं हो सकते।** प्रथम कोटि (फर्स्ट ऑर्डर) के तर्कवाक्य वे तर्कवाक्य हैं जो तर्कवाक्यों के साकल्य का निर्देश नहीं करते, द्वितीय कोटि के तर्कवाक्य वे वाक्य हैं जो प्रथम कोटि के तर्कवाक्यों के साकल्य का निर्देश करते हैं। अतः जब हम कहते हैं कि "सभी क्रीटवासी असत्यवादी हैं" यह द्वितीय कोटि का तर्कवाक्य है। इसे प्रथम कोटि के तर्कवाक्यों में शामिल कर इसके याथार्थ्य या अयाथार्थ्य को सिद्ध करना मूर्खता है।

प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

४. रसेल, माइ मेण्टल डेवलपमेण्ट, पृ० ५२–५३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कांट :
निर्बन्ध आत्म का कल्पना-बन्धन

भगवती

प्रत्यक् और पराक् का, आनुभविक और अतिक्रामी का, ज्ञेय, ज्ञानेतर और ज्ञानोत्तर का स्पष्ट भेद जैसा कांट ने किया है वैसा अन्य किसी दार्शनिक ने नहीं किया। बल्कि कांट के दर्शन में ये भेद कुछ निश्चित दार्शनिक प्रयोजनों की सिद्धि के लिए प्रस्थापित किये गये हैं। अन्य दर्शनों में ये भेद केवल अनुषंगी हैं, प्रयोज्य नहीं हैं, मौलिक होना तो दूर रहा। किन्तु कांट के दर्शन में ये मौलिक हैं, इनके बिना उसके दर्शन पर विचार नहीं किया जा सकता।

कांट-दर्शन एक ओर विज्ञान को सुदृढ़ आधारों पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है और दूसरी ओर समग्र अनुभव का मानचित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में वह मानवीय अनुभव को ज्ञान, कर्म और कल्पना के क्षेत्रों में बांट देता है, जो क्षेत्र परस्पर पूर्णतः विलग हैं। क्षेत्रों का इतना निश्चित और इतनी अभेद्य दीवारों से विभाजन हमें और कहीं नहीं मिलता, न कांट के पूर्ववर्ती दर्शनों में न उत्तरवर्ती दर्शनों में। किन्तु तब भी कांट इस भेद को एक ही सिद्धान्त के भीतर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है। ज्ञेय, उसके अनुसार, मन की मुद्राओं (फोर्म्स) के संवेद (सेंसेशन) पर अंकन से प्रतिफलित प्रतिभास (फिनोमिना) है किन्तु संवेद का हेतु (कारण नहीं, कंडीशन) संवेद और मुद्राओं से अगम्य है, जिसे वह स्वलक्षण वस्तु (थिंग इन इट्सेल्फ) कहता हैं। जैसाकि हम आगे देखेंगे, यह स्वलक्षण वस्तु उसकी प्रतिभास की व्याख्या का अनिवार्य अंग है यद्यपि यह स्वयं अप्रातिभासिक है। किन्तु यही वस्तु उसके कर्म के सिद्धान्त का आरम्भ-बिन्दु है। यहाँ यह नैतिक-चेतना द्वारा अवगम्य है यद्यपि ज्ञेय नहीं है, 'ज्ञान' के उस विशिष्ट अर्थ में जिसमें वह इस शब्द का प्रयोग करता है। इसके विपरीत सौंदर्य-चेतना संवेद से ही सम्बन्धित है किन्तु यहाँ हम संवेद को विषय-बोधात्मक व्यापार (अंडरस्टैंडिंग) द्वारा ज्ञान के लिए विषय में प्रतिष्ठित नहीं कर आनन्द के लिए कल्पना के द्वारा विषयी में और उसके सुख-दुःख की अनुभूति में प्रतिष्ठित करते हैं। किन्तु यह अनुभूति सुखद वेदना से और नैतिक सुख से नितांत भिन्न है : "इस प्रकार सुखद वेदना, सुन्दर तथा शुभ सुख-दुःख की अनुभूति की तीन भिन्न प्रकारक प्रस्तुतियों को प्रकट करते हैं जिनके प्रसंग से हम इनके विषयों को, अथवा कहें इनके अवगमन की विधाओं को, परस्पर पृथक् करते हैं।"[1] इस प्रकार संवेद वस्तु-सम्बद्ध अथवा वस्तु-मूलक होने पर भी ज्ञान-विषय का तभी घटक बनता है जब वह विषय-बुद्धि का उपकरण बनता है। विषय-बुद्धि विकल्पात्मक है और संवेद के विषयकरण में मन का योगदान है। संवेद को मन का एक दूसरा योगदान देश और काल-रूप आकार हैं। ये आकार विकल्पात्मक नहीं होकर सांवेदनिक ही हैं किन्तु वस्तु-सम्बद्ध नहीं हैं, बल्कि मनोमूलक हैं।

Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसाकि हमने कहा, संवेद वस्तु-प्रदायक है, किन्तु वस्तु, जिसको यह प्रदान करता है, इससे नितांत बाह्य औप पराक् है। किन्तु बाह्य होने पर भी वस्तु से संवेद अव्यवहित रूप से सम्बद्ध होता है। संवेद और वस्तु के सम्बन्ध को कांट कारण-कार्यात्मक भी कहता है, किन्तु यह कारणता बुद्धयाकारों से अतीत प्रकार की, अबुद्धिगम्य है, क्योंकि यह कारक-वस्तु स्वलक्षण और इस प्रकार निरपेक्ष है जबकि "कारणता" बुद्धिमूलक विकल्पमात्र है। इसी से कांट अधिकांश में स्वलक्षण वस्तु को "कारण" कहने के बजाय "कंडीशन" (हेतु) कहता है।[२]

स्वलक्षण वस्तु केवल संवेद की ही हेतु नहीं होती, संवेदाकारों की भी हेतु होती है। कहना चाहिये वस्तु से युगपद्रूप से संवेद और संवेदाकारों का उद्दीपन होता है। इस प्रकार वर्ण और संस्थान दोनों अनिवार्य रूप से संयुक्त रहते हैं।[३] यद्यपि कांट केवल संवेदाकारों को ही "मानसिक" कहता है और उन्हें संवेगों से इस दृष्टि से मौलिक रूप से भिन्न मानता है कि केवल प्रथम ही उसके अनुसार प्रागनुभविक हैं जबकि दूसरे आनुभविक हैं; किन्तु "आनुभविक" नाम से ही स्पष्ट है कि संवेद भी उसके अनुसार चेतना का ही उद्दीपन है। केवल यह उद्दीपन मनोपाधिपरक नहीं है। संवेदाकार मनोपाधिक होने पर भी बाह्य वस्तु द्वारा उद्दीपन है, मानस्क्रिया नहीं है, बुद्धि अथवा बुद्धयाकार मनस्क्रियात्मक हैं।[४]

संवेदाकार प्रागनुभविक आकार होने के अतिरिक्त प्रागनुभविक संज्ञाएँ (इन्ट्यूशंस्) भी हैं। संज्ञा के लक्षण अखंडता और विशिष्टता हैं। कांट के अनुसार ये दोनों लक्षण देश और काल में भी पाये जाते हैं। देश अपने विस्तार में और काल आद्यन्त के छोरों में असीम और अखण्ड विशिष्टों के रूप में ही ग्राह्य होते हैं यद्यपि वे इन्द्रिय-ग्राह्य विषय नहीं होते।[५] इसी से वे संवेदनाएँ तो हैं किन्तु विषयों के समान "आनुभविक" नहीं होकर प्रागनुभविक हैं।[६]

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि देश और काल आनुभविक विषयों के माध्यम से और इस प्रकार खंडशः प्रकट होते हैं, इस प्रकार देश और काल का हमारा ज्ञान अनिवार्यतः विषयाश्रित है। इसके विषयाश्रित होने से यह विशिष्ट और निरपेक्ष भी नहीं कहा जा सकता। इसके विरुद्ध कांट का उत्तर है कि हमारे लिए देश विषयों के माध्यम से प्रकट होने के बजाय विषय देश के अन्तर्गत, उसमें सहभाग लेते हुए, प्रकट होते हैं। देश सब विषयों का समावेश कर उनके अतिरिक्त व्याप्त है। हम विषयों को देश में देखते हैं, देश को विषयों में नहीं। देश का आकार यूक्लीडीय है, अर्थात् विषयों के आकार उन कुछ निश्चित नियमों का अनुसरण करते हैं जो यूक्लिड ने खोजे हैं और जो देश के प्रागनुभविक और निरपेक्ष आकार के निरूपक हैं। किन्तु ये प्रागनुभविक होने पर भी विश्लेषणात्मक नहीं हैं, क्योंकि देश और काल संज्ञाएँ हैं और संज्ञाएँ होने से संश्लेषणात्मक हैं। कांट के अनुसार, सब संज्ञाओं में संवृति बहुत्व (मेनीफोल्ड ऑफ इन्ट्यूशन) का संश्लेष रहता है जो संवृति का अपना गुण नहीं होता बल्कि अतिक्रामी आरोप होता है।

देश बाह्य संवेदाकार है और काल आन्तर संवेदाकार। अर्थात् कांट के अनुसार संवेदन (सेंसीबिलिटी) दो प्रकार की है बाह्य और आन्तर। बाह्य संवेद मन की देशाकारात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृत्ति का उद्दीपन कर उसमें गृहीत होता है और आन्तर संवेद मन की कालाकारात्मक वृत्ति का उद्दीपन कर तन्निष्ठ रूप में। यहाँ आपत्ति हो सकती है कि 'आन्तर' और 'बाह्य' पद स्वयं देशात्मक हैं, इस प्रकार आन्तर संवेद अदैशिक नहीं हो सकते। किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि यहां ये पद दैशिक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हैं। कांट के अनुसार वे सब संवेद बाह्य कहे जांयगे जो देशाकार विषयों के प्रदायक हैं और वे सब आन्तर कहे जांयगे जो कालाकार विषयों के प्रदायक हैं। इस प्रकार वर्ण, काठिन्य आदि पंचेन्द्रिय-विषय देशाकार हैं। किन्तु कालाकार या आन्तर विषय कौन से हैं? कहा जा सकता है, इच्छा, खेद आदि। किन्तु ऐसा नहीं है, कांट के अनुसार वह सब, जो पूर्वापरात्मक या गत्यात्मक है, आन्तर है। इस प्रकार उसके अनुसार, चलती हुई गाड़ी अपने वर्ण और संस्थान में बाह्य संवेद को और गत्यात्मकता में आन्तर संवेद को लक्षित करती है। इतना ही नहीं, प्रत्येक बाह्य संवेद हमारे में एक अपेक्षा का और व्यतीयमानता का भाव उत्पन्न करता है, जो कांट के अनुसार काल और इस प्रकार आन्तर संवेदन का लक्षण कहा जायगा, यद्यपि कांट ने यह स्पष्ट कहा है कि आंतर संवेदन अनिवार्यतः बाह्य संवेदन पर निर्भर करता है।[९] इसके लिये उसका तर्क है कि विषय-ग्रहण के लिये संवेदों के संश्लेषण के अतिरिक्त उनका संयोजन (कंबीनेशन) भी आवश्यक होता है जो पुनरुत्पादक कल्पना (रीप्रोडक्टिव इमेजीनेशन) पर निर्भर करता है और पुनरुत्पादक कल्पना किसी स्थायी विषय के आश्रय से व्यापारित होती है।[१०] यद्यपि विषय का स्थायित्व देश पर निर्भर नहीं कर पुनरुत्पादक कल्पना पर ही निर्भर करता है किन्तु यह कल्पना देश में ही संयोजन कर सकती है, काल में नहीं। स्वयं काल को भी हम देश में रेखा खींच कर ही ग्रहण कर सकते हैं[११] क्योंकि अन्यथा कालगत पौर्वापर्य का पुनरुत्पादक कल्पनामूलक संयोजन सम्भव नहीं हो सकता जो विषयकरण के लिए अनिवार्य है।

संवेदन (संवेद-प्रदत्त और संवेदाकार) प्रभाव-ग्रहणात्मक और इस प्रकार निष्क्रिय है। दूसरे शब्दों में, संवेदन में विषय "प्रदत्त" होते हैं। किन्तु **विषयकरण** के लिए मन की एक और वृत्ति अपेक्षित है जिसे कांट विषय-बुद्धि (अंडरस्टैंडिंग) कहता है। विषय-बुद्धि मन की संवेदन से सर्वथा स्वतन्त्र वृत्ति है। यह शुद्ध आकारात्मक और सक्रिय है। आकारात्मकता की शुद्धता से अभिप्राय है कि यह संज्ञात्मक (इंट्यूटिव) नहीं है, यह संयोजन, पुनरुत्पादन, विमर्श और निर्णय के व्यापारों द्वारा संवेदों या संज्ञाओं को नियत विषयता प्रदान करती है।[१२] मनकी ये दो वृत्तियां यद्यपि पूर्णतः स्वतंत्र और परस्पर विपरीत गुण की हैं किन्तु तब भी मानव-ज्ञान में ये संयुक्त और परस्पर पूरक हैं। दूसरे शब्दों में, कांट यह स्वीकार करता है कि केवल संवेदात्मक और केवल बोधात्मक ज्ञान भी सम्भव है।[१३] किन्तु वास्तव में वह यह स्वीकार नहीं कर सकता कि केवल संवेद के स्तर पर "ज्ञान" सम्भव है, वह केवल यह स्वीकार कर सकता है कि ज्ञान के निम्नतर स्तर सम्भव हैं जो पशुओं में वास्तव में विद्यमान हैं। इसी प्रकार मात्र बुद्धि भी ज्ञान नहीं दे सकती, यह केवल विषय का सामान्य आकार है जो संवेदना में अपने को घटित पाता है। उदाहरण के लिये अति-प्रत्यक्ष (अप्पर्सेप्शन), जोकि सब संवेद-संयोजन और संश्लेषण का अतिक्रामी आधार है, अपने आप से एक रिक्त आकार, विषय का मात्र विचार, अथवा कहें विषयता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामान्य का प्रत्यय मात्र है, वास्तव विषय के घटित होने के लिए इसका संवेद से संयुक्त होना अनिवार्य है। कांट विषय-बोधात्मक संज्ञा (इंटलेक्चुअल इन्ट्यूशन) की सम्भावना पर भी विचार करता है और कहता है कि वह ईश्वर में ही सम्भव है, जहाँ विचार विषय का उत्पादक भी है।

इस प्रकार, मानव-ज्ञान में संवेद वस्तु-प्रदायक है किन्तु यह भी वस्तु-जनक नहीं है। इसके निष्क्रिय होने से यह केवल एक चित्प्रवाह है जो वस्तु के सम्पर्क से उसके अनुरूप वृत्ति में परिणत हो जाता है। वस्तु स्वयं मन से अतीत स्वलक्षण तत्त्व है। संवेद, देश-काल और विषय-विधान इन सबके मानसिक या मानसिक रचनाएँ होने से विषय और विषय-जगत् स्वरूपतः प्रातिभासिक (फिनोमिनल) है। यह जितना सही बाह्य जगत् के लिए है उतना ही सही अन्तर्जगत् के लिए भी है, क्योंकि अन्तर्जगत् भी संवेद, संवेदाकार (काल) और बौद्धिक कोटियों का व्यापार है। किन्तु यह मनोजगत् आत्मपूर्ण या आत्मनिर्भर नहीं है; विचार ज्ञानात्मक होने के लिए जबकि संवेदाश्रित है, यह ज्ञान की सीमाओं का भी उल्लेख करता है।[13] देश-काल के संवेदन के आकार होने का अर्थ यह है कि संवेद स्वयं देश-कालात्मक नहीं है। किन्तु संवेद संवेदाकार के बिना केवल कल्पना है क्योंकि संवेद संवेदाकार के साथ ही घटित हो सकता है। किन्तु संवेदाकार के संवेद नहीं होने से संवेदाकार अतिक्रामी कोटि हो जाता है जो संवेद से सिद्धान्ततः वियुक्त है। अतिक्रामी आकार, वे चाहे संवेदना (सेंसीबिलिटी) के हों चाहे बुद्धि के, संवेद के जनक नहीं हो सकते; इस प्रकार संवेद का उत्पादक मनोबाह्य होना अनिवार्य हो जाता है जो सब आकारों से परे और इस प्रकार असंवेद्य और अविज्ञेय है, अबोधगम्य यद्यपि नहीं है। कांट में 'ज्ञेय' और 'बोधगम्य' (इन्टेलिजिबल) नितांत भिन्न कोटियां हैं। ज्ञेय (नोएबल) उसके लिए केवल वे विषय ही हैं जो संवेद-समष्टि के बुद्धि द्वारा संयोजन से रचित होते हैं जबकि बोधगम्य वे विषय हैं जो शुद्ध प्रत्ययगम्य (ऑब्जेक्ट्स ऑफ रीज़न) हैं। किन्तु स्वलक्षण वस्तु की बोधगम्यता या प्रत्येयता का यह अर्थ नहीं है कि वह अपनी आन्तर संरचना में बोधगम्य या विमृश्य है, वह केवल ज्ञान की सीमाओं से अतिक्रामी के रूप में ही विमृश्य है। अपनी आंतर संरचना में विमृश्य केवल युक्ति, विकल्प और प्रत्यय हैं। विषय-बुद्धि (अंडरस्टेंडिंग) के नियम और विमर्श अपने-आप में पूर्ण नहीं हैं क्योंकि वे विशिष्ट संवेदों के विशिष्ट संयोजनों को केवल एक सीमित संदर्भ में ही व्यवस्था देते हैं, जो सन्दर्भ संवेद और संवेदाकार से निर्धारित होता है। किन्तु बुद्धि की यह अनिवार्य अपेक्षा है कि व्यवस्था पूर्ण और निरपेक्ष हो। उदाहरणतः विषय-बुद्धि का यह एक नियम है कि प्रत्येक घटना का कोई कारण होना चाहिये, किन्तु यह नियम एक पूर्ण व्यथस्था नहीं दे सकता क्योंकि यदि प्रत्येक घटना का कोई कारण रहेगा तो घटनाओं की अनन्त श्रृंखला माननी होगी और इस प्रकार व्यवस्था पूर्ण नहीं होगी। इसलिये इस श्रृंखला से बाहर किसी सत्ता की अवधारणा करना आवश्यक है जो घटना हुए बिना कारण हो सके। "यह कारण विषय-बुद्धि-मूलक नहीं हो सकता क्योंकि विषय-बुद्धि कारण-श्रृंखला के बाहर नहीं जा सकती। विषय-बुद्धि केवल व्यवस्थात्मक है और यह संवेदों को संयोजित और व्यवस्थित करती है और संवेदन केवल विशिष्टों को ही प्रदान कर सकता है। संवेद हमें बाहर से मिलते हैं और मन इनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आंतर स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ निर्धारण नहीं कर सकता। विषय-बुद्धि अथवा ज्ञानात्मक अवधारणाएँ केवल प्रदत्त विशिष्ट संवेदों को व्यवस्थित करती होने से केवल उनका उनके तत्त्व में निर्धारण नहीं करतीं। इसलिए हम यह स्वतःसिद्ध मान कर चल सकते हैं कि निरपेक्ष प्रत्यय अथवा सिद्धान्त (प्रिंसिपल) से पूर्णतः निर्धार्य विशिष्ट संवेदात्मक नहीं हो सकते, क्योंकि वे इस प्रकार निर्धार्य ही नहीं हैं। निरपेक्ष अथवा पूर्णतः सामान्य प्रत्यय से इस प्रकार निर्धार्य और सीधे निगमन द्वारा ज्ञेय केवल विषय-बोधात्मक प्रत्यय ही हो सकते हैं। क्योंकि वर्गणाएँ, जोकि विषय-बोधात्मक प्रत्यय हैं और सिद्धान्त, जोकि बुद्धि के प्रत्यय हैं, एक ही क्षेत्र के अन्तर्गत हैं, इसलिए यह सोचना अयुक्तिसंगत नहीं होगा कि विषय-बुद्धिपरक प्रत्यय पूर्णतः बुद्धि के प्रत्ययों पर निर्भर करते हैं। बुद्धि की यह अनिवार्य अपेक्षा है कि विषय-बुद्धि द्वारा उपलब्ध ज्ञान अन्ततः कुछ परमतम सिद्धान्तों पर प्रतिष्ठित होना चाहिये, क्योंकि केवल ऐसा होने पर ही बुद्धि का मूल प्रत्यय, ज्ञान की एक पूर्ण व्यवस्था का प्रत्यय, चरितार्थ हो सकता है।"[१७] "यदि हम विषय-बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान के सम्पूर्ण क्षेत्र पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि इसके प्रति बुद्धि की अभिवृत्ति की विलक्षणता इस बात में है कि यह इसे व्यवस्था देना चाहती है, अर्थात् कि यह इसके अंशों में किसी एक सिद्धान्त के अनुसार सम्बन्ध देखना चाहती है। बुद्धि का यह एकत्व सदैव एक प्रत्यय (आइडिया) को, अर्थात् ज्ञान के एक पूर्ण समग्र को, पूर्वकल्पित करता है, ऐसा समग्र जो अंशों के निर्धारित ज्ञान से पूर्वगामी है और जिसमें इस समग्र में प्रत्येक अंश का स्थान और अन्यों से सम्बन्ध निश्चित रहता है। इस प्रकार यह प्रत्यय विषय-बुद्धि (अंडरस्टैंटिंग) द्वारा उपलब्ध ज्ञान में एक पूर्ण एकत्व को अभ्युपगमित करता है जिससे यह ज्ञान केवल विभिन्न अणुओं का आगंतुक समवाय मात्र नहीं रहता बल्कि अनिवार्य नियमों द्वारा सुगठित एक व्यवस्था हो जाता है।"[१८] "इस प्रकार बुद्धि की अतिक्रामी अवधारणा किसी भी प्रस्तुत निर्धारित (डिटर्मिंड) वस्तुस्थिति के निर्धारण की सब अवस्थाओं का योग है। अब क्योंकि केवल अनिर्धार्य (इन्डिर्मिनेबल) ही निर्धारकों के कुल योग को सम्भव कर सकता है, अथवा दूसरे शब्दों में, निर्धारकों का समग्र स्वयं अनिर्धार्य रहता है, इसलिए बुद्धि की किसी भी शुद्ध अवधारणा (कांसेप्ट) की व्याख्या अनिर्धारित की अवधारणा द्वारा ही सम्भव हो सकती है और इसका अवधारण निर्धारित वस्तुमूलक संश्लेषणों के आधार के रूप में करना आवश्यक हो जाता है।"[१९]

बुद्धि की अवधारणा के तीन मुख्य वर्ग हैं जोकि इसी सिद्धान्त पर आधारित हैं। प्रत्येक में बुद्धि यह कल्पना करती है कि क्योंकि निर्धारित वस्तु प्रदत्त है इसलिए निर्धारकों का समग्र, अर्थात् अनिर्धारित, भी प्रदत्त होना चाहिए। परिणामस्वरूप तीन प्रत्यय (आइडियाज़) उत्पन्न होते हैं : (१) ज्ञाता विषयी के निरपेक्ष निर्धारक का प्रत्यय, अर्थात् विचार की सब क्रियाओं के निरपेक्ष निर्धारक के रूप में आत्मा का प्रत्यय; (२) विषय (जगत्) के निरपेक्ष निर्धारक का प्रत्यय, ब्रह्मांडीय प्रत्यय, (कोस्मोलोजीकल आइडियाज़); तथा (३) सत्ता मात्र के निरपेक्ष निर्धारक का प्रत्यय, अर्थात् ईश्वर का प्रत्यय। कांट के अनुसार बुद्धि का यह व्यापार अव्यापारेषु है, क्योंकि निर्धारण की सीमाओं के बाहर स्थित निर्धारक का निर्धारण वदतोव्याघात है। किन्तु बुद्धि की यह एक स्वाभाविक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिवृत्ति है कि वह असम्भव होने पर भी सब क्षेत्रों का निर्धारण करना चाहती है। इसी से कांट के अनुसार, तत्त्वमीमांसा असम्भव है, किन्तु मनुष्य तब भी उससे विरत नहीं होता। कांट के अनुसार, हमारे ज्ञान का क्षेत्र अनिवार्यतः विषय-बुद्धिमूलक संयोजनों-संश्लेषणों तक परिसीमित है और इस बुद्धिमूलक संयोजनों-संश्लेषणों की विषय-वस्तु (मैटर) केवल संवेदनों से ही उपलब्ध हो सकती है। दूसरे शब्दों में, संवेद विषय-बुद्धि द्वारा संयोजित होकर ज्ञान-ग्राह्य विषयों के रूप में परिणत होते हैं और विषय-बुद्धि के व्यापार का एकमात्र उचित क्षेत्र संवेद ही है। शुद्ध बुद्धि (रीज़न) का उपयुक्त क्षेत्र इन विषय-बुद्धिमूलक संयोजनों के स्वरूप का निरूपण है और अविज्ञेय की अविज्ञेयता को प्रकट कर यह देखना है कि क्या इस क्षेत्र में किसी अन्य प्रकार से संचार सम्भव है? कांट के अनुसार, सम्भव है और वह है नैतिक कर्म के स्वरूप-निरूपण के द्वारा।

× × × ×

नैतिक कर्म संकल्प की स्वतन्त्रता को पूर्वापेक्षित करता है। नैतिक कर्म एक स्वायत्त और निरपेक्ष नैतिक नियम (मॉरल लॉ) को सत् स्वीकार कर प्रवृत्त होता है। कांट के अनुसार नैतिक नियम की सत्ता एक असंदिग्ध तथ्य है। इसी प्रकार नैतिक कर्म और नैतिक निर्णय की साधारता और युक्तता भी तथ्य है। ये दोनों तथ्य परस्पर की पूर्वापेक्षा करते हैं। "नैतिक नियम शुद्ध बुद्धि के एक तथ्य के रूप में प्रदत्त है जिसके सम्बन्ध में हम प्रागनुभविक रूप से चेतन होते हैं और जो अनिवार्यतः सत्य है।"[२०] "इस आधारभूत सिद्धान्त को हम शुद्ध बुद्धि (रीज़न) का तथ्य कह सकते हैं।"[२१] "यह नैतिक नियम, जिसकी प्रामाणिकता स्वतःसिद्ध है, न केवल स्वतन्त्रता की सम्भावना को ही सिद्ध करता है बल्कि यह भी कि यह स्वतन्त्रता उन जीवों को वस्तुतः उपलब्ध है जो इस नियम से अपने को प्रतिबद्ध मानते हैं।"[२२] किन्तु संकल्प-स्वातन्त्र्य की तथ्यता के लिए इसकी तार्किक सम्भावना होना आवश्यक है और उसके लिए कांट ने अपने ज्ञान के सिद्धान्त द्वारा पथ प्रशस्त किया। ज्ञान संवेद और संवेदों की व्यवस्थापक बुद्धि (अति प्रत्यक्ष=अप्पर्सेप्शन तथा वर्गणाओं=केटेगरीज़) का व्यापार है और यहीं तक सीमित है। कारणता इस व्यवस्था का ही एक अनिवार्य अंग है। इस प्रकार कारणता प्रातिभासिक है, यह स्वरूप सत् (नाउमेना) का लक्षण या उसमें मूलित नहीं है। इस प्रकार स्वरूप-सत् के रूप में मनुष्य कारणता से निबद्ध नहीं है यद्यपि प्रतिभास के रूप में है। इस प्रकार वस्तु-सत् के रूप में उसकी कारण-शृंखला से अतीतता उसमें संकल्प के स्वातन्त्र्य की सम्भावना को सिद्ध करती है। किन्तु तार्किक सम्भावना स्वातन्त्र्य को विषय-वस्तु (कांटेंट) नहीं दे सकती, "क्योंकि जब तक हम नैतिकता और स्वातन्त्र्य की निश्चित अवधारणा नहीं बना पाते तब तक एक ओर हम इसका आभास भी नहीं पा सकते कि स्वरूप-सत् (नाउमेना) का, जोकि प्रतिभास का आधार है, क्या अर्थ है, दूसरी ओर यह सन्देहास्पद प्रतीत होता है कि इसकी कोई भी अवधारणा बनाना सम्भव हो सकता है। क्योंकि हम देख चुके हैं कि शुद्ध विषय-बुद्धि की सब अवधारणाएँ प्रतिभास को लक्षित करती हैं।"[२३] इस प्रकार ज्ञान जिस ओर मात्र संकेत करता है कर्म उसे विज्ञापित और प्रकाशित करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहाँ द्रष्टव्य है कि कर्म का सम्पादन प्रातिभासिक जगत् में ही हो सकता है और इस प्रकार यह कारण-कार्य-नियमाधीन है। उदाहरण के लिए, यदि मैं पड़ौसी की सहायता करना चाहता हूँ तो उस प्रसंग में मेरी इच्छा आन्तर संवेदना (इनर सेंसिबिलिटी) के जगत् में घटित होगी और कार्य मेरे शरीर की क्रिया और उससे जनित प्रभावों के रूप में घटित होंगे। इसी प्रकार इसके फल सुख-दुःख आदि आन्तरिक कारण-कार्यों के रूप में फलित होंगे। इस प्रकार संकल्प का कार्यान्वयन पूरा का पूरा कारण-कार्यात्मक जगत् में ही होता है। किन्तु इसका स्वरूप, इसका तत्त्व, नैतिक नियम के प्रति प्रतिबद्धता में है और केवल यह प्रतिबद्धता ही इस कार्य को नैतिक और उचित का आयाम देती है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यह प्रतिबद्धता इच्छा की प्रतिबद्धता नहीं है, इसमें मेरी रुचि-अरुचि, सुख-दुःख और इच्छा-अनिच्छा (जोकि सब संवेदनामूलक और अतएव कारण-कार्यात्मक अथवा प्रातिभासिक हैं) का प्रश्न नहीं है क्योंकि ये सब संस्कार-मूलक हैं और संस्कार कारण-कार्यात्मक है। कांट यहाँ तक स्वीकार करता है कि यदि हमें किसी व्यक्ति के प्रयोजनों के सम्बन्ध में सब प्रासंगिक तथ्यों का ज्ञान है तो हम किसी भी काल में और इस प्रकार सदा के लिए उसके कार्यों को उसी प्रकार निश्चित रूप से निगमित कर सकते हैं जिस प्रकार किसी वस्तु के भार, गति और बाह्य अवरोध के परिमाण–ज्ञान से उसकी किसी भी काल-क्षण पर गति को निगमित कर सकते हैं।[२४] किन्तु तब भी कांट संकल्प को स्वतन्त्र मानता है। कांट का यह प्रतिपादन विचित्र और समस्यात्मक प्रतीत हो सकता है क्योंकि यदि संकल्प स्वतन्त्र है तो वह अपने निष्पाद्य कार्यों को भी स्वतन्त्रतया ही निर्धारित करेगा। किन्तु इस पर कांट का उत्तर है कि यह आपत्ति दो सर्वथा स्वतन्त्र क्षेत्रों को घपलाने के कारण है। सब प्राकृतिक विषय—बाह्य या आन्तर—निरपवाद रूप से अपरिवर्तनीय नियमों के अधीन हैं किन्तु अप्राकृतिक, संवेदनेतर, क्षेत्र में इन नियमों के लिए कोई स्थान नहीं है। नैतिक नियम हमारी सत्ता के इस परम अतिक्रामी तत्त्व से ही सम्बन्धित हैं। इस पक्ष के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाना कि यह कैसे सम्भव है? किस प्रकार नैतिक नियम (मॉरल लॉ) संकल्प का नियोजन कर सकता है? या बुद्धिगम्य कारण (इंटेल्लिजिबल कॉज़) किस प्रकार बंधक कारण हुए बिना संकल्प का कारण हो सकता है, अवैध है, क्योंकि ये प्रश्न विषय-बुद्धि के क्षेत्र के हैं जिसका उचित व्यापार केवल संवेद के विषयकरण के नियम प्रस्तुत करना है, स्वलक्षण वस्तु, या कहें निरपेक्ष सत् के क्षेत्र में संचरण नहीं है। कांट के इस तर्क को एक उदाहरण से समझा जा सकता है: हम गाय को चारा देते हैं और दुहते हैं, आवश्यकता होने पर पीटते भी हैं। किन्तु उसी गाय को अपने भोजन का प्रथम ग्रास पूजा के रूप में अर्पित करते हैं, उसकी माला-अक्षत से पूजा करते हैं। गाय की इन दो प्रसंगों में दो सर्वथा भिन्न सत्ताएँ हैं और एक का दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। इनमें गाय की केवल प्रथम सत्ता प्रातिभासिक है।[२५] इसी प्रकार, एक चित्र दो सर्वथा भिन्न देशों में स्थित होता है—एक देश का केन्द्र द्रष्टा होता है और चित्र के दैशिक सम्बन्ध देखने वाले के दृक्केन्द्र से निर्धारित होते हैं और दूसरे देश का केन्द्र चित्र की अपनी अन्तर्गत लय या सामरस्य में होता है जो चित्र की प्रत्येक रेखा के आकार और भंग का निर्धारण करता है। इनमें चित्र की प्रथम सत्ता प्रातिभासिक हैं जबकि दूसरी कलात्मक है।[२६]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु इन उदाहरणों के बावजूद कांट के सिद्धान्त को समझने में कुछ गम्भीर कठिनाइयाँ हैं—विषय के निर्माण में संवेद और बुद्धि दो सर्वथा भिन्न और विपरीत तत्त्व परस्पर संयुक्त होते हैं। संवेद असंवेद्य और मनोबाह्य स्वलक्षण वस्तु के तथा मन के बीच किसी अलक्ष्य सम्पर्क का फल है और इस सम्पर्क से उत्पन्न होकर बुद्धि के आकारों का विषय बनता है। किन्तु इनमें समन्वय किस प्रकार स्थापित होता है ? क्यों ऐसा है कि संवेद कभी इन आकारों से असमंजस नहीं होता और एक रहस्य ही बना रहता है ? इससे भी अधिक जटिल पहेली यह है कि बुद्धि का स्रोत या उपादान क्या है ? मन या स्वलक्षण वस्तु ? यदि मन है तो ऐसा क्यों है कि मन अपनी एक विधा में पूर्णतः निष्क्रिय दर्पण मात्र है और दूसरी विधा में मात्र क्रिया है ? यदि यह उपादान मानसिक नहीं है तो क्या यह स्वलक्षण वस्तुगत है ? और क्या यह स्वलक्षण वस्तु जड़ है ? बुद्धि के उपादान के सम्बन्ध में कांट बिल्कुल मौन है, किन्तु उसकी व्यवस्था में इसका उपादान स्वलक्षण वस्तु को मानना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि बुद्धि जबकि विषय-जगत् के संयोजन में संवेद की अपेक्षी है अपने शुद्ध व्यापार मे उसकी अपेक्षी नहीं होकर स्वलक्षण वस्तु का भावन (एप्रीहेंड) करती है। इस भावन में यह स्वलक्षण वस्तु के उस व्यापार की नियोजक बनती है जो नैतिक कर्म का मूल है। यहाँ आपत्ति हो सकती है कि बुद्धि अपने शुद्ध व्यापार में स्वलक्षण वस्तु को विज्ञापित करती है, क्योंकि कांट ने स्वलक्षण वस्तु को बोधगम्य कारण कहा है, और यदि यह उसकी ज्ञापक है तो यह उसकी कार्य नहीं हो सकती। किन्तु ऐसा नहीं है। कांट इस स्वलक्षण वस्तु को जबकि बोधगम्य (इन्टेलिजिबल) कहता है, वह उसे ज्ञेय नहीं मानता है। बुद्धि के लिए वह विषय नहीं है, उसके लिए वह केवल ज्ञान का उपादान कारण है जिसका बोध स्वतन्त्र संकल्प के रूप में होता है। किन्तु यह बोध "विषय" के रूप में नैतिक नियम का भावन करता है, इसे अविषय का बोध भी कह सकते हैं। यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि स्वलक्षण वस्तु नैतिक नियम का उपादान है या कि नैतिक नियम स्वतन्त्र संकल्प का आक्षेप है। सम्भवतः यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि यह संकल्प का, जोकि स्वलक्षण वस्तु का ही दूसरा नाम है, आकार है और इस प्रकार वस्तुगत है।[२७]

किन्तु इसका अर्थ होगा कि मनुष्य अपने स्वरूप में द्विधा विभक्त है—एक ओर वह अनिवार्यतः स्वतन्त्र है और दूसरी ओर अनिवार्यतः शृंखला-बद्ध; और यद्यपि शृंखलाएँ उसके अपने द्वारा ही निर्मित हैं किन्तु उसके पास इनसे मुक्ति का कोई उपाय नहीं है, बल्कि, जहाँ तक वह जानता और जान सकता है, वह अनिवार्यतः शृंखला-बद्ध है, यह केवल उसका विश्वास और आस्था है कि अपने निगूढ़ स्वरूप में, या अपने मूल तत्त्व में, वह स्वतन्त्र है।

यहाँ दूसरा समाधान यह दिया जा सकता है कि क्योंकि मनुष्य अपने मूल तत्त्व में स्वतन्त्र है इसलिये अपनी शृंखला का, अपने प्रातिभासिक स्वरूप का, भी वह स्वतन्त्रतः ही विधान करता है। बुद्धि स्वरूपतः कारण-निबद्ध नहीं है, बल्कि अपने जिस व्यापार में वह कारणता को जन्म देती है उसी में उसका अतिक्रमण भी करती है, क्योंकि इसकी ज्ञानात्मक विधा (अंडरस्टैंडिंग) इसकी स्वाभाविक विधा नहीं है, केवल इसकी संवेद से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिसीमित या निर्धारित विधा है। अपने मूल व्यापार में यह इस परिसीमन को निरूपित कर इसका अतिक्रमण करती है और इसे उस कर्म से नियुक्त और प्रवर्तित देखती है जिसका स्वरूप स्वातन्त्र्य है। उदाहरणतः कांट के अनुसार शुद्ध बोधात्मकता में बुद्धि काल के आकार के अधीन नहीं है और परिणामतः न ही वह काल-क्रम में घटित होती है।[२८] वह आगे आनुभविक-विषयात्मक विधा (एंपिरिकल केरेक्टर) को बोधात्मक विधा (इंटेलिजिबल केरेक्टर) की योजना या संस्थान (स्कीम) कहता है और तब कहता है कि इस बोधात्मक विधा में कोई पहले-पीछे नहीं हो सकता।[२९]

इस प्रकार कांट के अनुसार विषयात्मक विधा बोधात्मक विधा का केवल एक पक्ष हो जाती है। इसकी पुष्टि इससे और होती है कि उसके अनुसार "स्वतन्त्र संकल्प में घटनाओं की (प्रातिभासिक जगत् में कारण-कार्यात्मक) शृंखला आरम्भ करने की शक्ति है। स्वयं बोध में किसी घटना का आरम्भ नहीं होता; (बोध) प्रत्येक प्रयोजनात्मक (वालंटरी) कर्म का अनिर्धारित निर्धारक है इसलिए काल में इससे पूर्व कोई निर्धारक कारण नहीं हो सकता। निश्चय ही इसके कार्य का प्रातिभासिक घटना-शृंखला के रूप में आरम्भ काल में होता है, किन्तु इस प्रातिभासिक शृंखला में कभी भी प्रथम घटना नहीं हो सकती,"[३०] शुद्ध बुद्धि में ही हो सकती है।

इस प्रकार कांट में चिन्तन की इस दिशा का स्पष्ट आभास मिलता है कि मनुष्य विषयात्मक रूप से निबद्ध होने पर भी स्वरूपतः स्वतन्त्र और दिव्य है। दूसरे शब्दों में, वह स्वरूपतः अनिबद्ध है और बन्धन केवल प्रातिभासिक है।

कांट पर आरोप किया जाता है कि उसने मानव के इस परम स्वरूप को अविज्ञेय और इस प्रकार विश्वास या आस्था का विषय कह कर उस सम्मान से वंचित कर दिया है जो उसने विज्ञान को दिया है। किन्तु वास्तव में यह सही नहीं है। इस क्षेत्र को वह "ज्ञान" से बाहर केवल इसलिये रखता है क्योंकि 'ज्ञान' शब्द का उसने एक सीमित अर्थ में ही प्रयोग किया है। जैसाकि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है, ज्ञान उसके अनुसार केवल विषयात्मक है और विषय संवेद-मूलक है। किन्तु संवेद के विषयकरण के लिये बुद्धि भी अनिवार्य है जो शुद्ध बुद्धि, या कहें बोध सामान्य, का विषयाभिमुख व्यापार है। इसीसे शुद्ध बुद्धि का अपना निर्बन्ध क्षेत्र, जिसे उसने नैतिक कर्म का क्षेत्र कहा है, 'ज्ञान' के उपर्युक्त सीमित अर्थ में ज्ञान का क्षेत्र नहीं है किन्तु वह 'ज्ञान' के व्यापकतर अर्थ में ज्ञान का क्षेत्र ही है। इसे प्रज्ञा का क्षेत्र कहा जा सकता है। यद्यपि उसकी "शुद्ध बुद्धि की मीमांसा" में यह उतना स्पष्ट नहीं है किन्तु "कर्म-बुद्धि की मीमांसा" में यह स्पष्ट है। उसके अनुसार "**स्वातन्त्र्य की ये वर्गणाएं** (केटेगरीज़)—जिन्हें यहाँ हम यह नाम उन विषय बोधात्मक (थ्योरैटिकल) वर्गणाओं को ध्यान में रख कर दे रहे हैं जोकि भौतिक प्रकृति की वर्गणाएँ हैं—इन दूसरी वर्गणाओं से इस दृष्टि से स्पष्ट लाभ में हैं कि दूसरी केवल विचार के वे आकार हैं जो विषयों का निरूपण प्रत्येक सम्भव संवेदना (इंट्यूशन) सम्बन्धी सामान्य प्रत्ययों के द्वारा अनिश्चित रूप से करती हैं; इनके विपरीत प्रथम वर्गणाएँ **स्वतन्त्र वरणात्मक संकल्प** से (जिसके ठीक अनुरूप संवेदनाएँ प्रस्तुत नहीं की जा सकतीं किन्तु जिसका आधार एक शुद्ध कर्मात्मक नियम है, जो कि उन प्रत्ययों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को उपलब्ध नहीं है जो हमारी विज्ञप्त्यात्मक योग्यताओं (कोग्नीटिव फैकल्टीज़) के विषय बोधात्मक प्रयोग से सम्बन्धित हैं) निर्धारित होती हैं; इसलिए ये संवेदन के आकार (देश और काल), जोकि स्वयं बोध के अन्तर्गत नहीं हो कर अन्य स्रोत, संवेद-वृत्ति, से उपलब्ध होते हैं, मूल कर्मात्मक प्रत्यय हैं और परिणामतः शुद्ध संकल्प के आकारों में प्रतिष्ठित हैं जो कि शुद्ध बोध के ही अन्तर्गत हैं और इस प्रकार स्वयं विचारणा-वृत्ति (थिंकिंग फैकल्टी) के अन्तर्गत हैं। इसलिये, शुद्ध कर्मात्मक बोध के प्रत्ययों का सम्बन्ध **संकल्प के निर्धारण से** है (कर्म-सम्पादन की) उन भौतिक वस्तु-स्थितियों से नहीं **जो अपने प्रयोजनों की सिद्धि के लिए अनिवार्य** हैं, इसलिए कर्मात्मक प्रागनुभविक सिद्धान्त स्वातन्त्र्य के परम सिद्धान्त के सन्दर्भ में प्रज्ञा की अव्यवहित सिद्धि का लाभ करते हैं। उन्हें अपनी सार्थकता की प्राप्ति के लिये संवेदनों की अपेक्षा नहीं करनी होती क्योंकि उनके सम्बन्ध में यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि वे अपने निर्देश्य विषय (संकल्प के आशय या विषय) की सत्ता का स्वयं सर्जन करते हैं, जोकि विषय-बोधात्मक प्रत्ययों के लिये सम्भव नहीं है।"[३१]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि "ज्ञान" कांट के अनुसार वास्तव में विज्ञप्ति (काग्नीशन) का अनेक में से केवल एक व्यापार है जो व्यापार एक विदेशी तत्त्व से बाधित है, जबकि विज्ञप्ति स्वयं में निर्बन्ध ज्ञान-व्यापार है।

यहाँ बुद्धि के विषयात्मक व्यापार को भी एक सर्वथा भिन्न प्रकार से समझा जा सकता है जो वास्तव में कांट के प्रतिपादन से आपादित होता है किन्तु जिसे कांट ने विज्ञान के पूर्वाग्रह के कारण नहीं देखा। कांट प्रातिभासिक रूप से हमें कारण-निबद्ध देखता है, जोकि वस्तुतः हम हैं। किन्तु कारणता विषय-बुद्धि की अपनी वृत्ति या आकार है, संवेदना या संज्ञा का लक्षण नहीं है। अवश्य यह उस बुद्धि का ही आकार है जो विषयोन्मुख है और अपने व्यापार में संवेद से परिसीमित है, किन्तु कारणता संवेदमूलक नहीं है, यह बुद्धि द्वारा विषयात्मक व्यापार में कल्पित है। और बुद्धि के स्वरूपतः स्वतन्त्र होने से यह कहना ही संगत होगा कि वह कारणता की कल्पना स्वतन्त्रतया करती है, अर्थात् कारणता कारण-शृंखला से अनिर्बद्ध आत्म का स्वतन्त्र निष्पादन है। इस प्रकार कांट के अनुसार यद्यपि आत्म विषय-बोध के लिए संवेद-परतन्त्र है किन्तु यह निबद्ध स्वयं अपनी कल्पना से ही है, जिसके सर्जन में वह स्वतन्त्र है। यद्यपि कांट अपने वैज्ञानिक पूर्वाग्रह के कारण अपनी अन्तर्दृष्टि के इस वास्तविक अर्थ को देख नहीं पाता किन्तु उसके निम्न प्रतिपादन में इसके संकेत देखे जा सकते हैं: "हमारे स्वयं के ज्ञान के लिए उस **विचारात्मक कर्म** (एक्ट ऑफ थॉट) की आवश्यकता है जो प्रत्येक सम्भव संवेदनात्मक बहुत्व को अतिप्रत्यक्ष (अप्पर्सेप्शन) के एकत्व में, जोकि संवेदना की निर्धारक विधा (डिटर्मिनेंट मोड) है, संयोजित करता है जिसके द्वारा यह बहुत्व प्रदत्त (गोचर विषय रूप) होता है। इससे यह आपादित होता है कि यद्यपि मेरा प्रातिभासिक अस्तित्व वास्तव में प्रतीति मात्र नहीं है (भ्रान्ति-रूप होना तो दूर की बात है) किन्तु मेरे (इस) अस्तित्व का निर्धारण आन्तर संवेदन के आकार (काल) के माध्यम से और उसके अनुरूप ही घटित हो सकता है, जो कि आन्तर संवेदना की वह विशिष्ट विधा है जिसके विषयकरण के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए वह संवेद-बहुत्त्व प्रस्तुत होता है जिसका विधान मैं करता हूँ। **इससे मुझे अपने तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता, केवल अपने उस रूप का ही ज्ञान हो सकता है जो मुझे प्रस्तुत होता है।** इस प्रकार आत्म की चेतना (कांश्यसनैस ऑफ दि सेल्फ) **आत्म के ज्ञान से सर्वथा भिन्न** है, उन सब वर्गणाओं के बावजूद जो कि एक अतिप्रत्यक्ष (अप्पर्सेप्शन) में संवेद-बहुत्व के संयोजन द्वारा विषय-सामान्य के विचार की घटक बनती हैं। जिस प्रकार मुझे अपने से पृथक् विषय के ज्ञान के लिए उसके सामान्य विचार (धारणा) के अतिरिक्त अपने भीतर संवेद-बहुत्त्व की आवश्यकता होती है जिसके द्वारा कि मैं अवधारणा को निर्धारित करता हूँ, उसी प्रकार मुझे अपने ज्ञान के लिए अपनी चेतना के अतिरिक्त अपने भीतर **संवेदना** की आवश्यकता होती है जिसके द्वारा मैं इस विचार का निर्धारण करता हूँ। **मेरा (तात्त्विक) अस्तित्व उस बुद्धितत्त्व के रूप में है जो केवल मात्र संवेद-संयोजन की अपनी शक्ति के प्रति चेतन है,** किन्तु संयोज्य संवेद-बहुत्त्व के प्रसंग में मैं तत्परतन्त्र हूँ क्योंकि यह बहुत्त्व कालात्मक सम्बन्धों के अनुसार ही, जोकि बोधमूलक प्रत्ययों या वर्गणाओं के क्षेत्र से बाहर हैं, संवेद्य हो सकता है। इस प्रकार का बुद्धि-तत्त्व केवल अपने को बुद्धि-बाह्य संवेदनाओं के माध्यय से प्रातिभासिक रूप में ही जान सकता है, उस प्रकार से नहीं (जिस प्रकार से यह तब जान पाता) यदि इसकी संवेदना बुद्धि-मूलक होती।"[३२] यद्यपि इस अनुच्छेद का सन्दर्भ उससे भिन्न है जिसमें यहाँ इसका उपयोग किया जा रहा है किन्तु इसके रेखांकित अंशों से यह स्पष्ट है कि कांट प्रातिभासिक को आत्म के स्वतन्त्र व्यापार के रूप में ही देखता है और यह प्रातिभासिक इस आत्म को केवल प्रातीतिक रूप से, अधिक से अधिक कहें, प्रातिभासिक रूप से, निबद्ध करता है, तात्त्विक रूप से नहीं। इतना ही नहीं, इसके बुद्धि-व्यापार का **कार्य** होने से इसे तत्त्वतः नैतिक संकल्प से भिन्न नहीं किया जा सकता सिवाय इस बात के कि नैतिक संकल्प नैतिक नियम के शुद्ध आत्म-तन्त्र आकार के अधीन रहता है और विषयकरण-व्यापार संवेद-परतन्त्र होता है।

काँट की यह व्याख्या उसकी दो मीमांसाओं (क्रिटीक्स) के बीच न केवल एक सुदृढ़ सेतु स्थापित कर देती है बल्कि उन्हें एक ही स्रोत में भी स्थापित कर देती है। किन्तु काँट की योजना में एक महत्त्वपूर्ण कठिनाई यह है कि इसमें संवेद और बुद्धि नितांत भिन्न और परस्पर विपरीत हैं यद्यपि ये परस्पर पूरक और सहयोगी हैं। किंतु यह सहयोग आत्मा के अनिवार्य बन्धन में प्रतिफलित होता है। किंतु क्या इससे उसकी मुक्ति संभव है? जैसाकि हमने पीछे देखा, काँट के अपने प्रतिपादन में इसके लिए कोई संकेत नहीं है कि यह मुक्ति संभव है, क्योंकि उसके अनुसार संवेदन से यह सहयोग, विषयोन्मुखता, बुद्धि का उतना ही सहज धर्म है जितना नैतिक नियम-मूलक स्वातंत्र्य। बल्कि यदि यह कहा जाय कि बुद्धि के दो आकार हैं—विषयाकार और नीति-नियमाकार (फोर्म आफ मॉरल लॉ) और आत्म का स्वातंत्र्य द्वितीय में केवल इस बात में है कि यह आकार कारण-कार्यात्मक नहीं है, तो यह काँट के अधिक अनुकूल होगा। किंतु यह द्रष्टव्य है कि बुद्धि का विषयाकार उसके संवेद से सहयुक्त होने के कारण है और संवेद बुद्धि से बाह्य और उसका प्रतिरोधक है। किंतु काँट की व्याख्या का दूसरा सूत्र पकड़ते हुए कहा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता है कि बुद्धि का विषयकरण-व्यापार भी कर्म होने से इसकी भी प्रतिष्ठा उसी आत्म में है जिसका तत्त्व संकल्प है, इसलिये, उसका संवेद से सहयोग केवल उसका स्वतंत्र वरण है और यह सहयोग उसके तत्त्व को कभी आविल नहीं करता, केवल उसे प्रातीतिक रूप से आबद्ध करता है। इस कारण आत्म स्वरूपतः स्वतंत्र ही है और वह प्रतिभास को अपने सहयोग से जब भी चाहे वंचित कर निरस्त कर सकता है।

फिख्ते ने काँट की कुछ इसी प्रकार की व्याख्या दी है यद्यपि बहुत अनुपयुक ढंग से। उसके अनुसार आत्म (इगो) स्वरूपतः एक संकल्प है किन्तु वह अपने को बाह्यतः भौतिक तत्त्व से प्रतिरुद्ध पाता है। इस सीमा से अपने को मुक्त करने के लिए वह इस अबोध्य सत् (भौतिक प्रकृति) के स्थानापन्न के रूप में संवेद और विषय-बोध को प्रति-स्थापित करता है। निश्चय ही आत्म तब भी बद्ध या परिसीमित ही रहता है, किन्तु क्योंकि यह सीमा उसकी अपनी सृष्टि है इसलिये इसका अधिष्ठाता वह स्वयं होता है और इसे वह अधिक से अधिक जानकर, इसका क्रमशः बोध में अन्तर्भाव कर इस स्वयं आरोपित बन्धन का निरास कर सकता है।"[33] किन्तु इस व्याख्या में यह दोष है कि यह काँट के स्पष्ट निषेध के बावजूद संवेद को भी बोधगम्य की कोटि में रख देती है।

फिख्ते यह तर्क दे सकता है कि संवेद मन (चित्) की ही वृत्ति है जिसका कारण या हेतु बाह्य है, इसलिये यह नितांत अबोधगम्य नहीं हो सकता। किन्तु इसका उत्तर है कि काँट संवेदना (वृत्ति) और संवेद (उसकी वस्तु) दोनों को बुद्धि के विपरीत और प्रतिरोधक के रूप में देखता है, इस कारण इसके मन की वृत्ति होने पर भी यह बोधगम्य नहीं है। वास्तव में फिख्ते की यह व्याख्या भी सही नहीं है कि काँट के अनुसार प्रतिभास आत्म द्वारा सर्जित भौतिक प्रकृति का स्थानापन्न है। वास्तव में काँट के अनुसार प्रतिभास ही प्रकृति है—यह स्वरूप-सत् आत्म का प्रकृति-मूलक निबन्धन है। इसके समर्थन में यह युक्ति है कि काँट आन्तर और बाह्य दोनों संवेदनों को समान रूप से प्रतिभास का मूल मानता है और कम से कम आंतर संवेदन के मूल या प्रथम कारण के सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि वह भौतिक नहीं होकर चिदात्मक है। यदि आन्तर प्रतिभास का मूल चित् या स्वरूप-सत् आत्म है तब यह नहीं कहा जा सकता कि आत्म प्रातिभासिक जगत् को अबोध-गम्य प्रकृति के बोधगम्य स्थानापन्न के रूप में प्रति-स्थापित करता है। अब प्रश्न है कि बाह्य संवेद के आदि कारण का स्वरूप क्या है। क्या वह आन्तर संवेद के आदि कारण से भिन्न है या कि अभिन्न? प्रथम दृष्टि में वह भिन्न प्रतीत होता है क्योंकि कांट न केवल उसे बाह्य विषयों के गोचर गुणों—वर्ण, गंध आदि—का ही हेतु मानता है बल्कि उनके विस्तार, आकृति और दैशिक सम्बन्धों का भी हेतु मानता है। इस प्रकार मेज़ और कुर्सी के वर्ण और आकार आदि सब यद्यपि सांवेदनिक हैं किन्तु इनके वर्ण-भेद और आकार-भेद के निर्वर्ण और निराकार हेतु स्वलक्षण वस्तुएँ हैं।[34] इस प्रकार बाह्य विषयों की हेतुभूत वस्तुएँ अनेक भी हो जाती हैं। किन्तु संभवतः कांट का यह अभिप्राय नहीं रहा होगा, क्योंकि वस्तुओं की एकता-अनेकता ज्ञानात्मक निर्धारण है जो स्वलक्षण वस्तु पर लागू नहीं हो सकता और इस प्रकार वस्तुओं के गुण और आकृतियों के वैविध्य के हेतु स्वलक्षण-वस्तु मूलक होने का अर्थ यह नहीं है कि उस वस्तु में स्वयं में भी वैविध्य और अनेकत्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इतना ही नहीं, यह स्पष्ट लक्षित होने पर भी कि कांट चिदचिद् का द्वैत स्वीकार करता है क्योंकि प्रकटतः उसके अनुसार बाह्य संवेद चिद्विकार है जिसका हेतु अचित्तत्त्व होना चाहिए, कांट इसके सम्बन्ध में मौन है और इस मौन से यह समझना उपयुक्त प्रतीत होता है कि उसे द्वैतवाद मान्य नहीं है।[३५] उसकी एकवादी व्याख्या तर्कसंगत रूप से संभव भी है। कांट जब संवेद के आदि कारण अथवा हेतु को अविज्ञेय किन्तु शुद्ध बुद्धिगम्य कहता है तब हेतुओं में बाह्य और आंतर का भेद नहीं करता, दोनों प्रकार के संवेदों के / का हेतु समानरूप से शुद्ध बुद्धिगम्य अविषय हैं / है। इस हेतु को बुद्धिगम्य अविषय कह कर वह संकल्पात्मक तत्त्व कहता है। इस प्रकार यह कहना अधिक उचित प्रतीत होता है कि एक ही चित्तत्त्व बाह्य संवेदन को देशाकार में और आन्तर संवेदन को कालाकार में प्रतिभासित होता है। इस प्रकार संभवतः कांट के अनुसार एक ही अनाविल चित्तत्त्व अपने को प्रातिभासिक रूप में निबद्ध पाता है यद्यपि स्वरूपतः वह स्वतंत्र है और उसकी यह स्वतंत्रता उसे नैतिक कर्म के माध्यम से अवगम्य होती है।

किन्तु यह द्रष्टव्य है कि यह मूल तत्त्व उस अर्थ में अनाविल नहीं है जिस अर्थ में सांख्य का पुरुष या शंकर का ब्रह्म है, क्योंकि वह नैतिक नियम के आकार में निरूपित है।[३६] और नैतिक नियम का आकार बौद्धिक है। किन्तु यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि क्या इस आकार को वस्तु की अपेक्षा नहीं है और क्या संकल्प वह वस्तु नहीं है और इस प्रकार संकल्प अबौद्धिक नहीं है? इसका समर्थन इससे भी होता है कि आकार को कर्म-मूल नहीं कहा जा सकता। कांट भी आकारों को नैतिक नियममूलक मानता है जिससे संकल्प अपने को नैतिकरूप से प्रतिबद्ध करता है। इस प्रकार कर्म का स्रोत संकल्प होना चाहिये और इसे मूल ऊर्जा के रूप में देखना चाहिये। इस प्रकार संकल्प और आकार संयुक्तरूप से कर्म हैं: अर्द्ध नारीश्वर के समान। किन्तु जैसाकि हमने पीछे देखा, विषय-बुद्धि का व्यापार भी विचारात्मक कर्म ही है; केवल इसका आकार नैतिक नियमात्मक नहीं होकर संवेद-संयोजनात्मक है। इस प्रकार दोनों कर्मों का मूल संकल्पात्मक ऊर्जा में ही है।

स्पष्टतः कांट को यह सब व्याख्या मान्य नहीं होगी। उसका लक्ष्य बहुत सीमित था और वह था वैज्ञानिक ज्ञान और नैतिक कर्म की व्याख्या, जिन्हें वह स्वतःसिद्ध सत्य मानता था और जिन सत्यों का कोई एक स्रोत, एक मूल खोजने में न उसकी रुचि थी और न उसकी कल्पना ही थी। ये दो सत्य उसमें असंबद्ध ही बने रहते हैं और इसी प्रकार असम्बद्ध रहते हैं बुद्धि और संवेद।

× × × × ×

जैसाकि हमने इस अध्याय के आरंभ में देखा, कांट के दर्शन में प्रत्यक् और पराक् आधारभूत वर्गणाएँ हैं और कांट इन वर्गणाओं को अपने दार्शनिक प्रतिपादनों का आधार बनाकर चलता है। उसकी वर्गणाएँ हैं—आनुभविक और अतिक्रामी, तथा ज्ञेय और अज्ञेय। कांट के दर्शन से अल्प परिचित लोग बहुत बार "अतिक्रामी" को भी 'अज्ञेय' मान लेते हैं, अथवा अधिक से अधिक तार्किक रूप से अनुमेय समझते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है। कांट "प्रागनुभविक ज्ञान" को भी स्वीकार करता है[३७] उसके अनुसार कारण-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य सम्बन्ध का प्रत्यय और गणित के प्रत्यय ज्ञेय प्रत्यय हैं। किन्तु वह केवल उन्हीं प्रत्ययों को उचित रूप से अतिक्रामी या प्रागनुभविक मानता है जो अनुभव से सम्बद्ध हैं। कांट के अनुसार, हमारा ज्ञान अनुभव विषयक है यद्यपि अनुभव उसी सीमा तक ज्ञान-विषय होता है जिस सीमा तक वह हमारे मन-की मुद्राओं में ढल सकता है। इसका कारण यह है कि हम वही जान सकते हैं जो मनोमूलक है। तब स्वभावतः हम मनको तो जान ही सकते हैं। बल्कि, उसके अनुसार, मनकी ज्ञानात्मक शक्तियों को जानना अपेक्षाकृत सरल है और वर्तमान तर्कशास्त्र में हम इस ज्ञान को फलित देख भी सकते हैं।[३८] प्रातिभासिक जगत् का स्वरूप मनोमूलक होने से इसके लक्षणों का ज्ञान और विवेचन अपेक्षाकृत सरल होना स्वाभाविक ही है।[३९]

इस प्रकार 'अतिक्रामी' उसके अनुसार ज्ञान का अतिक्रामी नहीं है, केवल अनुभव का अतिक्रामी है। किन्तु जैसाकि हमने ऊपर कहा, मन की ये मुद्राएँ या आकार उसी सीमा तक ज्ञानात्मक हैं जिस सीमा तक ये अनुभव को निरूपित कर सकते हैं। यह निरूपण विषय-करण है और इस प्रकार विषयकरण केवल अनुभवमूलक ही हो सकता है, अनुभव के बिना नहीं। निश्चय ही हम अनुभव से बाहर भी विषयकरण करते हैं किन्तु वह केवल अनुभव की कोटियों को उसके बाहर लागू करके, जो स्पष्टतः अयुक्त है।

ज्ञान के इस क्षेत्र को, जो विषय-विधान अथवा अनुभवमूलक मानसिक मुद्राओं का क्षेत्र है, कांट प्रतिभास कहता है। 'प्रतिभास' शब्द का उसका प्रयोग यों ही साधारण रूप से किया गया प्रयोग नहीं है बल्कि मूलगामी महत्त्व का है, क्योंकि वह इसे 'सत्' के विपरीतार्थक के रूप में प्रयुक्त करता है। यहाँ यह देखना और भी महत्त्वपूर्ण है कि प्रतिभास उसके लिए केवल बाह्य विषय ही नहीं है बल्कि सुख-दुःख, प्रेम-द्वेष आदि आन्तर जगत् भी है। इसके आगे जाकर यह भी कहा जा सकता है कि इस प्रतिभास का गृहीता—विषयी—भी प्रातिभासिक ही है क्योंकि यह विषयी विषय से पृथक् कुछ नहीं है, उसका एक घटक मात्र है। इस प्रकार विषय संवेद और बुद्धि का, ज्ञेय और ज्ञाता का संयोग है। परिणामतः मैं वेदना के रूप में भी और विषयी के रूप में भी, प्रातिभासिक हूँ। इस प्रकार यह मेरा सत्स्वरूप नहीं है। अपने सत्स्वरूप में मैं अविज्ञेय हूँ।

किन्तु क्या चित्सत्ता के लिए अपने-आपके ज्ञान से शून्य होना संभव है? जैसाकि हमने पीछे देखा है, वह संकल्प को विज्ञप्ति-रहित (नॉन-काग्नीटिव) नहीं मानता है क्योंकि इसे नैतिक नियम के रूप में अपना आकार विज्ञापित होता है, यद्यपि वह "ज्ञात" नहीं होता। किन्तु कहा जा सकता है कि कांट के अनुसार आत्म का स्वरूप संकल्पात्मक होने से वह विज्ञानस्वरूप नहीं है, कर्मस्वरूप है और नैतिक नियम उसका आक्षेप है, उसका स्वरूपगत आकार नहीं है। किन्तु तब इस कर्म का आक्षेप केवल नैतिक नियम रूप ही नहीं है विषय-नियम रूप भी है, वह इन दो रूपों या आकारों का आक्षेप करता है। किन्तु केवल उसका प्रथम निरूपण आत्म-निरूपण है जबकि दूसरा निरूपण आत्म-बहिष्कारक है। इसीसे प्रथम में वह निर्बन्ध रूप से—अपने स्वरूप के अव्यवहित सान्निध्य में—आत्म-सर्जन करता है और दूसरे में वह स्वतंत्र वरण द्वारा प्रवृत्त होकर भी संवेद द्वारा आत्म-व्यवहित हो जाता है।

CC-0.In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार कांट-दर्शन में आत्म विज्ञानस्वरूप (प्रकाशस्वरूप) नहीं है, कर्म-स्वरूप है। परिणामतः वह आत्म-प्रत्यक् नहीं हो सकता, नैतिक नियम का आक्षेप भी उसे प्रत्यक्ता नहीं दे सकता। इसके लिए वह संवेद का आश्रय लेता है जहाँ कि वह अपने को खो देता है।

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

पाद टिप्पणियाँ

1. "In order to decide whether anything is beautiful or not, we refer the representation not by the understanding to the object for cognition but, by the Imagination (perhapse in conjunction with the understanding) to the subject and its feeling of pleasure and pain." "The Pleasant, the Beautiful and the Good designate then three different relations of representations to the feeling of pleasure and pain, in reference to which we distinguish from each-other objects or methods of representing them."
2. क्रिटीक् ऑफ प्योर रीज़न, बी० 459.
3. क्रि० प्योर० री०, बी० 34.
4. "The understanding thus far been explained merely negatively, as a non-sensible faculty of knowledge. Now since without sensibility we cannot have any intuition, understanding cannot be a faculty of intuition. But besids intution there is no another mode of knowledge except by means of concepts. The knowledge yielded by understanding, or at least by the human understanding, must therefore be by means of concepts, and so is not intuitive, but discursive. Whereas all intuitions, as sensible, rest on affections, concepts rest on functions. By function I mean the unity of the act of bringing various representations under one common representation. Concepts are based on the spontaniety of thought, sensible intuitions on the receptivity of impressions". (B. 92–93)
5. क्रि० प्यो० री० A–25, B-40.
6. वही, B–38-39 and Paton, Kant's Metaphysics of Experience, pp. 153–54.
7. वही.
8. In the representations of space and time we have *a priori forms* of outer and inner sensible intuition ; and to these the synthesis of apprehension of the manifold of appearance must always conform, because in no other way can the synthesis take place at all. But

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

space and time are represented *a priori* not merely as *forms* of sensible intuition, but as themselves *intuitions* which contain a manifold of (of their own), and therefore are represented with the determination of the *unity* of this manifold. Thus *unity of the synthesis* of the manifold, without or within us, and consequenty also a *combination* to which everything that is to be represented as determined in space or in time must conform, is given *a priori* as the condition of the synthesis of all apprehension — not indeed *in* but *with* these intuitions." —Cr.Pu.R-B-160, also see (A 99-100).

9. क्रि०प्यो०री० द्वि.सं. परिचय—बी–39एन. तथा बी–67; पैटन-कांट्स मैटाफिजिक्स ऑफ एक्पीरिएंस, भाग 2, पृ० 384–92.

10. क्रि० प्यो० री०, ए 201–2=बी 244–46.

11. क्रि० प्यो० री०, बी 50.

12. क्रि० प्यो० री०, ए 109 तथा बी 135.

13 वही.

14. क्रि० प्यो० री०, बी 135.

15. वही, बी 34–35; ए० सी० इविंग— ए शार्ट कमेंट्री ऑन कांट्स क्रिटीक् ऑफ प्योर रीजन, पृ० 76 तथा पैटन, वही जिल्द 1, पृ० 358–59 भी द्रष्टव्य.

16. कासीरर, एच० डब्लू.— ए कॉमेंट्री ऑन कांट्स क्रिटीक ऑफ जजमेंट, पृ० 32.

17. Understanding presupposes that every given event must depend on something which conditions it. It proceeds from one event to another and always assumes something else as the condition of the given event. Because of this, it is always unable to conceive the idea of a system of these conditions. It does not occur to it to make them dependent on a first condition. But the existance of a system of conditions depends on the existence of a first condition, something which is unconditioned. That there must be such a first condition is the assumption which our Reason makes." Cassirer, op.cit. 33.

18. If we consider in its whole range the knowledge obtained for us by the understanding, we find that what is peculierly distinctive of Reason in its attitude to this body of knowledge is that it prescribes and seeks to achieve its *systematization* that is, to exhibit the connection of its parts in accordance with a single principle. This unity of Reasan always presupposes an idea, namely, that of the form of a whole of knowledge—a whole which is prior to the determinate knowledge of the parts, and which contains the condition that determines *a priori* for every part its position and relation

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

to other parts. This idea accordingly postulates a complete unity in the knowledge obtained by the understanding, by which this knowledge is to be not mere contingent aggregate but a system according to necessary laws.' (Cr. Pu. R., B-673).

19. "The transcendental concept of reason is, therefore, none other than the concept of the *totality* of the *conditions* for any given conditioned. Now since it is the *unconditioned* alone which makes possible the totality of conditions, and conversely, the totality of conditions is always itself unconditioned, a pure concept or reason can in general be explained by the concept of the unconditioned, conceived as conditioning a ground of the synthesis of the conditioned." Cr.Pu.R. , B 379.

20. "The moral law is given as a fact of pure Reason of which we are *a priori* conscious, and which is apodiectically certain," (Cr. Practical Reason 47 ; 136).

21. "We may call the consciousness of this fundamental law a fact of Reason." (Cr. Pr. R., 31; 120).

22. "The moral law, which itself does not require a justification proves not merely the possibility of freedom, but that it really belongs to beings who recognise this law as binding on themselves." (Cr. Pr. R., 47; 137).

23. "That this is the true subordination of our concepts, and that it is morality that first discovers to us the notion of freedom, hence that it is practical Reason which, with this concept, first proposes to speculative Reason the most in soluble problem, thereby placing it in the greatest perplexity, is evident from the following consideration, since nothing in phenomena can be explained by the concept of freedom but the mechanism of nature must constitute the only clue; moreover, when pure Reason tries to ascend in the series of causes to the unconditioned, it falls into an antinomy which is entangled in incomprehensibilities on the one side as much as the other; whilst the latter, namely, mechanism, it is at least useful in the explanation of phenomena, therefore no one would ever have been so rash as to introduce freedom into science, had not the moral law, and with it practical reason, come in and forced this notion upon us." (Cr. Pr. R. , 30; 118). "For as long as one has formed no definite notion of morality and free-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

dom, one could not conjecture on the one side what was intended to be the noumenon, the basis of the alleged phenomenon, and on the other side it seemed doubtful whether it was at all possible to form any notion of it seeing that we had previously all the notions of the pure understanding in its theoretical use exclusively to phenomena-" (Cr. Pr. R., 6; 91).

24. कासीरर, उपर्युक्त, पृ० 64.

25. द्रष्टव्य : शल्य, यशदेव—ज्ञान और सत्, अ.3, तथा संस्कृतिःमानव-कर्त्तृत्व की व्याख्या अ. 4।

26. शल्य, यशदेव—विषय और आत्म, पृ० 20–21.

27. "For as to the question how a law can be directly and of itself a determining principle of the will (which is the essence of morality), this is, for human Reason, an insoluble problem and indentical with the question : how a free will is possible." (Cr. Pr. R., 72; 165). "But Reason would overstep all its bounds if it undertook to explain how pure Reason can be practical, which would be exactly the same Problem as to explain how freedom is possible. For we can explain nothing but that which we can reduce to laws, the object of which can be given in some possible experience. But freedom is a mere Idea, the objective reality of which can in no wise shown according to laws of nature, and consequently not in any possible experience; and for this reason it can never be comprehended or understood, because we cannot support it by any sort of example or analogy." (Groundwork, 458, 459; 79). "And thus while we do not comprehend the practical unconditional necessity of the moral imperative, we yet comprehend its incomprehensibility, and this is all that can be fairly demanded of a philosophy which strives to carry its principles up to the very limit of human Reason." (Groundwork, 463; 84).

28. क्रि० प्यो० री०, बी. 579.

29. क्रि० प्यो० री०, बी. 582.

30. क्रि० प्यो० री०, बी. 582.

31. "These categories of freedom, for so we choose to call them in contrast to those theoretic categories which are categories of physical nature, have an obvious advantage over the latter, inasmuch as the latter are only forms of thought which designate objects in an indefinite manner by means of universal concepts for every possible

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

intuition, the former on the contrary refer to the determination of a free elective will (to which indeed no exactly corresponding intuition can be assigned, but which has as its foundation a pure practical a priori law, which is not the case with any concepts, belonging to the theoretic use of our congnitive faculties); hence instead of the form of intuition (space and time), which does not lie in Reason itself but has to be drawn from another sourse, namely, the sensibility, these being elementary practical concepts have as their foundation the form of a pure will, which is given in Reason, and therefore in the thinking faculty itself. From this it happens that as all precepts of pure practical Reason condition (of practical ability) of the execution of one's purpose, the practical a priori princlples in relation to the supreme principle of freedom are at once congnitions, and have not to wait for intuitions, in order to acquire significance, and that for this remarkable reason, because they themselves produce the reality of that to which thay refer (the intention of the will), which is not the case with theoretical concepts." (Cr. Pr. R., 65, 66; 157).

32. क्रि० प्यो० री०, बी. 157-159.

33. Fundamental Principles of the Science of knowledge, 1794.

34. यहां यह द्रष्टव्य है कि कांट वर्ण, गंध आदि गुणों को लॉक के समान व्यक्तिनिष्ठ मानता है जबकि आकार को निर्वैयक्तिक या तात्त्विक मानता है, किन्तु वर्णादि संवेद के हेतु को बाह्य मानता है।

35. वह कहता है कि "सम्भवतः स्वलक्षण वस्तु का स्वरूप मानसिक है"। क्रि०प्यो०री०बी

36. क्रि० प्रै० री०, 65, 66; 157 (पूर्वोद्धृत).

37. क्रि० प्यो० री०, बी. 4, 9 ए०, 160=बी. 199-200.

38. वही, परिचय, ए.14.

39. वही, परिचय, ए-20, बी-34.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म-दर्शन*

नलिनी शुक्ला

धर्म का अर्थ : 'धृञ धारणे' धातु से औणादिक 'म' प्रत्यय से निष्पन्न 'धर्म' शब्द का धात्वानुसारी अर्थ अपने पर आश्रितों की धारण-शक्ति सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार समस्त जागतिक पदार्थों एवं सर्वविध शब्दों के धारण करने का सामर्थ्य समस्त धातुओं में है उसी प्रकार 'धर्म' शब्द के व्यापकतम अर्थ के अनुसार, धर्म वह है जो समस्त प्राणियों व पदार्थों को धारण करता है, सबका आधार है : जैसे पृथ्वी का पृथिवीत्व, वृक्ष का वृक्षत्व, मनुष्य का मनुष्यत्व आदि। यहाँ धर्म शब्द का व्यापकतम अर्थ "पदार्थ मात्र का स्वाभाविक धर्म" ग्रहण न करके केवल "मानव कल्याणोचित धर्म" ही चर्चा का विषय है।

दर्शन का अर्थ ; 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार, जिसके द्वारा देखा जाय उसे दर्शन कहते हैं। वस्तु के चरम तात्त्विक स्वरूप का आन्वीक्षिकी पद्धति से ज्ञान ही दर्शन द्वारा दर्शनीय या ज्ञेय है।

हम कौन हैं ? क्या हैं ? कैसे उत्पन्न हुए हैं ? यह जगत् क्या है ? समस्त जड़-जंगमात्मक जगत् का मूल स्रोत क्या है ? इस जगत् का स्रष्टा जड़ है या चेतन ? ईश्वर क्या है ? जीव क्या है ? व्यष्टि एवं समष्टि के पारस्परिक सम्बन्धों का स्वरूप क्या है ? सुख क्या है ? दुःख क्या है ? संसार में दुःख की बहुलता क्यों है ? उसका समूलोच्छेद सम्भव है अथवा नहीं ? वास्तविक सुख की उपलब्धि किस प्रकार हो सकती है ? इत्यादि समस्याओं का समुचित समाधान दर्शन का मुख्य आलोच्य विषय है।

विज्ञान, धर्म एवं दर्शन इस विषय में एकमत हैं कि ज्ञान का उद्देश्य जगत् की पहेली को समझना है किन्तु इनके समझने के प्रयोजन भिन्न-भिन्न हैं। पाश्चात्य मत में विज्ञान में यह प्रयोजन सैद्धान्तिक अथवा ज्ञान के लिए ज्ञान है। किंवा सामान्य रूप से यह ज्ञान आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति का साधन है। दर्शनशास्त्र में ज्ञानानुराग एवं उससे प्राप्त मानसिक शान्ति और सन्तोष ही इसका परम प्रयोजन है जैसाकि पाश्चात्यों के 'फिलॉसफ़ी' (फिलास =अनुराग; सोफ़िया=विद्या अर्थात् (विद्यानुराग) शब्द से ही प्रकट होता है। धर्म-मीमांसा में यह प्रयोजन है – शान्ति, सामञ्जस्य, अभियोजन तथा मोक्ष।

विज्ञान, धर्म तथा दर्शन में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः धर्म व दर्शन की चर्चा के समय इस विज्ञान-प्रधान युग में विज्ञान की चर्चा भी अनुपयुक्त न होगी। वैज्ञानिक ज्ञान से तात्पर्य उस ज्ञान से है जो निश्चित, वस्तुपरक और पूर्ण रूप से व्यवस्थित होता है। फलतः वस्तुपरक एवं व्यवस्थित ज्ञान ही वैज्ञानिक ज्ञान कहलाता है।

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के रांची विश्वविद्यालय में २७–३० नवम्बर को सम्पन्न २०वें वार्षिक अधिवेशन में पठित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञान गुणात्मक की अपेक्षा परिमाणात्मक है जबकि दर्शन विमर्शात्मक और गुणात्मक है। दर्शनशास्त्र समस्त ज्ञान को अपने क्षेत्र में समाहित करता है तथा वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, इतिहासकार एवं समाजशास्त्री आदि के कार्यों को संश्लेषित करके उन्हें मानवीय आत्यन्तिक आवश्यकताओं पर केन्द्रित कर देता है। विज्ञान केवल यह बतलाता है कि वस्तुएँ किस प्रकार कार्य करती हैं। पर मनुष्य इतने से ही संतुष्ट नहीं होता। वे इस प्रकार कार्य क्यों करती हैं, यह भी मानव की एक स्वाभाविक जिज्ञासा है और इस 'क्यों' का समाधान करने के लिए विज्ञान को दर्शन की अनिवार्य सहायता अपेक्षित है।

पाश्चात्य मत में विश्व, विश्वात्मा व जीवन सम्बन्धी सभी समस्याओं के सम्बन्ध में समान विषयता होने पर भी धार्मिक रुचि का केन्द्र वस्तुओं के ज्ञान की अपेक्षा उनसे संबंध बतलाना अधिक है।

धर्म का नाम लेते ही मस्तिष्क में मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर, धर्मोपदेश, भजन, चंदा, आडम्बरपूर्ण विविध विरोधी सम्प्रदाय अथवा अनेक-विध जटिल कर्मकाण्डों के चित्र घूमने लगते हैं। पर वस्तुतः धर्म का यह स्वरूप नहीं है। यदि हम विश्व के समस्त प्राचीन व अर्वाचीन धर्मों का अध्ययन करें तो हमें निष्कर्ष रूप में उन सबमें आन्तरिक ऐक्य की उपलब्धि होगी। तदनुसार—"धर्म उन अदृश्य शक्तियों पर आश्रित होने की भावना है जो हमारी भवितव्यता नियन्त्रित करती हैं और जिसके साथ हमें मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाने की इच्छा होती है" (द० शा० का परि०) "धर्म किसी आध्यात्मिक व्यवस्था से हमारे व्यावहारिक सम्बन्ध की चेतना है।"

बुंड्ट के अनुसार—"जो विचार और भावनाएँ आदर्श की ओर संकेत करती हैं वे धार्मिक हैं।"

"धर्म एक आस्था की अभिवृत्ति है। यह जगत् के मूल्यों से सम्बद्ध आस्था है। विश्व केवल एक वृहदाकार मशीन नहीं है। इसके कुछ शाश्वत मूल्य हैं। सामान्यतः मनुष्य को इनका आंशिकरूपेण ही बोध है। कुछ नैतिक अधिकार हैं जिनको नकारा नहीं जा सकता। जो अनुचित है वह कभी उचित नहीं हो सकता। अतः उचित-अनुचित का बोध और तदनुसार आचरण से ही व्यक्ति एवं समाज का उत्कर्ष सम्भव है। और औचित्यानौचित्य बोध धर्म-दर्शन का ही विषय है।

यद्यपि धर्म और दर्शन के प्रगाढ़ सम्बन्ध के विषय में पौरस्त्य एवं पाश्चात्य सभी विचारक एकमत हैं किन्तु भारत में दर्शन तथा धर्म, तत्त्वज्ञान तथा जनजीवन इतने अधिक निकट सम्बद्ध है कि उनके मध्य पूर्णतः भेद-संस्थापना सम्भव नहीं है।

भारतीय विचार-शृंखला में एक अपूर्व सामञ्जस्य दृष्टिगत होता है। दर्शन द्वारा सुविचारित आध्यात्मिक तथ्य भारतीय धर्म की आधारशिला हैं। फलतः भारत में धर्म रूढ़ वस्तु नहीं अपितु तर्क-संगत सिद्धान्तों का समन्वय है; जो स्वभावतः प्रयोगात्मक सामयिक विचारों एवं दर्शन की प्रगति के अनुसार पद-निक्षेप करता है।

सुप्रचलित आलोचना कि भारतीय विचारधारा बुद्धि पर बल देने के कारण दर्शन को धर्म के ही स्थान में लाकर रख देती है, भारतीय धर्म की तार्किकता को स्पष्ट कर देती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निखिल मानवीय क्रियाकलापों की पृष्ठभूमि मानवीय विचार हैं। दृश्य अथवा अदृश्य जगत् विषयक कतिपय विचारों, आस्थाओं व श्रद्धाओं के अनुरूप ही मनुष्य होता है और तदनुसार ही उसकी कार्यप्रणाली निश्चित होती है तथा अपने कार्यों के अनुसार ही उसे फलप्राप्ति भी होती है। इस प्रकार ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में मनुष्य मात्र का एक दर्शन होता है, धर्म होता है। और उसका यह धर्म—धारण करने वाला तथ्य— समुदय अर्थात् सदसद् विवेक, विचार या उसका जीवन-दर्शन ही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। सारांश यह कि धर्म-दर्शन हमारे जीवन में सर्वत्र अनुस्यूत है। उसे मानवीय दैनिक जीवन से पृथक् नहीं किया जा सकता है।

धर्म-दर्शन आचार-शिक्षण में पर्यवसान-लाभ करता है। धर्म की अनेक परिभाषाओं में आचार-शिक्षण को प्राथमिकता दी गई है। "आचारः प्रथमो धर्मः"। सदाचार शिक्षा में अनाग्रहशील धर्म अपने धर्म नाम की गरिमा धारण करने की क्षमता नहीं रखता। वह आचरण जो मानवमात्र की, लौकिक एवं परलौकिक, व्यक्तिगत एवं सामाजिक उन्नति के सर्वविध उच्चतम विकास में समर्थ हो, धर्म कहलाता है। जैसाकि वैशेषिक दर्शन के निम्न सूत्र में उक्त है—"यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः" (वै० द० १।१।२)।

सदाचार सामाजिक परम्पराओं के प्रति अनुकूलता का नाम है। यह पारस्परिक हित-सम्बन्धी उपयुक्तता अथवा शालीनता की जनमत के सम्बन्ध में सौहार्दपूर्ण प्रतीति बनाए रखने की व्यावहारिक भावना है।

पश्चिम में धर्म सामाजिक स्थायित्व का एक साधन है तथा नवीन धारणाओं के प्रचलन के विरुद्ध एक ढाल रूप में प्रयुक्त होता रहा है। इसीलिये वहाँ दर्शन, जोकि वस्तु के चरम सत्य सम्बन्धी विचार, तर्क एवं युक्तियों के साथ ही अग्रसर होता है, धर्म से सर्वथा पृथक् है तथा वहाँ धर्म और दर्शन के प्रयोजन भी भिन्न-भिन्न हैं।

भारतीय दृष्टिकोण स्वभावतः संश्लेषणात्मक रहा है। फलतः भारतीय धर्म व दर्शन के अन्तर्गत अनेक विज्ञान समवेत हैं, जिन्होंने आधुनिक काल में अलग-अलग रूप धारण कर लिये हैं। भारत में दार्शनिक सत्य तथा जनसामान्य के दैनिक जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध है और इसलिये यहाँ का धर्म-दर्शन सजीव एवं वास्तविक है। यदि उसे जीवन-दर्शन ही कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

वर्तमान काल में धर्म के नाम पर अनेकविध विरोधी साम्प्रदायिक मत प्रचलित हैं। किन्तु सच्चा धर्म किसी भी पारस्परिक वैर को प्रश्रय नहीं देता।

भारतीय धर्म-दर्शन यथार्थ का ही अनुभव है। यथार्थ का अर्थ है सत्य और सत्य एक सार्वभौम व्यवस्था का अंश है। यह व्यक्ति से परे है और वैयक्तिक प्रभावों अथवा स्थान और समय की अवस्थाओं से अप्रभावित रहता है। विश्वास, सम्मतियाँ, सिद्धान्त सभी अस्थायी और परिवर्तनशील हैं तथा उनके मूल्य बदलते रहते हैं। इसके विपरीत सत्य शाश्वत एवं अपरिवर्तनीय है।

धर्म-दर्शन के मूल मन्त्र का सार इस श्लोक में संगृहीत है—

"धृतिः, क्षमा दमोस्तेयं, शौचमिन्द्रिय-निग्रहः।
धीर्विद्या, सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनुस्मृति, ३।९१)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् धैर्य, क्षमा, व मादि (अहितकारी प्रवृत्तियों) का दमन, चोरी न करना, पवित्रता, आत्मसंयम, बुद्धि, ज्ञान, सत्य बोलना, क्रोध न करना ये दस धर्म के लक्षण हैं।

उक्त लक्षणों से समन्वित धर्म को संसार में कोई भी सद्विवेक-सम्पन्न व्यक्ति अनुचित नहीं कह सकता और यदि उक्त धर्म का पालन किया जाय तो किसी भी देश, काल परिस्थिति में कोई भी व्यक्ति किसी का वास्तविक विरोधी नहीं बन सकता है। साथ ही, धर्म-दर्शन के उपर्युक्त मूलमन्त्र को यदि मानवमात्र व्यवहार में उतार ले तो विश्व में कहीं भी युद्धों की सम्भावना तथा मानवता के लिये भय उपस्थित नहीं हो सकता और प्रत्येक व्यक्ति पूर्णतः लौकिक एवं पारलौकिक पथ पर निरापद अग्रसर हो सकता है।

पारस्परिक विरोध कट्टरता, संघर्ष, धार्मिक-विरोधाभास, असंगतियाँ और रूढ़ियाँ हमारे क्षितिज के संकोच के कारण हैं। बाह्य रूप में धार्मिक सम्प्रदायों में कितने ही परिवर्तन प्राप्त होते रहें किन्तु मौलिक धर्म-दर्शन एक सार्वभौम तत्त्व है और विश्व-बन्धुत्व जैसी पावनतम धारणा उसी की देन है।

आधुनिक युग में धर्म-दर्शन की उपयोगिता :—आधुनिक युग की चकाचौंध देखकर प्रायः यह धारणा दृढ़ होती जा रही है कि अब धर्म-दर्शन अनावश्यक हो गया है। विज्ञान ही समस्त मानवीय समस्याओं का समाधान कर सकता है। बौद्धिक वर्ग प्रत्यक्षतः यान्त्रिक भौतिकवाद अथवा मात्र तार्किक प्रयोग-सिद्धिवाद से सन्तुष्ट है। किन्तु जनसामान्य में आस्था की कमी बढ़ रही है।

वैज्ञानिक ढंग से प्रशिक्षित लोग धर्म-निरपेक्ष-मानववाद के समर्थक हैं तो अन्य वर्ग धार्मिक परम्परा-जन्य शून्यवाद के पोषक हैं। परिणामस्वरूप ईश्वर से अलगाव, आध्यात्मिकता से दूरी तथा भौतिक यथार्थतावादी मानसिक दृष्टिकोण प्रबल बन रहा है।

धर्म का नाम तक लेना आज पिछड़ेपन का प्रतीक बन गया है। वैज्ञानिक उपलब्धियों और तकनीकी आविष्कारों के जीवन में महत्त्वपूर्ण योगदान को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। पर यह भी सत्य है कि आध्यात्मिक आवश्यकताएँ भी मानवीय स्वभाव हैं, अतः उनकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उभयविध दृष्टिकोणों में सामञ्जस्य की स्थापना आवश्यक है। अतः वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ ही धर्म-दर्शन आज भी अपरिहार्य है।

जन-सामान्य वर्ग-धर्म को विज्ञान-विरोधी साम्प्रदायिकतापूर्ण अन्ध विश्वास समझता है, जिसमें तर्क एवं युक्तियों के लिये कोई स्थान नहीं है। किन्तु यह नितान्त भ्रान्त धारणा है। आध्यात्मिक स्वतन्त्रता तथा भौतिक जीवन में कोई विरोध नहीं होता। अतः धर्म-दर्शन सृष्टि के नियमों के अनुकूल तथा तत्सम्बन्धी विज्ञान के प्रति समन्वयशील होता है।

धर्म जीवन से पलायन नहीं है। धर्म विषयक अधिकांश आलोचनाएँ वास्तविक धर्म पर नहीं अपितु धर्मवाद पर लागू होती हैं। वाद किसी भी विषय का हो वह आलोचना का विषय बन जाता है। विज्ञान, कला, साहित्य, नीति, दर्शन अथवा मानवीय जीवन में जो भी श्रेष्ठ अंश है वह 'वाद' का रूप धारण कर रूढ़िवादी बन जाता है जिससे आन्तरिक जीवन प्रस्तरीभूत होकर प्रगतिविरोधी बन जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान भौतिकवाद का गुरुतम रोग है—आस्थाहीनता, और धर्म-दर्शन आस्था का आधार-स्तम्भ है। इस युग में लोग आध्यात्मिक रूप से विस्थापित हो चुके हैं, उनकी सांस्कृतिक जड़ें उखड़ चुकी हैं। अतः एक गहन एकाकीपन की अनुभूति होती है और लोग मैत्री के लिये भटकते हैं।

भौतिक विज्ञान हमारी भौतिक निर्धनता निराकृत कर सकता है पर मानसिक निर्धनता का निराकरण विज्ञान की शक्ति व सीमा से बाहर है। आज अभूतपूर्व वैज्ञानिक प्रगति के बावजूद मानव प्रकृति, रोग, मृत्यु, पारस्परिक विद्वेष एवं संघर्षों के समक्ष कितना असहाय है। इस असहाय अवस्था का सामना करने के लिये धर्म का समाश्रयण अपरिहार्य है। धार्मिक मूल्यों को तिलाञ्जलि देकर केवल विज्ञान के बल पर एक सुखी समाज एवं विश्वशान्ति की कल्पना गूलर से पुष्प की आशा के समान है।

उदाहरणार्थ अणुशक्ति का आविष्कार विज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण खोज है। इसके सदुपयोग द्वारा विश्व को स्वर्ग में एवं दुरुपयोग से श्मशान-भूमि में परिणत किया जा सकता है। किन्तु उसका सदुपयोग केवल विज्ञान के ही शिक्षण से सम्भव नहीं है। समस्त विश्व के हित-सम्पादन के लिये ही अणुशक्ति का प्रयोग, मानवमात्र के प्रति प्रेम, दया, क्षमा, सहायता, सौहार्द एवं आत्मीयता जैसे मानवोचित गुणों की अपेक्षा रखता है। विज्ञान अपने महान् आविष्कारों के द्वारा मानवीय बुद्धि को तीव्रतर करने का सामर्थ्य रखता है। किन्तु हृदयगत मानवीय गुणों व जीवन के मूल्यों के विकास की क्षमता आध्यात्मिक शिक्षण में ही है, क्योंकि विज्ञान ऐन्द्रिय ज्ञान में निष्पन्न होता है जबकि धर्म मूल्योद्बोध में। मानवीय मूल्यों की प्राप्ति के लिये संश्लेषण आवश्यक ही नहीं अपरिहार्य है। 'स्वस्य च प्रियमात्मनः'—अर्थात् जैसा कार्य और विचार स्वयं अपने आत्मा के लिये प्रिय हो वैसा ही दूसरों के प्रति समझ कर, तदनुसार व्यवहार करना। धर्म "वसुधैव कुटुम्बकम्" जैसी उदारतम प्रेरणा प्रदान करता है, जो विश्व-बन्धुत्व का मूल मन्त्र है।

अतः भौतिक विज्ञान एवं आध्यात्मिक ज्ञान दोनों के समन्वय से ही प्रगतिशील तथा पूर्ण सुखी समाज का निर्माण तथा वास्तविक सुखोपलब्धि सम्भाव्य है।

ए. एन. डी. कालेज
कानपुर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के प्रकाशन

१.	अनुभववाद	सं. यशदेव शल्य	५.५०
२.	समकालीन दार्शनिक समस्याएं	सं. यशदेव शल्य	१३.००
३.	दार्शनिक विश्लेषण	ले. यशदेव शल्य	१२.००
४.	विषय और आत्म	ले. यशदेव शल्य	२०.००
५.	समकालीन भारतीय दर्शन	सं. के. सच्चिदानन्द मूर्ति	१२.००
६.	भारतीय मनोविज्ञान	सं. नारायण शास्त्री द्राविड़	९.००
७.	अपोहसिद्धि, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	३.००
८.	न्यायबिन्दु, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	८.००
९.	नृतत्त्व तथा समाजदर्शन (७ खंड)	सं. दयाकृष्ण, गोविन्दचन्द्र पाण्डे, यशदेव शल्य	५२.००

श्री यशदेव शल्य द्वारा अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लिये डी ३१, बापूनगर जयपुर से संपादित तथा प्रकाशित एवं जयपुर मान प्रिंटर्स, बाण वालों का दरवाजा, चौड़ा रास्ता, जयपुर से मुद्रित ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

सपादक : यशदेव शल्य

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ष २१, अंक ४, अक्तूबर १९७५

31/3/76

दार्शनिक त्रैमासिक

विषय सूची

सम्पादकीय		२१७
दर्शन में 'अवसाद' की अवधारणा	राजेन्द्र पांडेय	२१९
आत्म और अनात्म	यशदेव शल्य	२२८
मूल्यों की त्याग-कथना का सिद्धान्त	संगमलाल पाण्डेय	२३४
श्री अरविन्द एवं भारतीय दर्शन का अभीप्सात्मक स्वरूप	ह० माहेश्वरी	२४१
लोकतन्त्र : भारतीय सन्दर्भ में	बसन्तकुमार लाल	२४८
अद्वैतवाद और आचार-दर्शन की सम्भावना	सागरमल जैन	२५८
बौद्ध परिप्रेक्ष्य में व्यक्तित्व की इदंता	केवलकृष्ण मित्तल	२६३
आधुनिक आंग्ल दर्शन में नैतिक अंत:प्रज्ञावाद	वेदप्रकाश वर्मा	२६८
परिषद् के पदाधिकारी तथा आजीवन सदस्य		२८१

वार्षिक मूल्य : १५.००

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

गत वर्ष (दिसम्बर १९७५) इंडियन फिलासफी कांग्रेस के स्वर्ण-जयन्ती अधिवेशन के अवसर पर आयोजित विश्व दर्शन-सम्मेलन में परिषद् को भी अपने प्रतिनिधि भेजने के लिए आमन्त्रित किया गया था। परिषद् ने इसमें जो पांच निबन्ध भिजवाये वे इस अंक में संकलित किये जा रहे हैं। निबन्ध आमन्त्रित करते हुए मेरे सम्मुख प्रश्न था—परिषद् के प्रतिनिधि निबन्ध कैसे होने चाहिएं ? विचार हुआ कि जिनमें **कागद की लेखी नहीं, आंखन की देखी बात हो,** जो पाश्चात्य टीकाकारों पर टीकाएँ नहीं हों, न जो ऐसे हों जिनमें भारतीय दर्शन को सुदूर अतीत की जड़ीकृत वस्तु मानकर उसको अजायबघर की प्रदर्शनीय माना गया हो; जिनमें अपनी चिन्ता, उत्कंठा और पर्येषणा का आख्यान हो। इस प्रकार के दस निबन्ध भिजवाने का मेरा विचार था, किन्तु मैं सात ही नाम सोच पाया जिनमें से केवल चार ने ही अनुग्रह किया, और तब पांचवां सवार मैं बना। ये निबन्ध किस सीमा तक इस अपेक्षा की पूर्ति करते हैं, यह तो पाठक ही देखेंगे किन्तु मैंने लेखकों को अपना आशय स्पष्ट लिख दिया था। यह आशय बहुत कुछ वही था जिसका व्याख्यान मैंने अपने लेखों—**समकालीन भारतीय दार्शनिक परिस्थिति** (दार्शनिक त्रैमासिक, अप्रैल, १९७४) और **हमारा जातीय अनुभव** (दार्शनिक त्रैमासिक, जुलाई, १९७४) में किया है और जिसका समर्थन दर्शन परिषद् के १९७५ के अधिवेशन में आयोजित "समकालीन भारतीय दार्शनिक परिस्थिति" विषयक गोष्ठी के एक के अतिरिक्त सभी वक्ताओं ने किया है। इन समर्थक वक्ताओं में डॉ० राजेन्द्र पांडेय और डॉ० बसन्तकुमार लाल भी हैं।

भारतीयता सम्बन्धी मेरे इस आग्रह के विरुद्ध कहा जा सकता है कि यह संकुचित राष्ट्रीयतावाद का ही एक रूप है। किन्तु यह सही नहीं है। "भारतीयता" से मेरा आशय एक विशिष्ट संस्कृति से है और संस्कृति का तत्त्व देश-कालमूलक नहीं होता यद्यपि अस्तित्व के लिए देश-काल अनिवार्य होते हैं। इसके अतिरिक्त, देश-काल मेरी व्यक्तिगत परिस्थिति के निर्धारक हैं और इस प्रकार "आंखन की देखी" कहने के लिए अनिवार्य हैं। किन्तु देश-कालातीत भारतीयता को मैं अपने तत्त्व के रूप में, और इस प्रकार अपने निरूपक के रूप में, देखता हूँ। कि वरणीय के रूप में भी देखता हूँ, यह एक दूसरी बात है। इस प्रकार यह संस्कृति मेरा तथ्य और मूल्य दोनों है। अब, क्योंकि मैं इस संस्कृति को वर्तमान में भी सजीव देखता हूँ इसलिए मुझे बहुत से लोगों द्वारा आंग्ल-अमरीकी (पूरे यूरोप के भी नहीं) दर्शन के लिए 'आधुनिक दर्शन' पद का प्रयोग और "भारतीन दर्शन" के साथ अनिवार्यतः 'प्राचीन' विशेषण का प्रयोग बहुत ही आपत्तिजनक लगते हैं। इस अंक में संगमलाल जी के और वेदप्रकाश जी के लेखों में इन पदों का प्रयोग इसी प्रकार हुआ था जिसे मैंने बदला। उदाहरणतः वेदप्रकाश जी के लेख का शीर्षक था "आधुनिक नैतिक दर्शन में अन्तःप्रज्ञावाद।" मैं, और बहुत से दूसरे लोग, आंग्ल दर्शन को अपना दर्शन नहीं मानते, माओ के इतने विशाल चीन देश में भी कोई इस दर्शन को अपना दर्शन नहीं मानता और न महात्मा गाँधी, श्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अरविन्द और कोटि-कोटि भारतीय जनों ने इसे अपना दर्शन माना है। मैं जानता हूँ कि संगमलाल जी भी इसे अपना दर्शन नहीं मानते। तब इस दर्शन को आधुनिक विश्व का दर्शन कैसे कहा जा सकता है ? कैसे भारतीय दर्शन "प्राचीन" ही है ? क्या वह आज भी असंख्य जनों को अनुप्राणित नहीं कर रहा है ? क्या स्वरूप, मूल्य और तत्त्व विषयक हमारे प्रश्न वही हैं जो ह्यूम, मिल, रसेल, मूर, सिजविक, स्टीवेंसन और नावेल स्मिथ के हैं और जिन्हें नकली मदरसों में नकली मास्टरों से पढ़कर हम थोड़े से लोगों ने अपने प्रश्न मानना आरम्भ किया किन्तु जो कभी हमारे नहीं हो पाये, केवल जिन्होंने हमारे अपने असली प्रश्नों को हमारे सम्मुख प्रस्तुत होने से रोका ?

दर्शन से भी अधिक शोचनीय स्थिति अन्य मानव-शास्त्रों—मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र—की है। "मन" हमारे लिए भी "व्यवहार" है, समाज हमारे लिए भी यन्त्रवत् नियोज्य "व्यवहार-क्षेत्र" है जिसे उसी शब्दाडम्बर और उन्हीं गणितीय प्रतीकों द्वारा समझा और नियुक्त (मैनीपुलेट) किया जा सकता है जो हमें अमरीकी-रूसी लोगों ने सिखाये हैं। **सामाजिक तकनीकी**, शैक्षिक तकनीकी और **दर्शन वर्कशाप** हमारे लिए भी आज सहजशिरोधार्य पद हो गए हैं; लॉक और मिल द्वारा प्रवर्तित ऐन्द्रिय प्रत्यक्षवादी प्रजातन्त्रवाद-व्यक्तितन्त्रवाद अथवा इनका प्रतिरूप भौतिकवादी समाजवाद हमारे भी एकमात्र आदर्श हो गये हैं। इससे अधिक दयनीय दासता की स्थिति की कल्पना असंभव है।

यशदेव शल्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष २१ अक्तूबर १९७५ अङ्क ४

दर्शन में 'अवक्तव्य' की अवधारणा

राजेन्द्र पांडेय

१. भारतीय दार्शनिक चिन्तनधारा में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न आरम्भ से ही यह रहा है : 'वह क्या है जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है ?'[१] न केवल इस प्रश्न का मर्म वरन् इसका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य भी ध्यान देने योग्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रश्न उस औपनिषदिक काल की देन है जब भारतीय तत्त्वचिंतक अधिकाधिक इस ओर आकृष्ट हुआ कि किस तरह वेदों के विस्मयबोधात्मक आत्म-प्रकाश की भाषायी अभिव्यक्तियों—जैसे 'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'[२]—को व्याख्यात्मक ढंग से सम्प्रेषणीय बनाया जाय ? यह कर सकने के लिए स्वतः भाषा-सम्बन्धी एक व्यवस्थित व्याख्या आवश्यक है, इसका बोध उसे रहा; इसीलिये भाषा के स्वरूप और उसके अन्तर्गत सत् या सत्य के ठीक-ठीक निदर्शन व निर्वचन के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उस काल में उठाये गए जिनके सन्दर्भ में व्यक्त धारणाओं को इस तरह सामान्य रूपों में रखा जा सकता है : (अ) साधारण व्यवहार की भाषा, जो स्थूल जगत् को प्रकाशित करती है, से परे एक आधारभूत भाषा है जो प्रथम के मूल में है; (आ) साधारण व्यवहार के स्थूल जगत् के मूल में उसका सही स्वरूप विद्यमान है जो केवल उक्त आधारभूत भाषा में अभिव्यक्त होता है; (इ) साधारण भाषा में उठाये गये वे प्रश्न जो शुद्ध तत्त्व-सम्बन्धी हैं उस भाषा के सन्दर्भ में अति-प्रश्न हैं, और इसलिए उनका समुचित समाधान उससे परे केवल मूल या परात्मक भाषा में ही सम्भव है; (ई) चूँकि साधारण भाषा में ऐसे प्रश्न उठते हैं और उसके अन्तर्गत निरूपित स्थूल जगत् के सन्दर्भ में भी उससे परे तत्त्व के

१. बृहदारण्यक उप० के इस प्रश्न की ही कोटि का एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न उसी में इस तरह है : 'हम ज्ञाता को किस तरह जानें ?' (२-४-१४)।

२. अथर्ववेद (१०-८-३२) : 'देव का काव्य देखो, जो न मरता है, न जीर्ण होता है।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्ध में जिज्ञासाएँ उठायी जा सकती हैं, इसलिए अवश्य उक्त दो प्रकार की भाषाओं (अपरा और परा) तथा उनमें प्रकाशित यथार्थता (स्थूल जगत् और शुद्ध भाव-रूप सत्) के बीच अविच्छेद्य स्वरूप-सम्बन्ध है; और (क) इसलिए जब तक इस अविच्छेद्य स्वरूप-सम्बन्ध को ठीक-ठीक नहीं समझ लिया जाता तब तक हमारा समस्त ज्ञान अधूरा है। आरम्भ में उल्लिखित ज्ञान-सम्बन्धी मूल प्रश्न का सम्बन्ध इसी अन्तिम धारणा से है।

स्पष्ट है कि भाषा में सत् या सत्य की ठीक-ठीक समझ की समस्या भाषा की क्षमता या योग्यता के प्रश्न से जुड़ी है और इसलिए इस सन्दर्भ में भारतीय तत्त्व-चिंतक के लिए अध्ययन का प्रमुख विषय यह रहा है कि भाषा अपने निदर्शन या निरूपण के दो स्तरों—अपरा और परा—पर क्रमशः किस तरह अक्षम और सक्षम है? क्या उनके मध्य कोई सीमा-रेखा भी है? क्या उसे (सीमा-रेखा को) घटाया-बढ़ाया भी जा सकता है? इत्यादि। किन्तु, इसके पहले कि इन सब प्रश्नों के विषय में किसी संतोषजनक समाधान की स्थिति में पहुँचा जा सके, यह आवश्यक है कि वह स्वयं अपने ज्ञान की सम्भावनाओं के बारे में पूरी तरह आश्वस्त हो ले। अतः इस दृष्टि से आरम्भ में उद्धृत सर्वोच्च ज्ञान सम्बन्धी मूल प्रश्न, अपने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से स्वतन्त्र, एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न बन जाता है जिसका मर्म यह समझने में है कि एक ऐसा ज्ञान सम्भव है जो सर्वव्यापक और सर्वथा संदेहातीत तो है किन्तु किसी तरह सत्ता-निरपेक्ष नहीं है। यह ज्ञान अनिवार्यतः किसी 'वह' से सम्बन्धित है, जो 'इस' या 'उस' वक्ता-श्रोता-प्रश्नकर्त्ता से किसी तरह 'परे' है, यद्यपि इस तरह नहीं कि वह उससे 'छिपा' हुआ है या एकांततः पृथक् है। इस तरह इस ज्ञान की सम्भावना में ही यह बात स्वीकार करली गई है कि वह सम्प्रेषणीय है तथा सभी को समानरूपेण प्रकाश्य है। पुनः, यह भी प्रकट है कि ऐसा सर्वोच्च ज्ञान, जिसमें अन्य सभी ज्ञान समाहित हों, अपने-आप में किसी इस या उस प्रकारता वाला नहीं हो सकता। इसलिए उसकी संज्ञा 'भूमा'[3] है; और इसीलिए यह भी आवश्यक है कि वह स्वतःप्रमाण हो तथा सम्पूर्ण सत्य का प्रकाशक हो। स्पष्ट है कि अपने सम्प्रेषणीय रूप में यह ज्ञान भाषा में अभिव्यक्ति के योग्य है, तथा जो भी भाषा उसे अभिव्यक्ति दे सकती है वह सत् या सत्य के ठीक-ठीक निदर्शन में पूर्णतः प्रामाणिक है। पर प्रश्न यह है कि क्या हमारी साधारण बोलचाल की भाषा इस तरह पूर्णतः प्रामाणिक समझी जा सकती है?

२. द्रष्टव्य है कि पश्चिम में भी दर्शन के रूप में सर्वोच्च ज्ञान की एक पारम्परिक धारणा रही है, किन्तु उसकी भाषायी अभिव्यक्ति को लेकर वहाँ उस तरह के प्रश्न नहीं उठाये गये जो भारतीय सन्दर्भ में उठे हैं। हमें इसका कारण जानना चाहिए। पश्चिम में सर्वोच्च ज्ञान का स्वरूप 'शुद्ध सैद्धांतिकता'[4] का रहा है, जो अन्ततः हमें उसकी ऐकांतिक आकारिकता (निरपेक्षता) की ओर ले जाता है। इसीलिए वहाँ ज्ञान में 'संरचनात्मक

३. देखिये: छांदोग्योपनिषद् ७-२-५-१: 'भूमा', मर्त्य 'अल्प' के विपरीत, अमृत और अतींद्रिय है।

४. देखिये, हुस्सर्ल का एक महत्त्वपूर्ण लेख: दि क्राइसिस ऑफ यूरोपियन साइंसेस एण्ड दी ट्रान्सेन्डेंटल फिनॉमिनालॉजी (१९३६)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनिवार्यता' और 'बौद्धिक औचित्य' के तत्त्व सर्वाधिक प्रमुख रूप से उभारे गये हैं, और इसकी एक प्रमुख दार्शनिक परिणति यह है कि वहाँ भाषायी अभिव्यक्ति के प्रश्न को सत्ता और उसके तर्कसम्मत ज्ञान के प्रश्नों से पृथक् कर पाना मुश्किल है। समकालीन पाश्चात्य दर्शन में तार्किक अनुभववाद, तार्किक अणुवाद और विश्लेषणवाद में हम यह स्पष्टतः देख सकते हैं। विशेषकर विट्गेन्स्टाइन का **ट्रक्टेटस** इस सम्बन्ध में पठनीय है जहाँ हमें इस तरह के वाक्य मिलते हैं : 'तथ्य और वाक्य एक ही तार्किक देश में स्थित हैं', 'मेरी भाषा की सीमाएँ मेरे जगत् की भी सीमाएँ हैं', 'जहाँ हम बोल न सकें, चुप रहें' इत्यादि। इस तरह यह देख पाना कठिन नहीं है कि पाश्चात्य दार्शनिक परम्परा में मान्य सार्वभौम बुद्धि की सत्ता[५] के चलते भाषायी अभिव्यक्ति सम्बन्धी यह प्रश्न सिर नहीं उठा पाया कि क्या हमारी भाषा सत् व सत्य को ठीक-ठीक प्रकाशित कर पाने में समर्थ है।

यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि भारतीय दार्शनिक परम्परा में सत् और उसके ज्ञान के सम्बन्ध में संरचनात्मक अनिवार्यता के बदले सर्वव्यापकता और तार्किक युक्तता के बदले आनुभविक प्रामाणिकता की चर्चा रही है, अर्थात् यहाँ बुद्धि को वह सार्वभौम प्रभुता नहीं मिल पायी जो उसने पश्चिम में सहज ही हथिया ली। और इसका सीधा असर भारत में भाषा-सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धांत पर पड़ा। मोटे तौर पर इस दार्शनिक भाषा-सिद्धान्त को इस तरह रखा जा सकता है : सत् या सत्य के अपने निर्वचन में अवश्य भाषायी अभिव्यक्ति को तर्कसम्मत होना चाहिए, किन्तु यह मानने का कोई कारण नहीं है कि उस निर्वचन की तार्किक संरचना ही सत् व सत्य की भावमूलक तथा प्रज्ञानात्मक संरचना भी है। सत् व सत्य के निर्वचन की क्षमता भाषा में है भी यह केवल इसीलिये सम्भव माना जा सकता है क्योंकि भाषा स्वतः सत् व सत्य से ही प्रकाशित है। अतः भाषा में जो 'प्रकाशित' है वह उसके 'निर्वचन' से एकीकृत नहीं है, और इसलिये भाषा की अभिव्यक्ति में 'वचनीय' (वक्तव्य) के साथ-साथ 'अनिर्वचनीय' (अवक्तव्य) भी प्रकट है। अब, इस आधार से हम भाषा के सम्बन्ध में भारतीय तत्त्वविदों की उन कई महत्त्वपूर्ण उक्तियों का स्पष्ट अर्थ समझ सकते हैं जो अन्यथा समझ में नहीं आतीं : जैसे, सत् की भाषा के अन्तर्गत प्रकाश्यता से सम्बन्धित **केनोपनिषद्** की यह उक्ति—यद्वाचानभ्युदतं येन वागभ्युद्यते,[६] या फिर **बृहदारण्यक** की यह धारणा कि यद्यपि मूलतः भाषा सत् के पूर्ण प्रकाशन में समर्थ रही, अर्थात् वेद-रूपी उद्गीथ के रूप में, तथापि असुरों द्वारा दूषित किये जाने के कारण उसमें सत् के स्वरूप-निदर्शन को लेकर कई दोष उत्पन्न हो गये और इसलिये वह सत् व सत्य का ठीक-ठीक व पूर्णतः प्रामाणिक प्रकाशन नहीं कर पायी।[७]

५. इस सम्बन्ध में देकार्त की एक महत्त्वपूर्ण उक्ति इस प्रकार है : "जिस तरह सूर्य एकमेव सर्वप्रकाशक और ऊष्माजनक सूर्य है, उसी तरह बुद्धि भी एकमेव है।"

६. केन० उप० (१-४) : जो वाक् से अभ्युदित नहीं, वरन् जिससे वाक् ही अभ्युदित है।

७. बृह० उप० (१.३.१-२) : वाणी को उद्गीथ का रूप देने वाला देवों को कहा गया है, जबकि असुर उसे दोषपूर्ण बनाते हैं। मध्वाचार्य के भाष्यानुसार देव ज्ञान के प्रकाशक हैं, जबकि असुर उसे ढँकने वाली ऐहिक शक्तियों के प्रतीक हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. उपर्युक्त भाषा-सिद्धान्त में निश्चय ही एक ज्ञानमीमांसात्मक दृष्टिकोण अन्तर्निहित है जिसे हमें समझ लेना चाहिये। ज्ञान के लिये आवश्यक है कि वह वस्तुनिष्ठ हो, अर्थात् उसका स्वरूप 'यथाभूतार्थ-ज्ञानवत्ता' का हो, और इसके लिये छान्दोग्योपनिषद् के तत्त्वचिंतक ने मन और वाणी की परस्पर सम्पूर्ति को अपरिहार्य माना है।[८] आशय यह है कि जब तक वाणी में मनस् द्वारा यथाभूतार्थ अधिग्रहण का 'संस्कार' नहीं है तब तक वह दोषयुक्त या पापविद्ध रहेगी। दूसरी ओर, वाणी में स्वभावतः उपलब्ध सार्वभौम सम्प्रेषणीयता का 'संस्कार' जब तक मनस् में नहीं तब तक वह भी दोषयुक्त या पापविद्ध रहेगा। वाणी में अव्याकृत या मौन 'मनस्' ही व्याकृत होकर प्रकट होता है, जिससे वैयक्तिक अन्तर्क्रिया से पृथक् उसे प्रकट ज्ञान की संज्ञा मिलती है। और इस तरह जो व्याकृत रूप में प्रकट ज्ञान है वही सारे वस्तु-जगत् के गुह्य सारतत्त्व के रूप में निर्दाशित है।[९]

पश्चिम में 'ज्ञान' की वस्तुनिष्ठता का रूप कुछ अलग है। वहाँ भी वह अवश्य 'यथाभूतार्थ ज्ञानवत्ता' के लक्षण वाला है, किन्तु उसका आधार वस्तु (भूत) का वास्तविक प्रज्ञानात्मक अधिग्रहण न होकर वह तार्किक संरचना है जिसका सार्वभौमिक और सार्वकालिक 'औचित्य' है। अतः वहाँ वाणीगत दोषों से सत् व सत्य प्रभावित नहीं होते, यहाँ तक कि व्यक्तिमूलक संवेगों-आवेगों आदि से भी वे बिल्कुल अछूते रह जाते हैं। अतः वहाँ के तत्त्वचिंतक के लिये इस तरह के निष्कर्षों पर पहुंचना बिल्कुल स्वाभाविक है कि 'जो कुछ पराभौतिक है वह आग में झोंक देने के काबिल है' (क्योंकि वस्तुतः वैसा कुछ है ही नहीं), 'जितना–कुछ समझा–बूझा जाने वाला है, वह समस्त हमारी भाषा में तर्क-सम्मत रूप से निर्दाशित है—कुछ 'कथ्य' (अर्थ) रूप में कुछ 'अ-कथ्य' (संरचना) रूप में, इत्यादि। द्रष्टव्य है कि, चूँकि पाश्चात्य चिंतक बुद्धि की सार्वभौम शक्ति का कायल है, वह यह स्वीकार नहीं कर सकता कि कुछ भी ऐसा हो सकता है जो अन्तिम रूप से 'अ-कथ्य' हो। अतः उसकी दृष्टि में यह संरचनात्मक अ-कथ्यता भी केवल उसी भाषा के सम्बन्ध में ठीक है जिस की संरचना के बारे में वह है, अन्यथा ऐसी संरचना वाली भाषा (प्रतीक भाषा) सदैव सम्भव है जिसके अन्तर्गत किसी अन्य भाषा की संरचना का कथन किया जा सके। अवश्य पश्चिम में कुछ ऐसे दार्शनिक भी हैं जो इस तार्किक कथ्यता व अ-कथ्यता के झगड़े में न पड़कर यह मान लेते हैं कि भाषा भाव मात्र का

८. छां० उप० (४.१६) : जहाँ विश्व के प्रज्ञानात्मक स्वरूप की चर्चा यज्ञ के रूप में की गई है, जिसके लिये 'मन' और 'वाणी' दो मार्ग हैं—मन, 'वाणी' का आन्तर रूप है तथा वाणी 'मन' का बाह्य रूप है।

९. माण्डूक्योपनिषद् (१.३) में 'ॐ' के प्रथम पाद 'अ' को वैश्वानर-रूप स्थूल जगत् से एकीकृत माना गया है, और ऐतरेय आरण्यक (२, ३, ६) में यही आकार सम्पूर्ण वाणी है—'आकारो वै सर्वा वाक्'। इस तरह हमारी भाषा (अपरा-वाक्) ही अपने सामान्य रूप में स्थूल जगत् की निर्दाशिका है। इसी आशय को व्यक्त करने वाली कुछ अन्य औपनिषदिक उक्तियाँ इस प्रकार हैं: 'तदस्येदं वाचा तन्त्या नामाभिर्दामभिः सर्वं सितम्', 'सर्वं हीदं नामानि', 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' (छां० उप० ६.१.४)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घर है (हाइडेगर), या यह कि भाषा में एक गूढ़ संरचना विद्यमान है जिसका विश्लेषणात्मक अध्ययन सम्भव है (चॉम्स्की)। आशय यह कि पश्चिमी 'अ-कथ्य' की धारणा कभी भारतीय 'अवक्तव्य' की धारणा तक नहीं पहुँच पायी है। चूँकि वहाँ बुद्धि और सत्ता के तत्त्व तर्क के अदृश्य तन्तुओं से परस्पर गुँथे हुए हैं, 'अ-कथ्य' या तो केवल एक शुद्ध ज्यामितीय रेखा बन कर रह जाता है, जिसका उपयोग विट्गेन्स्टाइन की तरह केवल कथ्य की सीमा-रेखा खींचने के लिये किया जा सकता है, या फिर वह केवल ऐसी सापेक्ष स्थिति है जो कथन के अन्य भाषायी स्तरों पर विश्लेष्य है। इस तरह सारगर्भित रूप में, सत् या सत्य के पक्ष के रूप में, कुछ भी 'अ-कथ्य' नहीं है; अथवा, यदि वह हो भी तो, हाइडेगर की तरह उसके सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह शुद्धतः 'अ-भाव' रूप है, जहाँ हमारी गति नहीं है।

४. कथ्यता और अकथ्यता की उपर्युक्त पश्चिमी धारणा से यह स्पष्ट है कि भाषा के स्वरूप के सम्बन्ध में वहाँ एक निश्चित मत यह है कि भाषायी संरचना किसी न किसी तरह सत् व सत्य की संरचना से अभिन्न है। वस्तुतः वहाँ इसी संरचनात्मक अभिन्नता को ग्रीक-काल में **लोगोस** की संज्ञा मिली थी, जिसकी चर्चा लॉजिक के रूप में **ट्रक्टेटस** में की गई है। यही मत प्रकारांतर से हाइडेगर की इस उक्ति का भी आधार है कि 'वाणी भाव मात्र का आवास है।' और इससे स्पष्ट है कि पश्चिम में भाषा को मूल रूप से स्वयंभू प्रकाश्यता तथा स्वतःप्रामाण्य लक्षण माना गया है। भारत में भी उसे इन लक्षणों से युक्त माना गया है; किन्तु साथ ही तुरन्त यह प्रश्न उठाया गया है कि तब वह भाषा या बोली दोषयुक्त कैसे हुई? क्यों सत्य के चतुर्दिक असत्य का धुँध और अर्थ के भीतर निरर्थकता का संचार हुआ? इस गूढ़ प्रश्न की चेतना ने ही भारतीय तत्त्वचिंतक के मन में यह जिज्ञासा जगायी कि ऐसा सर्वोच्च ज्ञान कौन-सा है जिसे जान लेने पर किसी प्रकार का असत्य, धुंध या निरर्थकता शेष न रहे? स्पष्ट है कि भारतीय तत्त्वचिंतक भाषायी संरचना के अन्तर्गत निषेधमूलक तार्किक नियमों, जैसे व्याघात का नियम, से आश्वस्त होकर बैठा नहीं रह सका और इसीलिये अपने लक्ष्य-स्वरूप सर्वोच्च ज्ञान को भी वह शुद्ध सैद्धान्तिक या पूर्ण तार्किक औचित्य स्वरूप मान कर सन्तुष्ट नहीं हुआ। इसके विपरीत उसने कहा कि ऐसा ज्ञान तर्कतः अवगम्य नहीं है।[१०] अब चूँकि यह 'तर्क' या तार्किक संरचना हमारी भाषा की रीढ़ है उसके कथन का तात्पर्य यह है कि हमारे सत् या सत्य सम्बन्धी ज्ञान का एक ऐसा पक्ष भी है जो हमारी भाषा के अन्तर्गत निर्वचन में ठीक-ठीक प्रकाशित नहीं हो पाता। यहीं हमें व्याकृत वाणी के घेरे से निकल कर अव्याकृत वाणी[११] में प्रवेश करना होता है। अर्थात् हमें भाषा में तार्किक स्पष्टता

१०. कठोपनिषद् (१, २, ९) : 'नैषा मतिरापनेया'। तैत्तरीय उप० में इसी सन्दर्भ में कहा गया है, 'यतो वाचा निवर्त्तन्ते'; और इसलिये हमारी साधारण भाषा की दृष्टि से कहें तो 'नेति-नेति' (बृह० उप० : ४, ४, २, २)।

११. 'अव्याकृत' वाणी की धारणा के लिये देखिये तैत्तरीय संहिता (६, ५, ७) : 'वाग् वै पराच अव्याकृता', जहाँ उसे साधारण वाक् का आधार-स्वरूप 'परा वाक' कहा गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के मोह से निकल कर प्रकाशोन्मुखता के लिये तत्पर होना होता है। स्पष्ट है कि भाषा में तार्किक संरचना की पारदर्शिता ही वह बाधा है जिसकी चर्चा औपनिषदिक तत्त्वदर्शियों ने वाणी के एक दोष के रूप में की है (यद्यपि अवश्य वही उसका एकमात्र दोष नहीं है), जिसके चलते सत्य की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, किन्तु जो अपनी शक्ति व आकर्षण में इतना प्रबल है कि भाषायी 'प्रकाश' के तत्त्व पर पूरी तरह छा जाता है। जैसाकि **बृहदारण्यक** (१, ३, १) में कहा गया है, आरम्भ से ही वाणी के प्रकाश-तत्त्व 'देव' पर उसका अंधकार-तत्त्व 'असुर' हावी रहा है। अवश्य 'तर्क' की स्वयंभू सार्वभौमिकता, पारदर्शिता और स्वतःप्रामाणिकता आकर्षक है, किन्तु अपनी स्थिरता व निश्चलता में वह सर्वथा जड़स्वरूप है, वह कभी उस सत् या सत्य के स्वयंभू प्रकाश-तत्त्व का निदर्शक नहीं बन सकता जो हमारे जीवन और जगत् में से होकर निरन्तर बहता है।

अतः सत् व सत्य की स्वयंभू प्रदत्तता व प्रामाणिकता वही नहीं है जो हमें तार्किक औचित्य के रूप में उपलब्ध है। सत् व सत्य की स्वयंभू प्रदत्तता व प्रामाणिकता के लिये हमें भाषायी तर्क-संरचना के घेरे से निकल कर भाषा के सार-तत्त्व में प्रवेश करना होता है। यह भाषा का वह रूप है जिसके बारे में कहा गया है कि उससे लोकों का सार निकलता है।[१२] स्पष्ट ही यही भर्तृहरी जैसे शब्द-ब्रह्मवादियों की 'परा वाक्' है, हमारी सामान्य भाषा की शक्ति व सामर्थ्य का यही चरम स्वयंभू स्रोत है। और इसीलिये भारत में 'व्याकरण' की धारणा भी मात्र भाषायी संरचनात्मक विश्लेषण की न होकर भाषायी 'अर्थ-सिद्धि' की है;[१३] ठीक उसी तरह जैसे पारम्परिक भारतीय दर्शन में भाषायी विश्लेषण-विधि मात्र भाषायी स्पष्टीकरण के लिये न होकर ज्ञान-सिद्धि के लिये है।

अब हम यह समझ सकने की स्थिति में हैं कि 'परा वाक्' और उससे संलग्न 'अवक्तव्य' की भारतीय धारणा अपने मूल में रहस्यवादी नहीं है, न ही भाषायी सम्प्रेषण के मार्ग में वह किसी तरह बाधक है। इसके ठीक विपरीत, वही भाषायी अर्थ और क्रिया की तथा उसके सन्दर्भ वाले ज्ञान व व्यवहार की सही समझ का तात्त्विक आधार प्रदान करने वाली धारणा है। उससे यह स्पष्ट होता है कि भाषायी सम्प्रेषण वस्तुतः मनुष्यों के बीच एक आध्यात्मिक या पराभौतिक सम्बन्ध है, न कि मात्र प्राकृतिक या परिस्थितिजन्य सम्बन्ध। भाषा को मात्र एक प्रतिरूपणात्मक प्रतीक-तन्त्र मान लेना और इसीलिये उसमें अन्तर्निहित सारभूत 'परा वाक्' को न देख पाना ही मनुष्य को निरन्तर अज्ञान की स्थिति में रखने वाला कारण है। द्रष्टव्य है कि भारतीय तत्त्वचिंतक विशुद्धतः प्रतिभास रूप से प्रकट लोक-भाषाओं को किसी तरह निषिद्ध नहीं करता वरन् यह मानता है कि उसमें जो भी अर्थ-गम्यता है और तदनुकूल सत्यों व मूल्यों की हमारी धारणा है उसी से हमारे व्यवहार-

१२. छांदोग्योपनिषद् (५.१७ : शांकर भाष्य) : जहाँ मौन रूप अव्याकृत वाणी से ही 'भूः भुवः स्व.' की उत्पत्ति मानी गई है।

१३. इस सन्दर्भ में विस्तृत विवेचना के लिये देखिये उदाहरणार्थ, जी० शास्त्री लिखित : दि फिलॉसफी ऑफ वर्ड एण्ड मीनिंग (१९८०)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगत् (लेबेंसवेल्त) का रूप बनता है। उस जगत् से कूद कर हम बाहर नहीं निकल सकते। किन्तु अन्दर-ही-अन्दर उसे देख-परख सकने और उसकी ठीक-ठीक जानकारी हासिल करने की स्वतन्त्रता हमें है—वस्तुतः इसी से हम शुद्ध आत्म-बोध तक भी पहुँच सकते हैं। अतः आश्चर्य नहीं कि भारत में 'व्याकरण' को एक वेदांग समझा गया और उसके द्वारा अर्थ-सिद्धि की बात कही गई। **'सिद्धि'** तभी कोई अर्थ रखती है जब हम यह समझें कि प्रस्तुत परिस्थिति में कहीं बाधा है, अपूर्णता है, असत्य और भ्रम का अंधेरा है, और हमें उसे दूर कर बाधाहीनता, पूर्णता और प्रकाश की स्थिति पैदा करनी है। 'अर्थ-सिद्धि' वस्तुतः ज्ञान और सत्य की सिद्धि है।

५. अब आगे हम संक्षेपतः यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि भाषायी सार-तत्त्व और उसके सम्बन्धित 'अवक्तव्य' का भारतीय दृष्टिकोण किस तरह अधिक दार्शनिक स्पष्टता और महत्तापूर्वक अद्वैत वेदांत, बौद्ध-दर्शन और जैन-दर्शन में प्रकट हुआ है। जैसाकि हमें ज्ञात है, अद्वैत वेदांत की एक केन्द्रीय धारणा 'माया' की है, जो वस्तुतः हमारा सारा भौतिक-व्यावहारिक जगत् ही है। इस धारणा की एक प्रमुख भित्ति वही औपनिषदिक उक्ति है जिसका उल्लेख हम पहले कर आये हैं, अर्थात् **बृहदारण्यक** की यह उक्ति—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्', जिसका उपयोग शंकराचार्य ने बार-बार अपनी व्याख्याओं में किया है। जगत् को वाणी का विकार एक तो इसलिये कहा गया है क्योंकि वाणी में नामरूपमय जगत् का 'आरम्भ' है, और द्वितीयतः इसलिये क्योंकि उसकी निर्वचनात्मक समझ से किसी निर्विवाद सत्य, ज्ञान व मूल्य की उपलब्धि सम्भव नहीं। वह 'कुछ' है, किन्तु वह सत् है अथवा असत् इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कह पाना सम्भव नहीं है। पुनः, चूँकि उसे एक-साथ ही सत् व असत् दोनों ही नहीं कहा जा सकता, वह अंततः 'सदसद्' रूप में अवक्तव्य है। यह 'सदसदवक्तव्यता' वस्तुतः हमारी लोक-भाषा के अन्दर सत् व सत्य के सम्बन्ध में प्रकाश की अपर्याप्तता या अभाव प्रकट करती है, अर्थात् इसका आशय भाषायी अर्थ-क्रिया की व्यावहारिक उपयोगिता को अस्वीकार करना नहीं है वरन् केवल यह बताना है वहाँ शुद्ध ज्ञान व सत् का प्रकाश देखना या देखने की आशा करना केवल एक मृगतृष्णा है। बौद्ध दर्शन भी प्रकारांतर से यही कहता है : भाषा के अन्दर जो कुछ सत्ता रूप से निर्दशित है उसका स्वरूप केवल 'अर्थ-क्रिया कारित्व' का है, जिसे यदि हम शुद्ध ज्ञान व सत् के रूप में समझना चाहें तो पारस्परिक विरोधमूलक निर्वचन ही हाथ लगते हैं।

किन्तु न तो अद्वैत वेदांत में और न ही बौद्ध-दर्शन में शुद्ध ज्ञान या सत् के सन्दर्भ से हमारी भाषायी अक्षमता की ठीक-ठीक विवेचना हो पायी है। भारतीय दार्शनिक परम्परा में केवल जैन दर्शन को इस सम्बन्ध में स्पष्ट विवेचना का श्रेय है। जैन दर्शन सीधे-सीधे हमें यह बताता है कि हमारी साधारण भाषायी अर्थ-क्रिया ही इस तरह की है कि किसी भी वस्तु-स्थिति के पूर्ण व सही निर्वचन में हमें परस्पर विरोधी कथनों का सहारा लेना होता है और यह विरोध केवल भाषायी तर्क तक सीमित न रह कर सत्ता की जड़ तक पहुँचता है और इसलिये हमें स्वीकार करना होता है कि सत्ता एक दृष्टि (लौकिक भाषा की दृष्टि) से अवक्तव्य है। उदाहरणार्थ, किसी दृश्यमान् घट के सम्बन्ध में यह कथन लें,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'यह घट है'। स्पष्ट है कि इस निर्वचन को सत्य मान लेने पर विशुद्ध तार्किक दृष्टि से उसी वस्तु-स्थिति के सम्बन्ध में इन जैसे अन्य कथन भी सत्य होंगे—'यह पट नहीं है', 'यह पर्वत नहीं है' इत्यादि; क्योंकि भाषायी तर्क से स्पष्ट है कि घट, पट, पर्वत आदि परस्पर विरोधी प्रत्यय हैं और इसलिये वे एक-साथ किसी एक ही वस्तु-स्थिति के निरूपण के लिये प्रयुक्त नहीं किये जा सकते। हमारी भाषा का यही सामान्य तार्किक रूप है जो अत्यन्त स्पष्ट और इसलिये बड़ा आकर्षक है। किन्तु जैन, अन्य भारतीय तत्त्वचिंतकों की तरह, इससे आगे बढ़ता है। वह सीधे इस प्रश्न पर आता है कि क्या निर्वचन या निरूपण के अन्तर्गत हम सत्तामूलक उद्देश्यपद और उस (सत्ता) के विशिष्टतामूलक विधेय-पद को एकीकृत स्वरूप वाला मान सकते हैं? और फिर इसके उत्तर में वह इस आश्चर्यजनक निष्कर्ष पर पहुंचता है कि न तो हम उन्हें एकीकृत स्वरूप वाला मान सकते हैं और न ही परस्पर पृथक् स्वरूपों वाला। उसकी युक्ति है कि यदि वे एकीकृत स्वरूप के बोधक हों तो, उदाहरणार्थ, दृश्यमान् घट के सम्बन्ध में यह कहना कि वह पट नहीं है किसी तरह उसके निर्वचन से सम्बन्धित नहीं हो सकता। दूसरी ओर, यदि 'यह' (सत्तामूलक वस्तु), और 'घट' (उसका विशिष्ट रूप) परस्पर पृथक् हों तो अपने निर्वचन द्वारा उन्हें हम इस तरह नहीं जोड़ सकते कि उससे एक सत्तामूलक वस्तु-स्थिति का बोध (अनुभव) हो। आशय यह कि भाषायी निर्वचन में ही यह स्पष्ट है कि तर्कतः परस्पर विरोधी रूप वाले प्रत्ययों के बीच स्वतः सत्ता की दृष्टि से कोई विरोध नहीं है: किसी 'यह' को 'घटत्वमान् घटः' से अस्ति रूप में मान्य कर लिये जाने पर भी उसके सन्दर्भ में 'पटत्वमान् पटः' का नास्ति रूप केवल तार्किक रूप से अर्थ नहीं रखता, वरन् उसका सीधा सम्बन्ध सत्ता के इस स्वरूप से ही है कि वह मूलतः 'पट' और 'घट' रूपों में समानरूपेण अभिव्यक्ति के योग्य है। और इसलिये यह मानना पड़ेगा कि उसकी अपनी एक निजता (स्व) है जिससे कि वह 'घट', 'पट' आदि (जो 'पर' हैं) के साथ तादात्म्य स्वरूप वाला नहीं समझा जा सकता। अर्थात् एक ही भावरूप वस्तु या सत्, जो घट, पट आदि रूपों में निर्वचनीय रूप से अभिव्यक्ति के योग्य है, वही 'घट-नहीं', 'पट-नहीं' आदि रूपों में भी निर्वचनीय होने से अपने मूल में अवक्तव्य भी है।

आशय यह कि, साधारणतः स्पष्ट व पूर्ण निर्वचन समझे जाने वाले 'यह घट है', 'यह पट नहीं है' आदि अस्ति-नास्तिमूलक सामान्य कथन भी अपने-आप में एक सापेक्षिक अवक्तव्यता की धारणा से युक्त हैं। जैन-दर्शन के अनुसार किसी दृश्यमान् वस्तु के सम्बन्ध में यह कथन कि 'यह घट है' सत्य होने पर भी वस्तु-स्थिति का अधूरा कथन है, यद्यपि सामान्यतः वह एक पूर्ण निर्वचन समझा जाता है। यहीं हम तर्क द्वारा सत्य को ढँकने की बात समझ सकते हैं। भाषा का सामान्य तर्क हमें यह बताता है कि परस्पर विरोधी कथनों में यदि एक सत्य हो तो बाकी सब असत्य होंगे, और इससे हम तात्पर्य निकालते हैं कि उपर्युक्त सत्य निर्वचन 'यह घट है' में वस्तुतः एक ही भावमूलक स्वरूप अभिव्यक्त हुआ। किन्तु जैन दर्शन हमें बताता है कि वस्तुस्थिति सचमुच ऐसी नहीं है, यह केवल भाषायी तर्क का भ्रम है। 'यह' को 'घट' से तादात्म्य-रूप मान लेने से कई व्याख्यामूलक कठिनाइयाँ पैदा होती हैं जिनका समुचित समाधान केवल तब निकल सकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जब हम 'यह घट है' के अस्ति-निर्वचन के साथ-साथ 'यह पट नहीं है' जैसे नास्ति-निर्वचन वाक्यों का भी कथन सत्ता सम्बन्धी अपने अर्थ की पूर्णता और स्पष्टता की दृष्टि से करें। और जब हम ऐसा करते हैं तो हमें यह भी स्वीकार करना होता है कि जो इस तरह निर्वचन के योग्य है वही एक अन्य दृष्टि से **अनिर्वचनीय** भी है। यहाँ तक कि अधिक उचित यह कहना होगा कि सत् या सत्य इसीलिये वक्तव्य है क्योंकि वह सारतः अवक्तव्य है। दूसरे शब्दों में, भाषा का प्रकट अर्थ-व्यापार अपने-आप में एक अधिक गूढ़ आशय को प्रकाशित करने वाला है, और यही दार्शनिक को समझना चाहिये।

पुनः, हमें यह देखना चाहिए कि जैन दर्शन का उपर्युक्त 'अवक्तव्य' सम्बन्धी मत अद्वैत वेदांत और बौद्ध दर्शन के 'अवक्तव्य' सम्बन्धी मतों से मूलतः भिन्न नहीं है। सत् और संज्ञान के क्षेत्र से ही सीधे इस धारणा तक पहुँचने में ये बाद वाले मत जैन मत से इसलिये पृथक् जान पड़ते हैं क्योंकि वे सीधे-सीधे भाषायी तर्क की भावमूलक अपर्याप्तता तथा भ्रम की स्थिति को अपने अध्ययन का विषय नहीं बनाते। दूसरी ओर, जैन-दर्शन इसी भाषायी तर्क की भावमूलक अपर्याप्तता व भ्रम को अपनी विवेचना का आधार बना कर सत् व उसके ज्ञान सम्बन्धी अपनी धारणाओं की पुष्टि करता है। यही कारण है कि जैन स्याद्वाद व नयवाद को उसकी अनेकांतवादी भावमीमांसा की नींव समझा जाता है।

६. अन्त में, अगर हमें इतने सारे पृष्ठों में लिखित और अलिखित विचारों को एक वाक्य में कहने को कहा जाय तो हम अनायास **ऋग्वेद** की इस सुन्दर व बोधक उक्ति का स्मरण करेंगे :

"कोई देखकर भी वाणी को नहीं देखते, सुनकर भी नहीं सुनते, किसी को यह वाणी पति की कामिनी, सुवासा जाया की तरह अपना शरीर अनावृत करती है।"[१४]

विश्व-भारती, शांतिनिकेतन

१४. उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥ (१०, ७१, ४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्म और अनात्म

यशदेव शल्य

हम जगद्भाव को प्राप्त चैतन्य हैं। किन्तु यह भाव चेतना के लिए अनिवार्य नहीं है। यदि यह अनिवार्य होता तो जगद्विचार के लिए कोई सम्भावना ही नहीं रह जाती, क्योंकि जगद्विचार जगत् के अभाव की तथा अन्यथाभाव की सम्भावना से ही आरम्भ होता है। किन्तु निवार्य होने पर भी यह भाव चेतना के लिए सहज और दुर्निवार्य है। किन्तु यह भी कल्पनीय है कि जगद्भाव चैतन्य की निरवधिक सत्ता में मात्र एक आकस्मिक घटना है जो घटित होने पर चैतन्य के लिए सहज और अनिवार्य प्रतीत होती है किन्तु वस्तुतः यह नितान्त आगन्तुक है। किन्तु यदि जगद्भाव सहज भी हो तो भी इसकी निवार्यता इसकी आगन्तुकता को तो प्रकट करती ही है।

जगद्भाव का मुख्य माध्यम देह और इन्द्रियाँ हैं, अथवा कहें, चेतना इस भाव को आपन्न होने पर देहेन्द्रियाधिष्ठित होती है। किन्तु अन्तःकरण और बुद्धि भी इस भाव के साधक बनते हैं। उदाहरण के लिए देहेन्द्रिय स्तर पर भूख, रसना और भोजन परस्परापेक्षी हैं किन्तु बौद्धिक स्तर पर रसना विश्लिष्ट प्रत्यय के रूप में गृहीत होकर भूख से निरपेक्ष असीम अतृप्ति की कारक बनती है। इस प्रकार जगदोन्मुख अन्तःकरण और बुद्धि जगद्-भाव का अनेकधा संवर्धन कर देते हैं।

जगत् का मूल अहंकार को कहा गया है जो ठीक ही है, क्योंकि जगद्भाव सीमित विषयों के माध्यम से अपने को सिद्ध करता है और सीमित विषयों की सृष्टि विषयी की सीमितता के बिना नहीं हो सकती। संवेद्य विषयों की सिद्धि के लिए उनका परिप्रेक्ष्यात्मक होना आवश्यक है जो हमारे देश में बिन्दु विशेष पर स्थित हुए बिना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार वर्ण की सम्भावना के लिए विशेष किरण-दैर्घ्य से उनका अवलोकन आवश्यक है, अन्यथा सब किरण-दैर्घ्यों से एक-साथ देखने पर वर्ण सम्भव नहीं हो सकता। इसी प्रकार विचार के लिए भी—प्रत्येक विचार एक व्यवस्था का अंग होता है और यह व्यवस्था अन्य समकक्षी व्यवस्थाओं का निषेध करती है। इसी से प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति के साथ उसकी प्रतिषेधक प्रतिज्ञप्ति प्रतिषिद्ध से भिन्न सब प्रतिज्ञप्तियों की समावेशी होती है। यही बुद्धि का अहंकार है कि वह सब पक्षों से एक-साथ विचार नहीं कर सकती। विचार, भाव और संवेद सब चेतना के अहंकारमूलक अवगुण्ठन के प्रतिफल हैं। निरहंकार चैतन्य के लिए तन्मूलक विषयी और विषय की उपलब्धि सम्भव नहीं है।

संवेद का अनुभूति में ग्रहण और अनुभूति तथा संवेद पर विचार तत्तदवस्थाओं का अतिक्रमण है, विचार पर विचार प्रथम का दूसरे में अतिक्रमण है। ये सब अहंकार के क्रमिक अतिक्रमण होने पर भी अहंकार के अन्तर्गत ही स्तर-भेद हैं। और जैसाकि हमने कहा, इनकी उन्मुखता विषयपरक होने पर ये विषयपरक अवस्थाओं की पुष्टि ही करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह उन्मुखता जगदोन्मुखता है जिसे हमने चेतना का जगद्भाव कहा है। किन्तु अहंकार और जगदोन्मुखता पर विचार, विचार होने पर भी इनसे पराङ्मुखता है—प्रयोज्य-मात्र पर सन्देह कि इसका मैं क्या करूँ—किमहं तेन कुर्याम्—आनुभूतिक और बौद्धिक स्फुरण होने पर भी जगन्निवर्तक हैं। और यह जगत्पराङ्मुखता और निवृत्ति उतने ही तथ्य हैं जितना जगद्भाव तथ्य है। जगद्भाव चैतन्य की जागतिकता को प्रकट करता है और जगन्निवृत्ति आत्म की जगद्बाह्यता की प्रकाशक बनती है। दोनों भाव चैतन्य के ही भाव हैं। किन्तु आत्म की जगद्बाह्यता का अर्थ है कि जगद्भाव आत्म-भाव नहीं है। किन्तु जगद्भाव में स्पष्टतः आत्म-भाव रहता है, 'मैं' के बोध के रूप में नहीं, जैसाकि प्रायः समझा जाता है, अपितु अतिक्रामी भोक्ता के रूप में, अधिक उपयुक्त पदावली में कहें, विषयों के विनियोजक के रूप में। उदाहरणतः सम्मुख स्थित मेज़ की देशावस्थिति आत्म की विषय-वृत्तिकता का—विषयाभिमुखता का—व्यापार है और उसके वर्णादि देहेन्द्रियाधिष्ठान के। यह विनियोजक आत्म कांट के अतिक्रामी आकारों का समकक्षी नहीं है, यह जगद्भावापन्न आत्म है जो इस भाव से निवृत्त भी हो सकता है। किन्तु जगद्भाव में आत्म प्रकट नहीं रहता, यह विषय-विनियुक्त रहता है; विचार, भाव और वस्तुएँ इसे तन्नियुक्त और आत्म-बहिष्कृत रखती हैं। पाशव-स्तर पर तो यह आत्म मुख्यतः देहेन्द्रियाधिष्ठित ही रहता है और इस प्रकार केवल सांवेदनिक भाव को ही प्राप्त रहता है। परिणामतः इसमें अपनी ओर अतिक्रमण का कोई आभास भी नहीं रहता। किन्तु यदि विकासवाद या भोग-योनियों का अभ्युपगम सही हो तो यह अभ्युपगम भी सही प्रतीत होता है कि इन स्तरों पर भी इस अतिक्रमण का प्रयत्न रहता है जो इनमें स्तर-भेद के क्रम से मनुष्य-योनि में प्रतिफलित होता है। किन्तु इस पर ह्यूमीय प्रकार की आपत्ति उठायी जा सकती है और कहा जा सकता है कि आत्म-संज्ञक कोई वस्तु है ही नहीं, केवल विषयच्छटा ही है, केवल एक मनोवैज्ञानिक भाव है जो 'मैं' पद-वाच्य है। किन्तु यह आपत्ति पूर्णतः निरर्थक है, क्योंकि ह्यूम आत्म को पीत, कठोर आदि के समान स्तर के एक विषय के रूप में खोजता है जो ग्राम्यजन भी नहीं करते, और तब उसे नहीं पाकर उसको कल्पना घोषित करता है। ह्यूम के समान ही बौद्धों ने भी आत्म को कल्पना कहा है—उनके अनुसार यह संस्कार-प्रवाह मात्र है। किन्तु यह भी केवल विषयात्म का, मनोवैज्ञानिक अहंबोध का, निरूपण है जिस पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु आत्म न संवेद्य विषयों में एक विषय के रूप में अभिप्रेत है, न मनोवैज्ञानिक स्तर के अहम्परक अनुभव के रूप में, न संस्कार-प्रवाह के संयोजक के रूप में ही अभिप्रेत है। जगद्भाव की अवस्था में यह आहंकारिक उपाधियों के रूप में अभिप्रेत है और जगन्निवृत्ति की अवस्था में यह उस अनिवार्यता के रूप में अभिप्रेत है जो सब आगन्तुकताओं का अतिक्रमण कर उन्हें उस नाम से अभिहित करती है। अथवा कहें, यह उस बोध के लक्ष्य के रूप में अभिप्रेत है जो आहंकारिक उपाधियों की अनात्मता को प्रकट करता है। इस बोध को मनोवैज्ञानिक कहना युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा कहने का अर्थ केवल यही होगा कि इस बोध का उपादान प्राकृतिक है। अब यदि यह मान भी लिया जाय कि इस बोध का उपादान प्राकृतिक है, तो भी इसका स्वरूप क्या है, संकेत क्या है, अभिप्राय क्या है, यह इससे द्योतित नहीं होता। भोजन की इच्छा, शेर से भय और इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इच्छा का निरोध तथा निर्भयता की सिद्धि चारों मनोवैज्ञानिक हैं किन्तु इनके स्वरूप मूलतः भिन्न हैं। निरोध के प्रयत्न के प्रयत्न-भाग की भी मनोवैज्ञानिक व्याख्या सम्भव है, किन्तु इस प्रयत्न के अर्थ या प्रयोजन की मनोवैज्ञानिक व्याख्या सम्भव नहीं होगी। यह प्रयत्न विषयोत्तरपरक है और उसी में मूलित है। जगद्भाव की सार्थकता में सन्देह और जगन्निवृत्ति की सिद्धि आत्म की जगद्ब्राह्यता के सूचक हैं और जगत् इसके विपरीत भाव के रूप में आत्म की जगद्भावापन्नता का सूचक है। इस प्रकार जगत् भी आत्म की ही आत्म-पराङ्मुख वृत्ति के रूप में प्राप्त होता है।

× × × ×

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार जगत्प्रवृत्ति और जगन्निवृत्ति दोनों आत्म के सहज व्यापार हैं, यद्यपि जगत्प्रवृत्ति की अवस्था में निवृत्ति का प्रवर्तन एक प्रयत्न-साध्य व्यापार है। किन्तु जगत्प्रवृत्ति सहज होने पर भी आत्म की स्वरूप-भ्रष्टता है क्योंकि जगत् विषय के रूप में भी और जगद्भाव के रूप में भी आगन्तुक और सन्दिग्ध है। इसकी आगन्तुकता इस बात से सिद्ध है कि इसके अन्तर्गत विशिष्ट वस्तुएँ ही नहीं, जगत् अपनी समग्रता में भी उससे अन्यथा होना सम्भव है जो यह है। इतना ही नहीं, इसका अभाव होना भी सम्भव है। और जब मैं जगत् के सन्धारक के रूप में, विनियोजक के रूप में, अपने ही अस्तित्व को आगन्तुक पाता हूँ तब इसका छूंछापन, असद्रूपता, रेत के घरौंदे से भी अधिक मुखरता के साथ प्रकट हो जाती है। आगन्तुकता जगत् के और मेरी जागतिकता के असद्भाव को प्रकट करती है। यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि मेरा इस समय देश-विशेष में होना आगन्तुक है किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि मैं इस समय देश-विशेष में नहीं हूँ। यह सही है, किन्तु मेरे यहाँ नहीं होने की सम्भावना से यह आपादित होता है कि यहाँ पर होना मेरा स्वरूप-धर्म नहीं है। इस प्रकार मेरे तथा जगत् के नहीं होने की सम्भावना जगत् की और मेरी नितान्त आगन्तुकता को और इस प्रकार निःस्वभावता को प्रकट करती है।

इससे जगद्भाव की निरर्थकता प्रकट होती है। किन्तु यह निरर्थकता इससे अधिक प्रत्यक्ष रूप में भी प्रकट होती है: जगत् की सार्थकता हमारी एषणाओं के रूप में प्राप्त होती है। इस प्रकार अधिकार, काम, रसेच्छा आदि जगत् की सार्थकता के विधायक होते हैं। इनकी तृप्ति की खोज हम अपनी पूर्ति के रूप में करते हैं। किन्तु इनकी तृप्ति हो जाने पर जबकि एक सुख मिलता है, मनन से आत्मपूर्ति के रूप में इस अन्वेषण की भ्रामकता प्रकट होती है। एषणाएँ आत्म में अभाव के रूप में ही प्रकट होती हैं किन्तु इनकी तृप्ति हो जाने पर हम आत्म में कोई भी अभिवृद्धि हुई नहीं पाते। यह अपूर्णता और इसकी पूर्ति कारण-कार्यात्मक प्रकार की होती है। इससे पूर्ति पुनः उसी स्तर की अपूर्णता में परिणत होकर उसी स्तर की, उसी स्वभाव की, आकांक्षा को उत्पन्न करती है। किन्तु इस तृप्ति से कोई अभिवृद्धि नहीं हुई होने का बोध इस तृप्ति के लिए अनुधावन को अनात्म के अनुसरण के रूप में प्रकट करता है जिससे खेद और क्लान्ति उत्पन्न होती है। मनुष्य ने इस तृप्ति की आत्म-तृप्ति के रूप में निरर्थकता को, अथवा कहें इसकी अनात्मता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को, प्रायः-प्रायः अपने शैशव में ही देख लिया था, क्योंकि हम आदिमतम अवस्थाओं के मानव-समाजों में भी देहेन्द्रिय स्तर की पूर्तियों की अनात्मता का बोध पाते हैं, यह बोध कितना भी अपरिष्कृत चाहे क्यों नहीं हो। नैतिक बोध का आधार यह बोध ही है, यद्यपि यह स्तर बहुत स्थूल है। किन्तु मुख्य बात इस दृष्टि के आविर्भाव की है जो नैतिक बोध के रूप में मनुष्य में सर्वत्र उपलब्ध होती है। नैतिकता का मूल देहेन्द्रियमूलक एषणाओं की निग्रहोचितता का बोध है। इस पर आपत्ति हो सकती है कि इस बोध की युक्तता का क्या प्रमाण है ? इसकी अभ्रान्तता कैसे सिद्ध है ? यह आपत्ति भी नवीन नहीं है, किन्तु यह इस भ्रान्ति पर प्रतिष्ठित है कि बोध तर्कपूर्वक होता है, जबकि वस्तुतः तर्क बोधपूर्वक होता है।

एषणाएं आत्म के देहेन्द्रियाधिष्ठान की परिणाम होती हैं, अर्थात् इनका अनुभव मेरी देहाकांक्षा और इन्द्रियाकांक्षा के रूप में नहीं होकर आत्माकांक्षा के रूप में होता है— मैं भोजन और रस के लिए व्याकुल होता हूँ। परिणामतः इनकी पूर्ति मुझे पूरित करती है। इस प्रकार इन एषणाओं की निग्रहोचितता का बोध आत्म की निग्रहोचितता का बोध होगा जोकि वदतोव्याघात है, क्योंकि आत्म का निग्रह किस सिद्धि के प्रयोजन से हो सकता है ? इस प्रकार यह बोध इस आत्म की औपाधिकता को प्रकट करता है, क्योंकि किसी एषणा की निग्रहोचितता का अर्थ है उस अभाव और उसकी पूर्ति का असत् होना, अर्थात् इसका केवल प्रातीतिक होना कि यह अभाव आत्मपरक था और इसकी पूर्ति आत्मपूरक होगी। इससे देहात्म और इन्द्रियात्म आदि की औपाधिकता या अनात्मता प्रकट होती है जोकि चैतन्य के जगदुभाव में व्यतिक्रम घटित होने की सूचक है।

× × × ×

मनुष्य की स्थिति दो विरोधी आकर्षणों के मध्य बिन्दु पर है। पाशव चेतना पूर्णतः बाह्योन्मुख चेतना है। बाह्योन्मुख चेतना देहेन्द्रियाधिष्ठित होकर इनके विषयों को समर्पित रहती है। बाह्योन्मुख प्रवृत्ति इस स्तर पर इतनी दुर्धर्ष रहती है कि अन्तःकरण और बुद्धि या तो अंकुरित ही नहीं हो पाते या जहाँ अंकुरित होते भी हैं वहाँ ये पूर्णतः विषय-परतन्त्र ही रहते हैं। किन्तु मनुष्य में इस वृत्ति का व्यतिक्रम भी दिखायी देता है। इसमें बुद्धि विषयों में एक आन्तर विस्फोट घटित कर इन्हें घटना और अन्तर्वस्तु के रूप में विभक्त कर देती है और अन्तर्वस्तु के रूप में विषय एक ओर कालातीत स्मृति को और दूसरी ओर निरवधिक धर्मता को समर्पित हो जाता है। विषय का घटनात्मक पक्ष, जोकि देहेन्द्रिय-मूलक है, इस विश्लेषण से नितान्त अग्राह्य और गौण हो जाता है। स्मृति में विषयों का कालातीत संग्रह काल के एक दूसरे आयाम को सम्भव करता है। यह काल का मूल्यात्मक आयाम है।[1] मूल्य उत्कर्ष-साधन का प्रयत्न है जो पूर्ति के कारण-कार्यात्मक से भिन्न परिष्कारात्मक-संशोधनात्मक सन्दर्भ को जन्म देता है। परिष्कार विषय-सम्बद्ध और आत्म-सम्बद्ध दोनों प्रकार का हो सकता है किन्तु वास्तव में सब परिष्कार अन्ततः आत्मसम्बद्ध

१. द्रष्टव्य यशदेव शल्य—विषय और आत्म, पृ० ५६–६५, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, जयपुर, १९७२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही होता है[२] क्योंकि सब परिष्कार्य विषय बुद्धि-ग्राह्य विषयों (धर्मों) की देहेन्द्रिय-ग्राह्य विषयों में पुनारचना के प्रयत्न होते हैं।[3] यह व्यापार एक प्रकार से चेतना के संसारावतरण के अनुरूप होता है। दोनों व्यापार चेतना के अपने को अन्य माध्यम से पुनरधिगत करने के व्यापार हैं। सब परिष्कार इस पुनरधिगमन का ही क्रम होता है जो बाह्य विषयों में प्रत्यय की स्वरूप-सिद्धि को प्रतिफलित करता है।

जैसाकि हमने ऊपर कहा, विषय-परिष्कार परोक्षतः आत्म-परिष्कार ही है, किन्तु आत्म-परिष्कार का प्रत्यक्ष प्रसंग पश्चात्ताप, खेद और क्लान्ति-जनक अनुभव के अवसरों पर प्रस्तुत होता है। पश्चात्ताप आत्म के अन्यथाभाव पर मनन के परिणामस्वरूप होता है और अपने सम्मुख अपनी स्वरूपभ्रष्टता को प्रकट करता है। यह आत्म का आत्म-निराकरण, आत्म-प्रतिषेध है। निराकृत और प्रतिषिद्ध आत्म प्रतिषिद्ध होकर भी आत्म ही है, क्योंकि यह आत्म होने से ही पश्चात्ताप का स्रोत है। किन्तु तब भी यह आत्म नहीं है, क्योंकि यह आत्म रूप में ही निषिद्ध है। यह आत्म के अन्यथात्व का, उसकी अन्तर्गत निराकरणीयता का, अन्तर्गत विसंगति और वैपरीत्य का, बोध है। पश्चात्ताप और खेद मेरे वह होने पर है जोकि मैं नहीं हूँ, यह उसकी निराकरणीयता का बोध है जो आत्म के अन्तर्गत उसका बाधक है, जो मद्गत आत्म-विसंगत है। हमारी यह स्वरूपगत आत्मविसंगति पदे-पदे प्रकट होती है और हममें खेद और क्लान्ति को उत्पन्न करती है— अजीर्ण मेरी रस-लिप्सा की और पराजय अधिकार और प्रभुता की एषणाओं की व्यर्थता को सहज में प्रकट कर देते हैं, यद्यपि तृप्ति और विजय पर मनन भी इनके अनुसरण की व्यर्थता को उतना ही प्रकट करते हैं। केवल तृप्ति और विजय मनन को साधारणतः प्रवर्तित नहीं करते। ये सब आत्म-बोध के और अनात्म-विवेक के क्षण हैं। इन पर मनन जगद्भाव मात्र की आगन्तुकता, निरर्थकता, निवारणीयता और इस प्रकार अनात्मता को प्रकट करता है।

× × × ×

निवारणीय आत्म अनात्म है। इस प्रकार अनात्म आत्मगत दोष है जिसका निवारण आत्मप्रापक होता है। दोष का बोध अदुष्टता के बोधपूर्वक होता है जिससे आत्म की स्वरूपगत अदुष्टता सिद्ध होती है। किन्तु आत्मगत दोष का बोध वास्तव और भाव्य के बीच तनाव का बोध है, यह अदूष्य के भाव या वास्तवता का बोध नहीं है। अदूष्य यदि भाव या वास्तव हो दो दोष की सम्भावना नहीं रहेगी और इस प्रकार निवारण का प्रयत्न, पश्चात्ताप और खेद अस्थाने होगा। किन्तु हमारी प्राप्त स्थिति आत्म और अनात्म के बीच, दोष और अदूष्य के बीच तनाव की स्थिति है— अदूष्य हमारा परमार्थ है और इस प्रकार परमार्थतः स्वरूप-सत् है, किन्तु यह भाव्य और साध्य है, यह सिद्ध नहीं है। अनात्म भाव और सिद्ध है किन्तु निवारणीय है और अतएव असत् है। दूसरे शब्दों में, अनात्म भाव

२. द्रष्टव्य गोविन्दचन्द्र पांडे—मूल्य मीमांसा, पृ० २५१-२६१, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७३।

३. यहाँ 'बुद्धि' शब्द का प्रयोग हम व्यापकतर अर्थ में कर रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है किन्तु असत् है जबकि आत्म अभाव है और सत् है। इसे एक सदोष कला-कृति के उदाहरण से समझने में सरलता होगी। कला-कृति में दोष का बोध उसके अदूष्य रूप का आक्षेप करता है। दोष कृति की आत्मा में अनात्म की, एक अन्तर्गत विदेशी तत्त्व की, विद्यमानता है। दोष वास्तव है, क्योंकि यदि यह वास्तव नहीं होता तो कृति अदुष्ट होती, किन्तु यह उसकी आत्मा नहीं है क्योंकि यदि यह आत्मा होती तो इसके सदोष होने का कोई अर्थ नहीं होता। इस प्रकार कृति स्वरूपतः भाव्य है और भावतः स्वरूपभ्रष्ट है। भाव और भाव्य के बीच सब तनावों का अन्तिम अधिष्ठान आत्म और अनात्म के बीच तनाव में है क्योंकि सब अपूर्णताएँ आत्म-लक्षी होती हैं।

इस पर आक्षेप किया जा सकता है कि भाव्य पूर्णता स्वरूपसिद्ध पूर्णता नहीं है, यह आक्षिप्त पूर्णता है जो अपूर्णता की सापेक्ष है; इसकी अपनी कोई अन्तर्वस्तु भी नहीं हो सकती, इसकी अन्तर्वस्तु केवल अनात्म-निषेध ही हो सकती है—यह निषेध पर आश्रित और उसी से आपूर्ण हो सकती है। किन्तु यह आपत्ति सही नहीं है। दोष का बोध अदूष्य का आक्षेपक नहीं होता, यह **अदूष्यता-पूर्वक** होता है। अदूष्य के भाव्य होने से यह अधिगत नहीं रहता, क्योंकि यदि यह अधिगत हो तो यह भावरूप ही होगा, भाव्य नहीं होगा। किन्तु यह दोष का निरूपक, उसका अभिधायक होता है, यह उसका नामकरण कर उसका निराकरण करता है। इस प्रकार दोष अदूष्यपूर्वक होता है। किन्तु अदूष्य की पूर्वता कालात्मक नहीं है, यह सत्तात्मक पूर्वता है—आत्म भाव्य सत् है, यह सत् है जो अवस्तु-सिद्ध है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल्यों की त्याग-रूपता का सिद्धान्त

संगमलाल पाण्डेय

प्राचीन भारतीय दर्शन में मुक्ति का विचार एक अत्यन्त महत्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न रहा है। जो लोग मुक्ति को मानते हैं वे इसे प्रायः सर्वोच्च मूल्य, पुरुषार्थ या परमार्थ मानते हैं। कुछ लोग इसे एकमात्र मूल्य भी मानते हैं। किन्तु जो लोग मुक्ति को नहीं मानते हैं, जैसे चार्वाक दार्शनिक, वे इसको किसी प्रकार का मूल्य नहीं समझते। फिर, भक्तियुग के कुछ विचारकों ने भक्ति को मुक्ति से बड़ा स्थान दिया और इस प्रकार उन्होंने मुक्ति को सर्वोच्च मूल्य के पद से अपदस्थ कर दिया। परन्तु ये सभी मत मूल्यों के स्वरूप के अनुसार पर्याप्त नहीं हैं, क्योंकि मुक्ति का मूल्यों से जो संबंध है उसकी व्याख्या करने में ये सभी मत असमर्थ हैं।

पुनश्च, आधुनिक युग में पश्चिम में मूल्यों का जो विचार हुआ है उसके अनुसार कुछ दार्शनिकों ने मूल्यों का अनिवार्य संबंध सुख से जोड़ा है और कुछ ने इच्छा से, कुछ ने रुचि से तथा कुछ ने भावना से। ये सभी सिद्धान्त मूल्य-अनुभव को किसी वस्तु की उपलब्धि मानते हैं। किन्तु मूल्यों के अनुभव में ऐसी उपलब्धि के अतिरिक्त एक और आयाम रहता है जिसे हम निवृत्ति या मुक्ति का अनुभव कहते हैं। बिना इस अनुभव के कोई मूल्य-अनुभव नहीं हो सकता। उदाहरण के लिये भोजन सुखद है, इष्ट है, प्रिय है, रुचिकर है; किन्तु इन सब के अतिरिक्त उसका संबंध भूख की निवृत्ति से भी अनिवार्यतः है। भूख से जो वेदना उत्पन्न होती है, उससे जो कष्ट और दुःख होता है, वह भोजन से दूर हो जाता है। इस प्रकार भोजन से हमें भूख से मुक्ति मिलती है। यदि यह मुक्ति न हो तो भोजन हमें सुखकर, रुचिकर, इष्ट या प्रिय न लगे। इस प्रकार मुक्ति भोजन-मूल्य के अनुभव का मूल है। हमारे इस विश्लेषण के अनुसार जो मूल्य-सिद्धांत मुक्ति को मूल्य-अनुभव में केन्द्रीय महत्व नहीं देते वे सब वास्तव में मूल्यों का सही वर्णन नहीं करते हैं। इस आधार पर आधुनिक मूल्य-मीमांसा के द्वारा किये गये मूल्यों के विवेचन वैसे ही ग़लत प्रतीत होते हैं जैसे प्राचीन भारतीय दर्शन के मुक्ति-विवेचन। अतः प्राचीन भारतीय दर्शन और आधुनिक पाश्चात्य मूल्य-मीमांसा दोनों ने मूल्यों के स्वरूप का ठीक से विवेचन नहीं किया है।

प्राचीन भारतीय दर्शन ने मुक्ति का विवेचन करने में समस्त मूल्यों से मुक्ति के संबंध को ठीक से नहीं पहचाना। आधुनिक पाश्चात्य मूल्य-मीमांसा ने मूल्यों को इतना प्रवृत्ति-परक निरूपित किया है कि उसने मुक्ति को मूल्यों से बहिष्कृत ही कर दिया। यदि मुक्ति नहीं है तो कोई मूल्य नहीं हो सकता और यदि कोई मूल्य है तो मुक्ति भी अवश्य है। इस प्रकार मुक्ति और मूल्य का संबंध बहुत गाढ़ा है और इस संबंध के प्रति मुक्ति-दर्शनों और मूल्य-दर्शनों ने उपेक्षा बरती है। मुक्ति और मूल्य दोनों को समझने के लिए एक नयी दृष्टि की आवश्यकता है। यह दृष्टि त्याग के विश्लेषण से मिल सकती है। हम त्याग के विश्लेषण द्वारा मुक्ति तथा मूल्य के वास्तविक संबंध को उन्मीलित करना चाहते हैं। हमारे मत से मुक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक मूल्य का सामान्य लक्षण है और वह कोई विशेष मूल्य नहीं है। जिन लोगों ने मुक्ति को एक विशेष मूल्य माना अथवा इसको सर्वोच्च मूल्य माना, उन लोगों ने एक बड़ी भूल की है जिसको हम मूल्य का वास्तवीकरण कह सकते हैं, क्योंकि उन्होंने मुक्ति को एक वस्तु या उसके गुण अथवा दशा के रूप में कल्पित करने का प्रयास किया है। फिर, जिन लोगों ने मुक्ति को अस्वीकार किया है उन्होंने मूल्य को समझने में जो भूल की है उसको प्रो० जी. ई. मूर ने ठीक ही प्रकृतिवादी दोष (नेचुरलिस्टिक फैलेसी) कहा है। इन दोनों दोषों से बचने के लिए हमें यह मत अत्यन्त समीचीन लगता है कि मुक्ति प्रत्येक मूल्य का सामान्य स्वरूप है। वह मूल्य-सार है। मूल्यों को उससे पृथक् करके समझने में उन्हें किसी विषय से अभिन्न करना है, और ऐसा करने में स्पष्टतः प्रकृतिवादी दोष है।

मूल्यों की त्यागरूपता को सिद्ध करने के लिए हम अनेक प्रकार के मूल्य-अनुभवों का विचार कर सकते हैं :—

(१) पानी या कोई अन्य पेय तत्संबंधी पिपासा से जन्य दुःख की निवृत्ति करता है। अतः वह मूल्य है।

(२) भोजन भूख की निवृत्ति करता है। अतः वह मूल्य है।

(३) मैथुन कामवासना की वेदना की निवृत्ति करता है। अतः वह मूल्य है।

(४) शक्ति शारीरिक कमज़ोरी, पराधीनता, दासता आदि को दूर करती है। अतः वह मूल्य है।

(५) ज्ञान अज्ञान को दूर करता है। अतः वह मूल्य है।

(६) अर्थ अनेक शारीरिक मांगों को संतुष्ट करने का साधन पैदा करता है और तत्संबंधी वेदना को दूर करता है। इसलिए वह मूल्य है।

(७) धर्म अन्धविश्वास, जड़ता, अपवित्रता आदि को दूर करता है। इसलिए वह मूल्य है।

(८) कला हृदय की संकीर्णता, संकुचितता, अशुद्धता आदि को दूर करती है। इसलिए वह मूल्य हैं।

(९) व्यायाम, खेल आदि बीमारी, शारीरिक कमज़ोरी आदि के निवारक हैं। इसलिए वे मूल्य हैं।

(१०) सामाजिक संगठन जैसे परिवार, विद्यालय, राष्ट्र, राज्य आदि अशान्ति, अव्यवस्था, अराजकता, हिंसा आदि के निवारक हैं अतएव ये भी मूल्यवान् हैं। इसी प्रकार जो भी मूल्यवान् है उसके अनुभव में किसी न किसी प्रकार की निवृत्ति संलग्न है। एक कहावत के अनुसार मनुष्यमात्र का स्वभाव प्रवृत्ति की ओर है किन्तु मूल्य निवृत्ति है, न कि प्रवृत्ति :—

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।

किन्तु यद्यपि निवृत्ति-रूप मुक्ति प्रत्येक मूल्य-अनुभव में संलग्न है तथापि वह उस मूल्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभव का मात्र फल नहीं है। वह मूल्य-अनुभव का आदि, मध्य और अन्त सब कुछ है। दूसरे शब्दों में, मुक्ति या निवृत्ति का अनुभव उस अनुभव के साथ लगा हुआ है जो ऊपर से प्रवृत्तिपरक दिखायी देता है। प्रवृत्ति नैसर्गिक है, वह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है, वह मूल्य नहीं है। विपरीततः, निवृत्ति आदर्श है, वह कर्त्तव्य है। प्रवृत्ति का स्वरूप 'है' है निवृत्ति का स्वरूप 'होना चाहिये' है। इस प्रकार यद्यपि निवृत्ति का सन्दर्भ किसी न किसी प्रवृत्ति से जुड़ा रहता है तथापि मूल्यवत्ता उस प्रवृत्ति की नहीं किन्तु उससे संलग्न निवृत्ति की है।

पुनश्च, प्रवृत्ति के विषय अनेक हैं और वे अनेक प्रकार के भी हैं। उनकी प्राप्ति के अनुभव भी प्रवृत्ति के दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु निवृत्ति का प्रत्येक अनुभव एक-जैसा है जिससे सभी मूल्यों की एकरूपता सिद्ध होती है। इस अनुभव में मात्रा-भेद हो सकता है, किन्तु प्रकारता का भेद नहीं है। प्रत्येक निवृत्ति में छुटकारापन का अनुभव होता है, एक वेदना से मुक्ति मिलती है, एक दबाव या बोझ से स्वतन्त्रता मिलती है, एक हल्केपन का अनुभव होता है, फिर चाहे वह भोजन से हो या भजन से, या किसी कला के अनुभव से। इस प्रकार मूल्यों के स्वरूप में निवृत्ति या मुक्ति आकारक है। वह मूल्यों का आकार निश्चित करती है। फिर, मूल्यों के प्रकार में मानव-प्रवृत्ति का और उसके विषयों का महत्वपूर्ण स्थान है। किन्तु इससे मूल्यों की आकारता अक्षुण्ण रहती है। मूल्यों के प्रकार उनके आकार को परिवर्तित नहीं करते हैं। इस प्रकार निवृत्ति या मुक्ति मूल्य मात्र का लक्षण है। जिस अनुभव में यह नहीं है वह मूल्य-अनुभव नहीं है। जिस ज्ञान में यह नहीं है वह ज्ञान कोरा या नीरस या बोझिल और कष्टदायक ज्ञान है, वह मूल्य-अनुभव नहीं है। फिर, जिस अनुभव में निवृत्ति दबा दी जाती है, कुचल दी जाती है और उसको पूर्णतया प्रवृत्ति की ओर बलात् फेर दिया जाता है उस अनुभव में भी मूल्य नहीं रहता। ऐसा करने से वह अपमूल्य हो जाता है। नशाखोरी, दब्बूपन, कृपणता, विलासिता, अतिपूंजी-संचय आदि इसी कारण अपमूल्य हैं क्योंकि इनमें निवृत्ति को कुचल दिया जाता है और एकमात्र प्रवृत्ति को ही मूल्य मान लिया जाता है। प्रवृत्ति मूल्य नहीं है, किन्तु मूल्य की खूराक है, जैसे ईंधन आग नहीं है बल्कि आग की खूराक है। वास्तविक मूल्यवत्ता प्रवृत्ति का दाह है।

निवृत्ति का सीधा अर्थ त्याग है। अतएव त्याग को ही साधारण अर्थ में प्रत्येक मूल्य का लक्षण मानना चाहिए। यह उल्लेखनीय है कि आचार्य सुरेश्वर ने भी त्यागवाद के माध्यम से समस्त भारतीय दर्शनों की एक-वाक्यता स्थापित की थी।[1] उन्होंने मूल्य और मुक्ति के वास्तविक संबंध को बहुत गहरायी से पहचाना था। किन्तु फिर भी उन्होंने मुक्ति को एक ऐसी अवस्था बतलाया जिसको एक वस्तु की दशा के रूप में कल्पित किया गया, अन्यथा वे गृहस्थ-जीवन से पृथक् सन्यस्त जीवन के आदर्श की वकालत न करते। स्पष्ट है कि उन्होंने त्याग को एक वस्तु बना दिया था, परन्तु त्याग वस्तु नहीं है। त्याग के अनुभव में किसी वस्तु के छोड़ने का, उसके प्रति मोह न रखने का, भाव सदैव संलग्न है। जब भी त्याग का अनुभव होगा तब कोई न कोई वस्तु अवश्य तजी जायेगी। त्यागने

१. बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्यवार्तिक, सुरेश्वर, १।४।४०२–४११।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले मनुष्य, त्याग और त्यागी जाने वाली वस्तु, इन तीन तत्त्वों के बिना त्याग का अनुभव नहीं हो सकता। परन्तु इन तीन तत्त्वों में त्याग का महत्त्व त्यागने वाले मनुष्य और तजी जाने वाली वस्तु से अधिक है। त्याग की गाथा या कथा मानव-इतिहास में गायी जाती है। मूल्यों के जगत् में भी त्याग ही नित्य है। त्यागने वाले मनुष्य तथा त्यागी गयी वस्तु दोनों नश्वर हैं। त्याग अनश्वर है। इस प्रकार मूल्य अनश्वर सिद्ध होते हैं, यद्यपि उनके उपलब्धि और माध्यम नश्वर हैं। राजा हरिश्चन्द्र ने अपने राज्य का त्याग करके मुक्ति पायी; आज हरिश्चन्द्र नहीं हैं और उनका राज्य भी नहीं है। किन्तु आज भी कोई मनुष्य उस वस्तु के त्याग से मुक्ति पाता है जो उसके लिए बन्धनकारक दुःख हो जाती है। इस प्रकार त्याग आज भी वह महत्त्व रखता है जो राजा हरिश्चन्द्र के समय में रखता था। त्याग नित्य है।

अब प्रश्न है कि त्याग क्या है? त्याग का संबंध संग्रह से है, निवृत्ति का संबंध प्रवृत्ति से है। त्याग के पूर्व संग्रह है और निवृत्ति के पूर्व प्रवृत्ति है। किन्तु संग्रह त्याग के लिए होता है और प्रवृत्ति निवृत्ति के लिए ही है। त्याग या निवृत्ति का अभ्यास करते-करते केवल संग्रहीत वस्तु का ही त्याग नहीं होता वरन् संग्रह की प्रवृत्ति का भी त्याग हो जाता है। संग्रह की प्रवृत्ति नैसर्गिक है। उसकी कमी या अधिकता दुःखदायी है। मर्यादित संग्रह ही सुखद है, क्योंकि उसीका संबंध दुःख-निवृत्ति से है। किन्तु त्याग ही संग्रह को मर्यादित करता है। मर्यादित संग्रह वह भोग है जो त्याग के लिए होता है और त्याग से संयमित किया जाता है।

इस त्याग के दो मुख्य लक्षण हैं। एक, इसमें दुःख की वेदना का त्याग होता है जो मर्यादित भोग से संभव है और दूसरे, प्राप्त की गयी वस्तु का त्याग है। पहला भोग से दुःख का त्याग है और दूसरा भोग-वस्तु का त्याग है। ये दोनों प्रकार के त्याग परस्पर संबद्ध हैं। मनुष्य उतना ही खा सकता है, खाता है जितने से उसकी भूख शान्त होती है, अधिक नहीं। इससे आवश्यकतानुसार उपभोग का आदर्श उसके सामने खड़ा हो जाता है। इस आदर्श से वह उपभोग्य वस्तु की अधिकता का त्याग करता है, सीखता है और त्याग के इस अभ्यास द्वारा वह वस्तु और उससे अपने लगाव या आसक्ति या मोह का भी त्याग कर देता है। किन्तु यह स्थिति आरंभ की नहीं वरन् त्याग-साधना की अन्तिम अवस्था है।

त्याग करने में अन्य मनुष्यों और प्राणियों के प्रति प्रेम निहित है, क्योंकि मनुष्य जब उपभोग्य वस्तुओं का त्याग करता है तो वह दूसरों के लिए ही करता है। इस कर्म में वह दूसरों से अपना तादात्म्य स्थापित करता है, दूसरों को आत्मवत् समझता है। ऐसे त्याग में संग्रह-प्रवृत्ति का भी त्याग निहित है—प्रवृत्ति-त्याग वस्तु-त्याग से अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे आत्मा का स्वरूप प्रकाशित होता है और मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता, स्वस्थता, अपने में ही पूर्ण रहने की स्थिति, का अनुभव करता है। इसी मार्ग का अनुसरण करते हुए वेद के ऋषियों ने कहा कि त्याग के द्वारा ही कुछ लोगों ने अमृतत्व को प्राप्त किया है—**त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः**[२]। यहां अमृतत्व से मुक्ति या स्वातन्त्र्य का बोध या अर्थ

२. महानारायणोपनिषद् १०.५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है जो अनश्वर है। इस त्याग का वास्तविक अर्थ मूल्यमीमांसात्मक है। शंकराचार्य ने इसका अर्थ 'ज्ञान' करके इसे संकुचित और सीमित कर दिया है। उनका ऐसा करना वास्तव में त्याग की महिमा को घटाना है क्योंकि त्याग का क्षेत्र ज्ञान के क्षेत्र से अधिक विस्तृत है। ज्ञान एक विशेष मूल्य है और त्याग सभी मूल्यों का आकारक लक्षण है, परन्तु शंकराचार्य की आलोचना ने मीमांसा के आगे जाकर एक नयी बात कही थी, क्योंकि मीमांसा ने त्याग का अर्थ यज्ञ किया था और विशेषतः अन्नदाता या अन्न-त्याग को ही, अर्थात् विषय-त्याग को ही त्याग मान लिया था। मीमांसा का त्याग स्थूल त्याग था। वह विषय-त्याग मात्र था। शंकराचार्य ने ठीक ही उसके सूक्ष्म स्वरूप, अर्थात् मनोज्ञावैनिक स्वरूप का उद्घाटन किया। उन्होंने वासना-त्याग को मुख्य त्याग कहा। किन्तु यदि मीमाँसा का त्याग स्थूल था तो शंकराचार्य का त्याग भी कुछ स्थूल ही था। विषय-त्याग से निःसन्देह अधिक महत्त्वपूर्ण वासना-त्याग है, जो विषय-त्याग से उत्पन्न हो सकता है और नहीं भी हो सकता। किन्तु वासना-त्याग के अतिरिक्त भी त्याग का अर्थ है। यही कारण है कि संतों ने आगे चलकर विषय और वासना दोनों के त्याग पर बल दिया। वही विषय-त्याग त्याग है जिससे वासना-त्याग होता है। परन्तु यहां तक त्याग का मूल्यमीमांसात्मक स्वरूप बिल्कुल स्पष्ट नहीं हुआ है। वासना-त्याग भी वास्तविक त्याग नहीं है।

विषय-त्याग और वासना-त्याग से भी आगे प्रवृत्ति-त्याग या मोह-त्याग है। वासना विषय के कारण होती है और विषय वासना के कारण होते हैं। दोनों में कार्य-कारण का संबंध है। इसी प्रकार मोह और वासना में भी कारण-कार्य संबंध है। मोह के कारण वासना और वासना के कारण मोह होते हैं। विषय और वासना को तज देने पर भी मोह बना रह सकता है। अतएव मोह या प्रवृत्ति मात्र को तजना है। दूसरे शब्दों में, त्याग के प्रामाणिक अनुभव में किसी प्रकार के अस्तित्व की चेतना मूल्य-चेतना से प्रबल नहीं होती है। जब अहं का ग्रह और शरीर का परिग्रह भी तज दिया जाता है तब त्याग की सच्ची उपलब्धि होती है। किन्तु ध्यान रहे कि अहं-ग्रह का त्याग शरीर-त्याग नहीं है, क्योंकि शरीर-त्याग केवल विषय-त्याग है और अहं-ग्रह का त्याग मोह-त्याग है। इसी प्रकार शरीर के परिग्रह का त्याग भी शरीर-त्याग से भिन्न है। त्याग का विलोम-ग्रहण ग्रह है, भोग नहीं। सभी प्रकार के ग्रह का निरोध त्याग है।

वर्त्तमान युग में अस्तित्ववाद ने जब मानव के स्वरूप में चिन्ता, व्यथा, उत्कंठा, आसक्ति, संसर्ग आदि के महत्त्व को उद्घाटित किया और इनको आध्यात्मिक तथा भौतिक गुणों या पदार्थों से भिन्न करके निरूपित किया तभी त्याग के वास्तबिक मूल्य-मीमांसात्मक स्वरूप के उद्घाटन की पूरी भूमिका बन पायी। इससे पूर्व त्याग के संपूर्ण स्वरूप को समझना कठिन था। यदि मानव-अस्तित्व का विश्लेषण कम रहेगा तो त्याग का भी विश्लेषण कम होगा। आज जब अस्तित्व का विश्लेषण अधिक गहरा हुआ है तब त्याग के विश्लेषण को भी अधिक गहरा बनाया जा सकता है। वास्तव में त्याग का वास्तविक रूप उसी चिन्ता, आसक्ति, संसक्ति, उत्कंठा, व्यथा आदि का त्याग है जिनका वर्णन आधुनिक युग में अस्तित्ववादी, विशेषतः हाइडेगर, करते हैं। त्यागवाद के अनुसार मानव-अस्तित्व में त्याग उत्कंठा या चिन्ता से अधिक मूलगामी और गहन तत्त्व है। मानव-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तित्व त्याग की उपलब्धि है। किसी ने वीर्य त्यागा तो मानव का जन्म हुआ। इस प्रकार मानव जन्मना त्याग है। जीवन भर वह कर्मणा त्याग है क्योंकि किसी ने कुछ त्यागा तो वह उसका जीवन-पाथेय बना। मृत्यु के समय अर्थात् मृत्युना भी वह त्याग है, क्योंकि अन्त में उसे सब कुछ त्याग देना पड़ता है। त्याग ही एकमात्र सत्य है। मनुष्य न कुछ लेकर आता है न कुछ लेकर जाता है। खाली हाथ वह आता है और खाली हाथ वह जाता है। इस त्याग को अभाव निषेध, शून्य, अवस्तु, असद् आदि नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें आनन्द, सुख, परात्म और स्वात्म के ज्ञान होते हैं। यह एक प्रकाश है जिसमें पवित्रता, उदात्तता, सुन्दरता और श्रेष्ठता के अनुभव होते हैं। अतएव जहां हाइडेगर का अस्तित्ववाद अन्ततः नास्तित्व और असद् को मानव-अस्तित्व की नियति बताता है वहां त्यागवाद आनन्द या पूर्णता को मानव-अस्तित्व का लक्षण कहता है।

त्याग का अनुभव विषयगत विश्लेषण द्वारा नहीं किया जा सकता है। आत्म-साक्षात्कार द्वारा, अर्थात् जिस अपरोक्ष ज्ञान द्वारा आत्म-स्वरूप का बोध होता है उसी से त्याग का भी बोध होता है। त्याग का अनुभव होने पर पता चलता है कि हमारे आत्म का आदर्श स्वरूप त्याग है। वह संग्रह से मुक्त है, वह किसी भी विषय के संसर्ग या संपर्क में नहीं है। जब वह निसर्गतः विषय के संपर्क में आक्षिप्त हो जाता है तब उसको चिन्ता ग्रस्त करती है। इस दशा में उसके स्वरूप का सुन्दर विश्लेषण अस्तित्ववादी हाइडेगर ने किया है। किन्तु वह मूल्य-मीमांसात्मक वर्णन नहीं है। वह नैसर्गिक वर्णन है। हाइडेगर स्वयं उसे अस्तित्व-मीमांसात्मक वर्णन (आन्टोलाजिकल डिस्क्रिप्शन) कहते हैं। परन्तु ऐसा वर्णन मानव के मूल्यांकन पर तुच्छ प्रतीत होता है और मानव को उसमें कुछ सार, कर्त्तव्य की प्रेरणा, उद्बोधन नहीं मिलते हैं। मानव मूल्यांकन करने वाला प्राणी है। वह अपने मूल्य-बोध को तिरस्कृत तथा ध्वस्त नहीं कर सकता है। अतएव उसको अपने स्वरूप के मूल्यात्मक पक्ष पर बल देना पड़ता है। तब उसे ज्ञात होता है कि चिन्ता (केयर) भले ही उसका नैसर्गिक स्वरूप हो किन्तु त्याग ही उसका आदर्श स्वरूप है।

इससे त्याग करने वाले मनुष्य और त्याग का संबंध स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य निसर्गतः त्यागी नहीं है, परन्तु उसे त्यागी होना है। उसे त्याग की वृत्ति या मनोवृत्ति अपनानी है, अन्यथा वह मानव होने के स्थान पर मानव के लिए एक अभिशाप हो जायगा। मानव-समाज में संतों को आदर्श मानव इसीलिए माना जाता है कि उनमें त्याग-वृत्ति प्रमुख रहती है और वे अपने त्याग से केवल अपने व्यक्तित्व को गौरवान्वित नहीं करते हैं प्रत्युत अन्य मनुष्यों को भी उठाते और महान् बनाते हैं। त्याग ही उत्कर्ष है। जिसमें जितना त्याग है उसका उतना ही उत्कर्ष है और उसका व्यक्तित्व उतना ही महान् है। इस प्रकार त्यागी त्याग नहीं है, क्योंकि त्यागी एक मनुष्य या जीव है और त्याग कोई मनुष्य या जीव नहीं है। फिर भी त्याग ही मनुष्य को त्यागी बनाता है। त्याग मूल्यवत्ता है और मनुष्य उसको प्राप्त करने वाला है। त्याग अपने उपलब्ध का भी अतिक्रमण करता है क्योंकि मूल्य होने के कारण वह सदैव वर्धमान या प्रगतिशील है।

त्याग को एक भाव, एक गुण या एक कर्म समझना त्याग को एक वर्ग बनाना है। त्याग वर्ग नहीं, किन्तु अपवर्ग है। त्याग कोई पदार्थ नहीं है। उसका मानव-अस्तित्व से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वही संबंध है जो मूल्य का सत्ता से संबंध है। मानव-अस्तित्व का नैसर्गिक रूप सन्यास है—सत्ता मानव की यथार्थता है। किन्तु इस यथार्थता का एक आदर्श है जिसके कारण मानव-अस्तित्व केवल सन्मात्र न रहकर स्वयं आदर्श हो जाता है। इस यथार्थ से आदर्श को भिन्न करने की प्रक्रिया त्याग का अभ्यास त्याग-साधना कहा जा सकता है। अतएव त्याग को परिभाषित करने के लिए हम उसे मानव-अस्तित्व का आदर्श स्वरूप कह सकते हैं। जैसे मानव-अस्तित्व सभी कोटियों या वर्गों से परे है वैसे ही उसका आदर्श स्वरूप भी उनसे परे है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री अरविन्द एवं भारतीय दर्शन का अभीप्सात्मक स्वरूप

ह० माहेश्वरी

भारतीय दर्शन के विषय में हमें दो भिन्न प्रकार के निरूपण मिलते हैं। एक भारतीय पण्डितों का शास्त्रीय परम्परा में बँधा हुआ निरूपण, जिसमें प्राचीन शास्त्रों के प्रति एवं आचार्यों द्वारा उन पर किये गये भाष्यों के प्रति एक नतमस्तकता रही है; दूसरा आधुनिक पश्चिमी अध्येताओं द्वारा एवं उनसे प्रभावित उन्हीं की पद्धति का अनुकरण करने वाले भारतीय लेखकों द्वारा पाश्चात्य चिन्तन शैली और विधा के अनुरूप वह निरूपण जिसमें प्रायः 'फिलासफी' के साँचों में भारतीय दर्शन को ढालने का प्रयास किया गया है। इन दोनों में कदाचित् ही कोई संवाद दिखायी पड़ता है।

श्री अरविन्द-दर्शन के प्रकाश में भारतीय दर्शन का पुनरानुशीलन विशेष प्रकार से वांछनीय है, समृद्धि सम्भाव्य है। कारण, योगी एवं ऋषि तथा मनीषी होने के नाते उनके बृहत् साहित्य में भारतीय अन्तर्दृष्टि एवं पाश्चात्य चिन्तन-कौशल का अपूर्व अद्भुत् समावेश हुआ है। विशेषतः उनके ग्रन्थ "द लाइफ़ डिवाइन" से दर्शनशास्त्र को एक अनुपम निधि प्राप्त हुई है। प्रस्तुत लेख में भारतीय दर्शन की मूल प्रेरणा को उनके प्रकाश से उद्घाटित करने का प्रयास मात्र है। भारतीय दर्शन के अनुसंधान के लिए इसमें एक विशेष सन्दर्भ का परामर्श है।

भारतीय दर्शन की सभी निष्ठाओं में, उसकी सभी शाखाओं और सम्प्रदायों में, मानव-जीवन की व्यापक एवं मौलिक जिज्ञासा अभिव्यक्त हुई है। उसमें स्वभावतः निहित है परमेष्ट, परासिद्धि, निःश्रेयस् की उपलब्धि की आकांक्षा। सामान्यतया 'दुःख' और उससे 'मुक्ति' को भारतीय दर्शन का 'अथ' एवं 'इति' बताया जाता है। जीवन में 'दुःख-मुक्ति' की समस्या की व्यापकता को नहीं समझ पाने के कारण, विशेषतः उसमें निहित मानव-जीवन की स्वाभाविक एवं अनिवार्य मांग को ठीक प्रकार से ग्रहण नहीं कर पाने के कारण, इस दर्शन को बहुधा निराशामय एवं पलायनात्मक घोषित कर दिया जाता है। किन्तु वास्तव में भारतीय दर्शन के इसी वैशिष्ट्य को यथेष्ट गहराई से समझना आवश्यक होगा।

सर्वप्रथम ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि भारतीय दर्शन जीवन में विफल और कायर लोगों की चीज़ कभी नहीं रहा। जिज्ञासुओं द्वारा ही वह अनुसंधेय रहा है, ऋषि-मुनियों द्वारा ही वह सम्पन्न बना है और विद्वान आचार्यों द्वारा ही वह मीमांस्य होता रहा है। दुःख की समस्या एवं मुक्ति की आकांक्षा का सन्दर्भ निःसन्देह एक ऐसा गम्भीर सन्दर्भ है जिसमें इस मानव-जीवन की अपूर्णता का एक व्यापक अनुभव है। किन्तु उस अपूर्णता से वीर साधक परास्त अथवा निरस्त नहीं हो जाता, वह जीवन के महानतम उद्देश्य के हेतु साहसी अनुसंधान करने के लिए उद्यत होता है ताकि जीवन सार्थक हो सके, धन्य हो सके,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिपूर्ण बन सके। दुःख-निवृत्ति अथवा मुक्ति के उद्देश्य को यदि भारतीय जिज्ञासु साधक किसी प्रकार आतुर और अधीर होकर केवल पारलौकिक जीवन में ही लभ्य माने तो ऐहिकवादी का यह आरोप कि उसमें जीवन से पलायन की वृत्ति है, साधार होगा। किन्तु भारतीय दर्शन का आदर्श परासिद्धि की प्राप्ति रहा है, 'मुक्ति' और 'मोक्ष' उसी सिद्धि के लक्षण हैं। वह परासिद्धि जीवन से पराङ्मुख होने पर ही प्राप्त होगी—यह तो एक ऐकान्तिक आग्रह मात्र रहा है, उसका सर्वाङ्ग सत्य नहीं।

प्रत्येक भारतीय दर्शन सर्वप्रथम उस चरमोद्देश्य को स्पष्ट करता है जो मानव-जीवन का अभीष्ट है। कुछ आधुनिक चिन्तकों को इसमें एक पूर्वमान्य प्रतिबद्धता की गंध आती है, और वे इसे स्वतन्त्र चिन्तन से सम्पादित विशुद्ध दार्शनिक प्रवृत्ति न मानकर किसी प्रकार की नैतिक अथवा धार्मिक प्रवृत्ति मानते हैं। किन्तु वास्तव में चिन्तन को सर्वथा अनिर्दिष्ट बनाना स्वयमेव एक पूर्वाग्रह होगा। जीवन का चरमोद्देश्य जीवन के ही गहनतम अनुसंधान से उद्घाटित होता है, उसमें कोई ऐसा मन्तव्य हो ही नहीं सकता जो सर्वथा अयुक्त हो। यों तो चिन्तन को युक्तिबद्ध कर देना भी एक प्रकार की बद्धता ही है। सर्वथा उन्मुक्त चिन्तन को स्वतन्त्र अनुसंधान के लिये वास्तव में यौक्तिकता से भी ऊपर उठने का अवसर होना चाहिए। जहाँ तक जीवन के चरमोद्देश्य का सम्बन्ध तात्त्विक सत्यों से है, हमें यह मानना होगा कि भारतीय दर्शन की यह विशेषता रही है कि अनुभवसिद्ध सत्यों को चिन्तनगत मीमांसाओं से अधिक मौलिक और निष्ठा-योग्य समझा जाय। तत्त्वदर्शन एवं सत्यानुसंधान अनुभूतिपरक हैं; चिन्तन-मनन को या तो सत्यानुभूति का आधार और सहारा चाहिए, अथवा उसको उनके प्रति उन्मुख होना चाहिये। श्री अरविन्द ने अपने विशाल ग्रन्थों में तर्क-बुद्धि अथवा मननशीला चेतना से उच्चतर चैतन्य की 'अनुभूति' की पुनः-पुनः चर्चा करके यह घोषित किया है कि 'सत्य' अथवा 'तत्त्व' का निर्धारण मनोमयता के आधार पर नहीं किया जा सकता। उनके अपने शब्दों में :

> "परात्पर सत्य न तो युक्तिबद्ध तार्किकता के बँधे-कटे निष्कर्ष होते हैं और न किसी विश्वास परम्परा की सुमान्य आख्याएँ। वे तो आत्मा की अन्तरानुभूतियों की उपलब्धियाँ हैं। चिन्तनात्मक तथ्य सत्य-स्वरूप मन्दिर के बाहरी आकार के द्वारों में से केवल एक द्वार मात्र है।" (फाउन्डेशन्स् ऑफ़ इंडियन कल्चर, पृष्ठ १२४)

भारतीय दर्शन की परम्परा में मनोमयी चेतना की सार्थकता उसकी साधनात्मकता में, उच्चतर चैतन्य के प्रति उन्मुखता में, ग्रहणशीलता, में है। मानसिक विमर्श को यहाँ स्वयंसमर्थ अथवा स्वयंसिद्ध नहीं माना गया। श्री अरविन्द तो साधारण मनोगति को अविद्या की गति कहते हैं। किन्तु चिन्तन-मनन को कुण्ठित कर देना यहाँ अभीष्ट नहीं है; उसे भी उन्मुक्त होना है। उन्मुक्त चिन्तन का अभिप्राय केवल इतना ही नहीं है कि मनोगत तर्क को सर्वोपरि मानकर उसे किसी के भी अधीन न रहने दिया जाय। तार्किकता की सीमाओं से भी उसे मुक्त करने का विशाल अवसर दिया जा सकता है। वस्तुतः चिन्तन की समस्त साधना और उसका शासन अचिन्त्य के प्रति अपने को खोल देना मात्र है। परिणामतः चिन्तनात्मक विचार-विमर्श एवं चिन्तनातीत अनुभूति में यहाँ कोई विरोध नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतएव भारतीय दर्शन में 'जिज्ञासा' का स्वरूप केवल मानसिक कुतूहल अथवा चिन्तनात्मक किं-कथं मात्र नहीं रहा है। उस जिज्ञासा में निहित है मानव-व्यक्तित्व की वह निगूढ़ एवं व्यापक अभीप्सा जो जीवन के चरमोत्कर्ष में, निःश्रेयस् की उपलब्धि में, परम सत्य की प्राप्ति में ही पूर्णतया तृप्त हो सकती है। परिणामतः तत्त्व-दर्शन न केवल श्रयोन्मुखी है, वह श्रेयात्मक है, स्वयमेव परम श्रेय है। अभीप्सात्मिका जिज्ञासा जगती है स्वभावतः हमारी मनोमयता में, किन्तु उसका समाधान होता है मनसातीत सत्य-बोध में। इस नाते चिन्तन और चिन्तनातीत ज्ञान में एक सामञ्जस्य है। उच्चतर चैतन्य के प्रकाश में अभीप्सात्मक मनोमय चिन्तन धन्य होता है, मनसातीत ज्ञानावस्था में मन शान्त होता है, परितृप्त होता है।

भारतीय दर्शन की उपर्युक्त व्यापक एवं मौलिक जिज्ञासा की अभीप्सात्मकता को श्री अरविन्द के आलोक में देखने के लिये, उन्हीं के शब्दों में व्यक्त, मानव-अभीप्सा के स्वरूप का अनुशीलन विशेष रूप से सहायक होगा। वे लिखते हैं :

> "सजग मननशील मनुष्य की सबसे पहली प्रवृत्ति एवं, जैसाकि प्रतीत होता है, उसकी अन्तिम और अनिवार्य प्रवृत्ति---क्योंकि वह सन्देह के दीर्घतम युगों में भी बनी रहती है और प्रत्येक बहिष्कार के पश्चात् लौट आती है—वह उच्चतम प्रवृत्ति भी है जिसकी परिकल्पना उसका चिन्तन कर पाता है। वह प्रवृत्ति व्यक्त होती है दिव्य भाव की भविता में, परिपूर्णता के प्रति अन्तःप्रेरणा में, विशुद्ध सत्य एवं अमिश्र आनन्द की खोज में, गुह्य अमृतत्व के आभास में। मानव-ज्ञान के प्राचीन प्रभातों ने हमें इस अनवरत अभीप्सा का लक्ष्य प्रदान किया है; आज हम देख रहे हैं एक ऐसी मानवता जो प्रकृति के बहिरङ्ग के विजयी विश्लेषण से अघा गयी है किन्तु सन्तुष्ट नहीं है और अपनी आदिम अभिलाषाओं की ओर लौटने की तैयारी में है। प्रबुद्धता का सर्वप्रथम सूत्र ही उसका अन्तिम सूत्र होने के लिये समर्थ है : ईश्वर, ज्योति, मुक्ति, अमृतत्व।" (द लाइफ़ डिवाइन, पृ० १)

मानवीय अभीप्सा के उपर्युक्त उद्घाटन से हमें भारतीय तत्त्व-जिज्ञासा का रहस्य भी उतना ही स्पष्ट होता है जितना पाश्चात्य परम्परा से सम्बन्धित विचार-दोहन का व्यसन। किन्तु उस प्यास के प्रति सचेत होने से जो असत् से सत् की ओर, अज्ञानांधकार से ज्योतिर्मय ज्ञान की ओर, अपूर्णता से परिपूर्णता की ओर प्रेरित करती है, हमें भारतीय दर्शन की प्रत्येक परम्परा का पुनरावलोकन करने का तथा समग्र भारतीय दर्शन के अभीप्सात्मक स्वरूप से परिचित होने का विशेष अवसर मिलता है।

परम्परानुसार प्रत्येक भारतीय दर्शन आरम्भ में ही अपने-अपने अभीष्ट आदर्श का स्पष्ट आख्यान कर देता है। यथा जैन दर्शन का 'अर्हत्व', बौद्ध दर्शन का 'निर्वाण', न्याय वैशेषिक का 'अपवर्ग', साँख्य-योग का 'कैवल्य', मीमांसा का 'ब्रह्म-लोक', वेदान्त का 'मोक्ष', इत्यादि। इन सभी आदर्शों में, अभीष्ट लक्ष्यों में, अपना-अपना वैशिष्ट्य है, किन्तु साथ ही एक ऐसी आध्यात्मिक समानता भी है जिसके नाते समस्त भारतीय दर्शन को अन्यान्य दार्शनिक परम्पराओं से भिन्न एवं विशिष्ट देखा जा सकता है। 'अमृतत्व', 'ज्ञान',

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मुक्ति', 'सामर्थ्य', 'परिपूर्णता', 'आनन्द'—ये हैं उस आध्यात्मिकता के प्रमुख श्रेयात्मक उद्देश्य जिनके प्रति सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप में प्रेरित रहे हैं। उनकी यत्किंचित् मीमांसा अपेक्षित होगी।

सामान्यतः निवृत्तिमूलक मीमांसाओं के अनुसार भारतीय दर्शन को दुःख की समस्या से उद्वेलित मानकर, सत्यान्वेषण तथा तत्त्व-निरूपण इत्यादि को समाधानात्मक उपाय के रूप में स्वीकार करके, लोकोत्तर उपलब्धि के लिये ही नियोजित समझा जाता है। उसी के कारण भारतीय लोक-जीवन को प्रेरणा-शून्य, निर्बल, असमर्थ भी बताया जाता है। किन्तु गहराई से निरीक्षण करने पर प्रश्न खड़ा होता है कि कदाचित् मानव-जीवन सर्वतोभावेन उपेक्षणीय होता तो धर्म, नीति, अध्यात्म-साधना इत्यादि के प्रति भी सत्यप्रेरणा का आधार क्या होता? इतिहास साक्षी है कि यहाँ का अन्तर जीवन कभी भी विपन्न नहीं बना, यद्यपि आर्थिक एवं राजनीतिक अशक्तता यहाँ आयी। जिस अंश में भारतीय दर्शन में बाह्य जीवन की उपेक्षा हुई उस अंश में 'अर्थ' और 'काम' को यहाँ पोषण-प्रोत्साहन नहीं मिला। किन्तु धर्म और नीति एवं अध्यात्म की प्रेरणा साधारण प्रेरणा नहीं रही है, और उस प्रेरणा के स्रोत का यथोचित पर्यवलोकन आवश्यक है क्योंकि उस संदर्भ में भारतीय दर्शन प्रगतिशील रहा है। श्री अरविंद के अनुसार अध्यात्म जीवन निवृत्त्यात्मक नहीं, परिपूर्णता के प्रति प्रेरित जीवन है। वे लिखते हैं :—

"यह सत्य है कि आध्यात्मिक प्रेरणा अधिकांशतः पारलौकिक रही है, अथवा अपनी चरमावस्था में एक अध्यात्मवादी निषेध एवं मनोमय व्यक्तित्व के आत्म-विलोपन की ओर झुकी रही है, किन्तु यह उस प्रवृत्ति का केवल एक पक्ष मात्र है जो मूलभूत जड़ता के साम्राज्य से बाहर निकलने की, देह की बाधाओं को पार करने की, तमोग्रस्त प्राण-प्रकृति का उत्सर्ग करने की अज्ञानमयी मानसिकता से छुटकारा पाने की आवश्यकता के द्वारा, इन समस्त विघ्न-बाधाओं के परिहार से आध्यात्मिक सत्ता एवं आत्मस्थिति को प्राप्त करने की आवश्यकता के द्वारा पुष्ट एवं प्रभावमयी बनी रही है। दूसरे पक्ष का, आध्यात्मिक प्रेरणा के प्रवृत्यात्मक पक्ष का—आध्यात्मिक प्रभुत्व एवं प्रकृति के परिवर्तन की अभीप्सा का, सत्ता की आध्यात्मिक परिपूर्णता की अभीप्सा का, मनको, हृदयको, देहतक को दिव्य बना देने की अभीप्साका—अभाव नहीं रहा है : बल्की वैयक्तिक रूपान्तरण से भी अधिक एक परिपूर्णताका स्वप्न, एक नयी पृथ्वी और एक नये व्योमका स्वप्न, ईश्वर की नगरीका स्वप्न, पृथ्वी पर दिव्य अवतरणका स्वप्न, अध्यात्मतः परिपूर्ण के विधान का स्वप्न, न केवल हमारे भीतर अपितु बाहरी सामूहिक जीवन में भी भागवत साम्राज्य का स्वप्न अथवा अन्तरात्मिक पूर्वाभास भी रहा है। इस अभीप्सा के कुछ रूप कितने भी धूमिल क्यों न रहे हों, पार्थिव प्रकृति में गुह्य अन्तस्थ अन्तरात्मा के प्रस्फुटित होने की प्रेरणा का जो संकेत उनमें है वह निर्भ्रान्त ही रहा है।"

(द लाइफ़ डिवाइन, पृ० ८४६)

अध्यात्म में निहित भावात्मक परिपूर्णता के उद्देश्य के नाते भारतीय दर्शन की दुःख, मृत्यु, अज्ञान, अपूर्णता इत्यादि व्यापक समस्याओं का पुनरावलोकन एवं उन उच्चाति-उच्च

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपलब्धियों का चिन्तन वाञ्छनीय होगा जो किसी न किसी रूप में यहाँ की दर्शन-परम्पराओं को प्रेरित करती रही हैं। विमर्श के लिये अमृतत्व की अभीप्सा को लें जो औपनिषद् दर्शन में तो सर्वत्र अभिव्यक्त हुई ही है, प्रायः समस्त भारतीय दर्शन में विद्यमान है। अमृतत्व का तात्पर्य कुछ भी हो, नित्यत्वकी प्राप्तिका भाव उसमें स्वभावतः निहित है। भारत की विभिन्न-दर्शन परम्पराओं में जिन विशिष्ट उद्देश्यों का संकेत है उनमें शब्दशः 'अमृतत्व' की चर्चा न हो, 'नित्यत्व' का निहितार्थ उनमें विद्यमान है। उदाहरणार्थ जैन आदर्श 'अर्हत्व' में उस आत्म-सामर्थ्य की सिद्धि है जो मात्र किसी युग विशेष के लिये नहीं, निरन्तर शुद्ध-बुद्ध-मुक्त जीवन के लिये है। उस जीवन में कैवल्य की नित्यता है। वस्तुतः अर्हत्व, कैवल्य, नित्यत्व परस्पर द्योतक हैं और उनमें आत्म तत्त्व की वह पूर्णता है जिसे प्राप्त करने की अभीप्सा जैन-दर्शन की मूलभूत अभीप्सा है।

बौद्ध दर्शन के परमसाध्य 'निर्वाण' में नित्यत्वका भाव कदाचित् विवादास्पद प्रतीत हो सकता है। विशेषतः सर्व निषेधी 'शून्य' अनित्यत्व का पर्याय भले हो, नित्यत्व का भावात्मक आशय उसके लिये व्याघातक होगा। किन्तु 'निर्वाण' का चरम लक्ष्य निर्विवाद एक साध्य है। उसके लिये अभीप्सा में दुःख से मुक्ति परिलक्षित है, अस्तित्व से मुक्ति नहीं, यद्यपि अस्तित्व का आवागमनात्मक पक्ष दुःखात्मक माना गया है और अस्तित्व की भावना को भी अन्ततोगत्वा अविद्यामूलक बताया गया है। 'शून्यवाद' का सिद्धान्त तत्त्वतः अभावात्मक – अस्तित्व निषेधात्मक— है अथवा केवल निरपेक्ष अतीत्यात्मक, इसमें मतभेद हो सकता है; किन्तु 'निर्वाण' परमसाध्य है, और उसकी सिद्धि न तो अप्राप्ति हो सकती है न क्षणिक प्राप्ति। अविद्या-जन्य अस्तित्व की भावना से मुक्त होना भी अनस्तित्व में मिट जाना नहीं हो सकता। निर्वाण-लाभ अपने-आपमें एक चिरमूल्य है; वह सामान्य मूल्य-भाव से अतीत हो सकता है, मूल्याभाव अथवा मूल्य-निषेध नहीं। श्री अरविन्द के शब्दों में "..... निर्वाण के द्वारा हमारी वर्तमान अवस्था का विलयन किसी उच्चतम स्थिति की प्राप्ति ही हो सकती है, हमारे अस्तित्व भाव से एक ऐसी अनिर्वचनीय मुक्ति ही हो सकती है जो 'आत्म-भाव' की समस्त धारणा अथवा अनुभव से भी अतीत हो।" (वही, पृ० ५६८) 'जरामरण' से मुक्त होना, आवागमन के चक्र से छूट जाना, स्वयमेव अनित्यत्व से मुक्त होना है क्योंकि अनित्यत्व की ही वे प्रवाह-दशाएँ हैं। 'अनित्यत्व' से मुक्ति का अभिप्राय अनित्यत्व हो ही नहीं सकता। अतः 'निर्वाण' की परम प्राप्ति को 'नित्य' प्राप्ति ही समझना होगा। बोधिसत्त्व का आदर्श इस संदर्भ में विशेष रूप से सार्थक है।

न्याय-वैशेषिक के ज्ञान-साध्य उद्देश्य 'अपवर्ग' में स्वभावतः नित्यत्व निहित है। साँख्य-योग दर्शन के आदर्श साध्य में दुःखत्रयका आत्यन्तिक अभाव है और कैवल्य की प्राप्ति में पुरुष-सत्ता अथवा चैतन्य की नित्यता स्वयंसिद्ध है। पुरुष-तत्त्व अविकारी है, अविनाशी है; उसकी स्वरूप-सिद्धि में अमृतत्त्व निहित ही है।

वेदान्त दर्शन, जो कि भारत का प्राचीनतम दर्शन भी है, परमाधुनिक दर्शन भी, आदिकाल से ही अमृतत्व की अभीप्साको सर्वाधिक मुखर रूप से व्यक्त करता आ रहा है। वेद में, उपनिषदों में, गीतामें, सन्त-महात्माओं की वाणी में अमृतत्व की अभीप्सा एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उससे संयुक्त और अभिन्न 'ज्ञान' एवं 'आनन्द' की अभीप्सा अधिकाधिक स्पष्ट, अधिकाधिक व्यापक रूप से अभिव्यक्त हुई है। यह कहा जा सकता है कि वास्तव में इस अभीप्सा से ही वेदान्तीय जिज्ञासा का जन्म होता है परम्परागत वेदान्त के साधन-चतुष्टय में 'मुमुक्षुत्व' इसी अभीप्सा का द्योतक है। उसके बिना 'ब्रह्म-जिज्ञासा' का कोई अर्थ नहीं, ब्रह्मोपदेश का अधिकार नहीं।

वास्तव में यह 'अभीप्सा' प्रचार-प्रसार का विषय नहीं, उद्घाटन का विषय है। भारतीय दर्शन के समस्त अनुसंधान में मूलतः इसी मानस् अभीप्सा का स्वाभाविक उद्घाटन है; इसीसे प्रेरित होकर सत्यका जिज्ञासु, तत्त्व का साधक एवं श्रेयस् का आकांक्षी परात्पर की ओर उन्मुख होता आया है। श्री अरविन्द ने अमृतत्व, सत्य, परिपूर्णता, आनन्द इत्यादि के लिये हमारी अभीप्सा को मानव-जाति की अभंग-अविच्छिन्न आदर्शोन्मुखता कहा है। मूलतः वे उसे परात्पर दिव्यता के लिये मानव की स्वाभाविक अभीप्सा बताते हैं। इस अभीप्सा की अभिव्यक्ति विविध भावों में हो सकती है और तदनुरूप सर्वोपरि साध्य की आख्या प्रत्येक भारतीय दर्शन-परम्परा में अलग-अलग प्रकार से होती रही है। भारतीय दर्शन इस अभीप्सा के प्रति सदैव सजग रहा है और उसमें निरन्तर एक आध्यात्मिक प्रेरणा बनी रही है। कदाचित् मनुष्य की चेतना को सत्य-तत्त्व-श्रेय की परम प्राप्ति के प्रति सजग बनाने का कार्य दर्शनशास्त्र को करना है तो भारतीय दर्शन के प्रति समस्त मानव-जाति को कृतज्ञ होना चाहिये।

एक बात और। मानवीय परात्पर सिद्धि उसकी किसी भी ऐकांतिक उपलब्धियों से प्राप्त नहीं हो सकती, वह सिद्धि कितनी भी उच्च क्यों न हो। कारण, मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व एक ऐसी परिपूर्णता का प्यासा है जिसमें उसकी सर्वाङ्ग सम्पन्नता सिद्ध हो। सम्भावना यह अवश्य है कि अपनी अभीप्सा के किसी प्रमुख अनुभव के अनुसार किसी लक्ष्य विशेष को अथवा किसी एकाङ्गी उद्देश्य को ही व्यक्ति सर्वस्व मान ले। ऐसा हुआ भी है : जीवन के वाह्याङ्गको ही समृद्ध बनाने का भौतिकवादी प्रयास अथवा जीवन के अन्तरङ्गको ही, निगूढ़ आत्मसत्ता को ही, सर्वथा मुक्त करने का सन्यासवादी आग्रह दो आत्यन्तिक उदाहरण हैं। किंतु ऐसे किसी ऐकांतिक उद्देश्य से मानव का पूर्ण समाधान नहीं हो सका है। परिपूर्णता में ही उसकी अभीष्ट सिद्धि सम्भव है।

भारतीय दर्शन की परम्परा से यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि विशेष दार्शनिक साध्यों एवं श्रेयों को अलग-अलग प्रकार से प्रमुख अथवा गौण माना गया है और उसके अनुसार साध्यों का महत्त्व भिन्न-भिन्न प्रकार का रहा है किंतु क्रमशः प्रत्येक परम्परा में एक श्रेय-समन्वय भी विकसित होता गया। ज्ञान-प्रमुख वेदांत-साधना में भक्ति और कर्म-साधना का समावेश हुआ, भक्ति-प्रमुख वैष्णव-साधना में ज्ञान एवं कर्म का समावेश हुआ, शील-प्रधान बौद्ध-साधना में ज्ञान और भक्ति का समावेश हुआ। तात्त्विक निरूपण एवं प्रमाण-मीमांसा को लेकर भारतीय दर्शन-परम्पराओं में कितना भी मतभेद क्यों न रहा हो, साधना-भूमिका में उनमें सदा एक सामञ्जस्य बना रहा है।

प्रस्तुत परिप्रेक्ष्य में श्री अरविन्द दर्शन को हमें समस्त भारतीय दर्शन की अभीप्सा के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुनरुद्घाटन का अवसर तो मिलता ही है, उसमें विद्यमान मौलिक एवं व्यापक सर्वाङ्गीणता को परिपुष्ट तथा सुसमन्वित बनाने की प्रेरणा भी मिलती है जिससे भारतीय दर्शन का भविष्य दिव्य परिपूर्णता की ओर प्रेरित हो। उनका महान् दर्शन ग्रन्थ "द लाइफ़ डिवाइन" "मानव-अभीप्सा" के बीज से अंकुरित होकर "दिव्य जीवन" की परिपूर्णता में इस प्रकार विकसित हुआ है कि उसके परिशीलन से भारतीय दर्शन की तात्त्विक, ज्ञानात्मक एवं साधनात्मक विशालता के साथ-साथ उसकी ऐसी सर्वान्विति का भी अनुभव होता है जिसमें अन्यान्य दर्शन अपनी-अपनी विशेष सम्पन्नता को भी प्राप्त होते हैं और पारस्परिक सामञ्जस्य को भी।

इतना ही नहीं, श्री अरविन्द के दिव्य भागवत जीवन के भव्य संदेश में एक ऐसी पपूर्णता का आश्वासन है जिससे भारतीय दर्शन की समस्त अभीप्सात्मकता सर्वाङ्ग-सिद्धि में सम्पन्न होगी। उनका आह्वान है कि हम अपनी मूलभूत अभीप्सा को अधिकाधिक जागृत बनाएं।

श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकतन्त्र : भारतीय सन्दर्भ में

वसन्तकुमार लाल

इस लेख का उद्देश्य भारतीय सन्दर्भ में लोकतन्त्र की अवधारणा का स्पष्टीकरण है—वह भी राजनीतिक दृष्टिकोण से नहीं, दार्शनिक दृष्टिकोण से। इस लेख की यह मान्यता है कि लोकतन्त्र कोई ऐसा पूर्णतया सार्वभौम भाव नहीं है जो हर लोकतन्त्र में पूर्णरूपेण चित्रित हो, बल्कि हर देश की अपनी संस्कृति और परम्परा के अनुरूप ही उस देश के लोकतन्त्र को रूप मिल पाता है। भारतीय लोकतन्त्र की व्याख्या अथवा विवरण की हर चेष्टा प्रायः सदा ही पाश्चात्य भावों एवं अवधारणाओं को इस पर लाद देती है और भारत की अपनी संस्कृति, परिस्थिति, परम्परा आदि की प्रायः उपेक्षा ही करती है। अतः इस लेख का यह पूर्वाग्रह है कि भारतीय सन्दर्भ में लोकतन्त्र के भाव को एक विशिष्ट रूप में समझना अनिवार्य है, अन्यथा पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार भारतीय लोकतन्त्र में जो विसंगतियाँ दिखायी देती हैं उनकी समुचित व्याख्या भी सम्भव नहीं होगी।

II

वैसे तो प्राचीन भारत में भी लोकतन्त्र के उदाहरण बताये जाते हैं, किन्तु यह मानना न अनुचित है न अभारतीय कि लोकतन्त्र की अवधारणा विकसित पश्चिम में ही हुई है। जिस ढंग से पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन में लोकतन्त्र पर विचार होता रहा है उस ढंग से भारत में नहीं हुआ। आधुनिक काल में अवश्य ही भारतीय चिन्तकों तथा विचारकों ने इस अवधारणा पर विचार किया है। किन्तु वह तभी सम्भव हुआ जब भारतीय विचारक पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन से पूर्णतया परिचित हो गये और जब उन्होंने देखा कि भारतीय राज्य-पद्धति भी लोकतान्त्रिक ढाँचे में ढल रही है।

पाश्चात्य दर्शन में लोकतन्त्र की अवधारणा का प्रयोग मूलतः दो अर्थों में हुआ है। एक अर्थ में यह कुछ **मूल्यों या आदर्शों** का सामान्य नाम है, और दूसरे अर्थ में यह **राज्य या प्रशासन** का एक **रूप या ढंग** है।

सच पूछा जाय तो जब कभी लोकतन्त्र की अवधारणा में निहित आदर्शों या मूल्यों के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं रहता तो राजनीति-शास्त्री कह उठते हैं कि 'लोकतन्त्र' शब्द का प्रयोग मूल्यों या आदर्शों के लिये होना ही उपयुक्त नहीं है। वे इस शब्द के दूसरे प्रयोग पर ज़ोर देते हैं। वे लोकतन्त्र को प्रशासन का एक ढंग मात्र समझते हैं। अंग्रेज़ी के 'डिमोक्रेसी' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम इसी अर्थ में हुआ था। **'अल्पतन्त्र'** (ओलीगार्की) या **'अभिजात तन्त्र'** (एरिस्टोक्रेसी) में जहां 'कुछ के द्वारा प्रशासन' या 'अभिजात वर्ग के द्वारा प्रशासन' की बात होती थी, वहां प्रजातंत्र में उन शासन-पद्धतियों के विपरीत जन-प्रशासन के भाव को प्रमुखता दी गयी है और कहा गया है कि प्रशासन का वह रूप जो जनमत के द्वारा संचालित हो, जनतन्त्र या लोकतन्त्र है। इसी परम्परा में कहा जाता है कि जहाँ राज्य स्थापित करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अधिकार जनता को है, अर्थात् जहाँ बहुमत के आधार पर निर्वाचित वर्ग शासन की बागडोर सम्हालता है उस प्रशासन-विधि को लोकतन्त्र कहते हैं।

लोकतन्त्र को प्रशासन का एक रूप मानना अयुक्त नहीं है, किन्तु यह कहना उचित नहीं है कि लोकतन्त्र बस इतना ही है। लोकतन्त्र की अवधारणा में आदर्श या मूल्य के भाव को स्थान नहीं देना उस अवधारणा को नहीं समझना है। सच पूछा जाय तो यदि लोकतन्त्र के भाव में किसी आदर्श का भाव निहित नहीं होता तो इसका दूसरा अर्थ भी अर्थहीन हो जाता। बहुमत के द्वारा निर्वाचित सरकार सिद्धान्ततः उन्हीं आदर्शों को प्राप्त करने की चेष्टा करती है जो लोकतान्त्रिक आदर्श हैं। बल्कि, कहा जा सकता है कि जब लोकतन्त्र को एक प्रशासन-विधि मात्र समझा जाता है तब उसके मूल में भी कुछ आदर्श या मूल्य ही रहते हैं। यहाँ भी कम से कम 'जनमत' के आदर्श तथा 'बहुमत' के मूल्य को तो ध्यान में रखा ही जाता है।

अतः लोकतन्त्र की अवधारणा के स्पष्टीकरण के लिये इस शब्द के दूसरे प्रयोग पर विशेष ध्यान देना अनिवार्य है। सामान्यतः लोकतन्त्र के **तीन आदर्श** बताये जाते हैं—**समता, स्वतन्त्रता तथा बन्धुता**। वैसे लोकतन्त्र का विवरण कभी-कभी दूसरे ढंग से भी दिया जाता है। कहा जाता है कि लोकतन्त्र उस शासन-पद्धति का नाम है जो **जनता की है, जनता के द्वारा** चलती है और जनता **के लिये** है। किन्तु ध्यान से देखा जाय तो यह लोकतन्त्र की व्याख्या नहीं, शब्दों के खेल के द्वारा लोकतन्त्र का ठोस समर्थन है। यदि इसके निहितार्थ को स्पष्ट करने की चेष्टा की जाय तो अन्ततः उन्हीं मूल्यों पर रुकना होगा जो समता, स्वतन्त्रता तथा बन्धुता में निहित हैं।

हर लोकतन्त्र में इन तीनों मूल्यों की अभिव्यक्ति तो होती ही है किन्तु एक-समान नहीं। बन्धुता तो सामान्य स्थिति में प्रायः दिखायी भी नहीं देती, किसी असामान्य स्थिति में (जैसे देश पर आक्रमण होने पर) बन्धुत्व की भावना स्पष्ट रूप में प्रकट होती है। इसी कारण साधारणतः लोकतन्त्र की अवधारणा के स्पष्टीकरण में **समता** तथा **स्वतन्त्रता** के ही भावों को प्रमुख माना जाता है। तब यह है कि किसी लोकतन्त्र में **समता** के भाव पर अधिक ज़ोर दिया जाता है तो किसी लोकतन्त्र में **स्वतन्त्रता** के भाव पर। स्वतन्त्रता का आदर्श एक ऐसी भावना का स्रोत माना जाता है जो आत्म-निर्णय के महत्त्व को सर्वोपरि माने, जैसे दूसरों के निर्णय पर आश्रित सुख से वैसे दुःख को भी वांछनीय माना जाता है जो आत्म-निर्णय के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ हो। लोकतन्त्र स्वतन्त्रता पर आघात सहन नहीं कर सकता, इसी दृष्टिकोण के अनुरूप लोकतन्त्र में कुछ मूल वैयक्तिक स्वतन्त्रताओं का भी उल्लेख हुआ है, किन्तु कहीं-कहीं लोकतन्त्र के आदर्श के रूप में स्वतन्त्रता से अधिक समता पर ज़ोर दिया जाता है। इसी दृष्टि से कुछ कम्यूनिस्ट प्रशासन भी अपने को जनतान्त्रिक कहते हैं। वे अपने ढंग से **समता** को चरम आदर्श के रूप में स्वीकार करते हैं। यह ठीक है कि उनकी राजनीतिक व्यवस्था में व्यक्ति का स्थान उस व्यवस्था के समक्ष गौण है, व्यक्ति उस व्यवस्था में खो जाता है। फिर भी, वह व्यवस्था ही ऐसी है कि व्यक्तियों की समता और उसके समानाधिकार पर विशेष ध्यान दिया जाता है। अतः भिन्न-भिन्न लोकतन्त्र अपने आदर्शों की दृष्टि से एक जैसे नहीं, फिर भी यह कहा जा सकता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि मूलतः समता तथा स्वतन्त्रता ही लोकतान्त्रिक आदर्श हैं। यह भी कह सकते हैं कि वह प्रशासन जो इन आदर्शों की प्राप्ति के लिये जनमत के द्वारा निर्वाचन की प्रणाली का समर्थन करता है लोकतन्त्र कहा जा सकता है।

III

सिद्धान्ततः भारतीय लोकतंत्र का आदर्श भी वैयक्तिक स्वतंत्रता तथा समता है। यहां भी इन आदर्शों की प्राप्ति के लिये ऐसी प्रशासन-विधि का समर्थन किया गया है जो जनमत पर आधारित है। यहां भी बहुमत के द्वारा निर्वाचित सभा या मण्डल या परिषद् पर ही वैधानिक तथा प्रशासकीय उत्तरदायित्व रहता है। निर्णयों तथा राज्य-संचालन के ढंगों में भी समता तथा स्वतंत्रता के आदर्शों को ही प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। फिर भी भारतीय लोकतंत्र का स्वरूप हर अन्य लोकतंत्र से कुछ भिन्न है। कभी-कभी उसमें कुछ ऐसी बातें भी दिखायी दे जाती हैं जो लोकतंत्र की प्रचलित अवधारणा से मेल नहीं खातीं— कम से कम ऐसा प्रतीत होता है, और कभी-कभी इसमें कुछ ऐसा नवीन प्रकरण उभर पड़ता है, जो विश्व के किसी अन्य लोकतंत्र में दिखायी नहीं देता। भारतीय लोकतंत्र में कुछ ऐसे आदर्श भी जुटे हैं जो लोकतंत्र के प्रचलित भाव के अनुरूप प्रतीत नहीं होते, बल्कि भारतीय संस्कृति एवं परम्परा के अनुरूप प्रतीत होते हैं। इन तथ्यों का होना यह सिद्ध नहीं करता कि भारत की राजनीतिक व्यवस्था लोकतांत्रिक नहीं है। भारत लोकतंत्र का बड़ा ही स्पष्ट तथा प्रमुख उदाहरण है। इसके संविधान में ही समता, स्वतंत्रता तथा न्याय को सर्वोपरि माना गया है। भारत की राज्य-व्यवस्था पूर्णतया जनमत पर ही आधारित है। व्यक्ति को अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिये वैधानिक अधिकार प्राप्त हैं। अतः भारतीय राजनीतिक व्यवस्था लोकतांत्रिक तो है ही। वे तत्त्व जिनकी उपस्थिति के कारण पाश्चात्य विचारकों को भारतीय व्यवस्था को लोकतांत्रिक कहने में हिचक होती है, भारत के लोकतंत्र-रूप को खण्डित नहीं करते, बल्कि उसे एक विशेष ढंग से उभारते हैं। यह ढंग भारत में प्रचलित कुछ प्रवृत्तियों तथा लोकतांत्रिक आदर्शों के बीच एक समन्वय है। इसी कारण स्वीकारना पड़ता है कि लोकतंत्र का एक विशिष्ट रूप भारतीय लोकतंत्र है। उसीका स्पष्टीकरण इस लेख का उद्देश्य है।

IV

अब हम भारतीय परम्परा के कुछ उन तथ्यों का निर्देश करें जिनका स्पष्ट प्रभाव भारतीय लोकतंत्र पर पड़ा है और जिसके फलस्वरूप भारतीय लोकतंत्र का अपना विशिष्ट रूप उभरा है।

प्रथमतः तो यह स्वीकारना ही पड़ता है कि भारत का जन-साधारण अपने दैनिक कार्यों एवं उलझनों में कुछ इस प्रकार उलझा रहता है कि वह राजनीतिक व्यवस्था के प्रति सक्रिय रूप में जागरूक हो नहीं पाता। अपनी वैयक्तिक, सामाजिक तथा पारिवारिक समस्याओं के समाधान में ही उसकी सारी शक्ति लगी रहती है अतः राजनीतिक चेतना जग नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाती। सदा भारत में सदा से होता आ रहा है और अभी भी अधिकांश व्यक्तियों की प्रवृत्ति ऐसी ही है। राजनीतिक व्यवस्था के प्रति वह पूर्णतया उदासीन नहीं, जीवन की मूल समस्याएँ एवं परिस्थितियां ही कुछ इस ढंग की हैं कि वह राजनीतिक कार्यों को प्रशासक का कार्य समझ अपनी समस्याओं में उलझा रहता है। कभी-कभी वह राजनीतिक व्यवस्था के प्रति जागरूक होता है, किन्तु ऐसा तभी होता है जब राजनीतिक अव्यवस्था के कारण उसका अपना सामान्य जीवन असंतुलित तथा अशान्त हो जाता है। उस समय भी वह स्वयं सक्रिय नहीं होता, बल्कि चुपचाप वही करता है जो कुछ राजनीतिक दल के लोगों का निर्देश होता है। उसकी इन क्रियाओं के पीछे राजनीतिक चेतना नहीं बल्कि भीड़वृत्ति होती है। सम्भवतः इसका कारण अशिक्षा हो, किन्तु मूलतः यह प्रवृत्ति हमारे जीवन के अंग की देन है। भारत में सदा से राज्य-कार्य शासक-वर्ग का सरदर्द रहा है, सामान्य वर्ग सदा से ही राज्य-कार्य से तटस्थ रहा है। अशिक्षित बहुसंख्या की ही बात नहीं, शिक्षित वर्ग भी प्रायः तटस्थ ही रहता है। इसी मनोवृत्ति के फलस्वरूप आम भारतीय की यह धारणा है कि उसके वैयक्तिक दायित्वों के अतिरिक्त हर कार्य का दायित्व प्रशासन पर है। वह स्वयं न कुछ करता है और न उसे यह समझ ही है कि लोकतंत्र में व्यक्ति के क्या दायित्व या कर्त्तव्य हैं ? वह तो हर अव्यवस्था और दोष के लिये बस प्रशासन को ही दोषी समझता है। उसे यह चेतना ही नहीं होती कि लोकतंत्र में व्यक्ति तथा राज्य में समन्वय किस प्रकार सम्भव है ?

फलतः लोकतंत्र के प्रचलित रूप तथा भारतीय लोकतंत्र में अन्तर हो जाता है। जहां प्रचलित लोकतांत्रिक व्यवस्था इस मान्यता पर आधृत है कि हर व्यक्ति को अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की चेतना है, भारतीय लोकतंत्र के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। यही कारण है कि भारत का अधिकांश ग्रामीण वर्ग मतदान अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की चेतना के अनुरूप नहीं करता, बल्कि अपने क्षेत्र के प्रमुख व्यक्तियों के आदेशों के अनुसार करता है।

भारतीय परम्परा का एक अन्य तथ्य भी अपने ढंग से भारतीय लोकतंत्र को प्रभावित करता है। 'समता' तथा 'स्वतंत्रता' का भी भारतीय दृष्टिकोण से अपना अलग विशिष्ट अर्थ है। सच पूछा जाय तो भारतीय परम्परा पूर्ण समता का समर्थन नहीं करती रही है। भारतीय वर्ण-व्यवस्था इस विचार पर आधारित है कि हर व्यक्ति का कार्य, व्यवसाय या धन्धा उसके जन्म, शिक्षा, अभिरुचि, वातावरण आदि पर निर्भर करता है। इस व्यवस्था का विकास कुछ इस ढंग से हुआ कि कुछ कार्यों को श्रेष्ठ तथा कुछ कार्यों को निकृष्ट समझा जाने लगा। इस वर्ण-व्यवस्था का प्रारम्भिक रूप चाहे जिस ढंग का रहा हो, बाद में यह व्यवस्था दूषित होती गयी तथा वर्ग-भेद एवं जाति-भेद भारतीय जीवन के अंग बन गये। इसी वातावरण में भारत में लोकतंत्र के आदर्श को राजनीतिक आदर्श माना गया। परिणाम यह हुआ कि समता-स्वतंत्रता आदि का भी अर्थ इस विशेष पृष्ठभूमि में लगाया जाने लगा। उदाहरणतः समता के ही आदर्श को लें। एक दृष्टि से देखें तो समता का आदर्श ही वर्तमान भारतीय जीवन में दिखायी देने वाले वर्ग-संघर्ष का एक उपकरण बन गया है। जो परम्परागत ऊंचे वर्ग के लोग हैं वे समता का एक अर्थ देते हैं तथा पिछड़ा-वर्ग समता

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection. Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का सवथा दूसरा अर्थ देता है। उच्च वर्ग के लोग स्वीकार करते हैं कि जीवन तथा अस्तित्व के मूल अधिकारों तथा व्यक्ति की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति सबके लिये अनिवार्य है, किन्तु अभी भी वे समझते हैं कि कुछ कार्य केवल वे ही कर सकते हैं। यही कारण है कि मन्दिरों का द्वार हरिजनों के लिये खुल जाने के बाद भी किसी मन्दिर का पुजारी हरिजन नहीं है। बल्कि, परम्परा का बन्धन कुछ ऐसा दृढ़ है कि हरिजन को स्वयं ही पुजारी-वृत्ति स्वीकारने में हिचक हो सकती है। उसी प्रकार पिछड़ा वर्ग भी समता को उसके सामान्य अर्थ में नहीं लेता, वह इसे उस रूप में नहीं समझता कि उसके अधिकार उसे मिलने चाहियें। वह तो इस आदर्श को अपने इतिहास की पृष्ठभूमि में देखता है। अतः उसके लिये समता का अर्थ उन अधिकारों एवं सुविधाओं की प्राप्ति है जिन्हें अभी तक बस उच्च वर्ग ही भोगता रहा है।

इस परिस्थिति में भारतीय लोकतंत्र में 'समता' के भाव को अपने ढंग से समझना अनिवार्य हो जाता है। फलतः भारतीय संविधान में ही लोकसभा, विधानसभा आदि से सम्बन्धित विशेष व्यवस्था केवल पिछड़े वर्ग के लिये है। चुनाव में इस वर्ग के लिये सुरक्षित क्षेत्र निर्धारित किये गये हैं तथा नौकरियों में उनके लिये कुछ स्थान सुरक्षित रखे हुए हैं। अतः समता को स्वीकार करते हुए भी भारतीय संविधान में पिछड़े वर्ग को कुछ ऐसी सुविधायें देनी पड़ी हैं जो अन्य वर्ग को नहीं मिल सकतीं। यह ठीक है कि इसके फलस्वरूप यदाकदा कुछ विसंगतियां उभर पड़ती हैं। एक उदाहरण इसे स्पष्ट कर सकेगा। पिछड़ा वर्ग या अनुसूचित वर्ग वह वर्ग है जो परम्परागत रूप से पिछड़ा है, जो भारत में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था या वर्ग-व्यवस्था के अनुसार पिछड़ा कहा जाता है। परिणाम होता है कि इस वर्ग के वे सदस्य भी जो आर्थिक दृष्टि से बड़े सम्पन्न हैं, इस वर्ग की सुविधाओं को भोगने के अधिकारी हो जाते हैं। ऐसी विसंगतियां हैं, इन्हें अस्वीकारा नहीं जा सकता। फिर भी, भारतीय लोकतंत्र यदि इस तथ्य की अवहेलना कर पूर्ण समता के आदर्श की प्राप्ति की चेष्टा करे तो वह चेष्टा ही निरर्थक होगी, क्योंकि पिछड़े वर्ग को विशेष सुविधा-अधिकार देकर ऊपर उठाना अनिवार्य है। जब सब का सामान्य स्तर एक-सा हो जाय तभी पूर्ण समता के आदर्श की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है। अतः यदि कोई यह कहे कि भारत में प्रशासन-विधि के द्वारा वर्ग-भेद को प्रोत्साहन मिलता है और इस प्रकार इसका लोकतांत्रिक रूप खण्डित होता है, तो वह भारतीय लोकतंत्र की विशिष्टता को नहीं समझता। भारत के लिये समता का आदर्श सर्वथा अनौपाधिक आदर्श नहीं बन सकता।

समता तथा स्वतंत्रता दोनों के भावों पर एक अन्य तथ्य का भी प्रभाव पड़ता है। विश्व के किसी लोकतंत्र में धर्म-निरपेक्षता को लोकतंत्र का एक अनिवार्य लक्षण मानने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु भारत में है। उसका एक विशेष कारण है। भारत की जनता में राजनीतिक चेतना भले न हो, धार्मिक चेतना स्पष्ट भी है और प्रबल भी। अतः भारतीय लोकतांत्रिक संविधान में ही अन्य स्वतंत्रताओं के साथ धार्मिक स्वतंत्रता का भी उल्लेख हुआ है। सिद्धान्ततः धार्मिक स्वतंत्रता समता का ही समर्थन करती है, किन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो इस स्वतंत्रता को स्वीकारने से समता का भाव अछूता नहीं रह जाता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्ण समता के आदर्श की प्राप्ति तभी सम्भव है जब सभी नागरिकों को एक ही कोटि में रखा जाय, किन्तु भारत में धार्मिक विभिन्नता के कारण यह सम्भव नहीं है। भारत में धर्म का स्थान एक प्रकार से सर्वोपरि है। यदि किसी को यह सूझ जाय कि राजनीतिक आदेश धार्मिक आदेशों के विपरीत हैं तो वह राजनीतिक आदेशों की अवहेलना बेहिचक करेगा। यही कारण है कि भारत में साम्प्रदायिक झगड़े भी होते हैं तथा विभिन्न धर्मावलिम्बयों को यह शिकायत रहती है कि उनके धर्म एवं सम्प्रदाय के साथ न्याय नहीं हो रहा है। इस प्रकार भारत में समता के आदर्श और धार्मिक विभिन्नता के बीच एक तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। परिणाम यह होता है कि भारतीय लोकतंत्र में दोनों को स्थान देना अनिवार्य हो जाता है—वह भी इस ढंग से कि दोनों का समुचित समन्वय क्या रहे। शायद यही कारण है कि संविधान में समता, स्वतंत्रता, बन्धुत्व आदि के साथ **न्याय** को भी भारतीय लोकतंत्र के मौलिक तत्त्व के रूप में रखा गया है। हर धर्म तथा सम्प्रदाय को यह सुविधा है कि वह अपने अधिकारों की रक्षा के लिये न्याय की मांग करे। लोकतंत्र में न्याय का स्थान रहता है, किन्तु भारत में इसे इतना आवश्यक समझा गया है कि संविधान के मुखबन्ध में ही अन्य आदर्शों के साथ **न्याय** को भी भारतीय लोकतंत्र का एक मूल आदर्श बना दिया गया है।

स्वतंत्रता का भी भारत में वह अर्थ नहीं रहा है जिस अर्थ में इसे पाश्चात्य राजनीति-शास्त्रियों ने समझा है। पूर्ण वैयक्तिक स्वतंत्रता का भारत में शायद कभी समर्थन नहीं हुआ है। एक तो यह सम्भव भी नहीं है क्योंकि पूर्ण वैयक्तिक स्वतंत्रता का परिणाम संघर्ष तथा विघटन ही हो सकता है, दूसरे, वैसे भी भारत की राजनीतिक परम्परा कुछ ऐसी रही है कि यहाँ न तो व्यक्ति को पूर्ण वैयक्तिक स्वतंत्रता की कभी चाह ही रही है और न कभी इसे आदर्श के रूप में ही स्वीकारा गया है। जिस धार्मिक परम्परा में भारतीय संस्कृति पनपी है उसमें सदा से राजा, धर्मगुरु, धर्म-सम्प्रदाय, धर्म-व्यवस्था आदि को व्यक्ति से ऊपर माना गया है। कुछ ऐसी धारणा रही है कि व्यक्ति का कार्य उसके अपने पारिवारिक तथा सामाजिक कर्त्तव्यों एवं दायित्वों को निभाना है। इनके अतिरिक्त हर कार्य के लिये उसे उस व्यवस्था या शक्ति की अपेक्षा रहती है जिसे वह व्यक्ति से ऊपर मान चुका है। फलतः लोकतंत्र में जब व्यक्ति की स्वतंत्रता को आदर्श रूप में रखा गया तो आम भारतीय यही समझता रहा कि जब उसे अपने साधारण दायित्वों के निभाने में कोई अवरोध आये तो राज्य उसका निराकरण करेगा। अभी भी उसे अपने इस सीमित दायरे से बाहर आ स्वतंत्रता को समझने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यही कारण है कि मतदान में भी वह अपनी स्वतंत्रता का उपयोग नहीं करता, बल्कि आंख मंद कर उस व्यक्ति या संस्था के आदेश का पालन करता है जिसे वह अपने से 'श्रेष्ठ' मान चुका है।

स्वतंत्रता के विशिष्ट रूप को समझने के लिये भारत की अधिकांश आबादी (हिन्दू आबादी) के कुछ मूल विश्वासों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। उदाहरणतः हिन्दू-परम्परा में **कर्म-फल**-सिद्धान्त बड़ा प्रभावशाली रहा है। यदि किसी धर्म-भीरु हिन्दू की कोई वैयक्तिक हानि होती है, या उसकी स्वतंत्रता पर किसी प्रकार का आघात होता है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो वह उसे अपना भाग्य या प्रारब्ध या पूर्वजन्म के कर्मों का प्रभाव समझ सन्तोष कर लेता है। यदि वह अपने अधिकारों या आवश्यकताओं की प्राप्ति से किसी प्रकार वञ्चित रह जाता है तो वह राज्य-व्यवस्था को उत्तरदायी समझने के स्थान पर अपने कर्मों को ही दोष देता है। यह ठीक है कि इस भावना में एक प्रकार का सन्तोष है—दुर्दिन अथवा अभाग्य के साथ एक प्रकार का समझौता है। किन्तु पाश्चात्य विचारक, या उनके ढंग पर सोचने वाले भारतीय विचारक, यह सोच भी नहीं पाते कि इस भावना के फलस्वरूप भी ग्राम भारतीय जनता की राजनीतिक चेतना सोयी रहती है। पाश्चात्य लोकतंत्र में यदि कोई ऐसा कानून पारित होता है जिससे स्वतंत्रता के अपहरण की आशंका रहे तो हंगामा उठ खड़ा होता है, जनता की आवाज़ सबल रूप में उसके विरुद्ध अपना प्रतिवाद व्यक्त करती है। किन्तु यदि भारत में ऐसा हो तो अधिकांश भारतीय कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करते। कर्म-सिद्धान्त उसे हर परिस्थिति, हर बन्धन से समझौता कर लेने का साधन दे देता है। यही कारण है कि जब राजनीतिक व्यवस्था सर्वथा अकर्मण्य भी हो जाती है तो हम क्रमशः उन परिणामों के आदि बनते जाते हैं; अपने मित्रों के बीच भले ही हम उन कुपरिणामों का उल्लेख कर लें किन्तु धीरे-धीरे हम उन कष्टों को भी जीवन का अनिवार्य अंग बना लेते हैं। आवाज़ उठाने वालों की संख्या नगण्य है। बीस प्रतिशत शिक्षित वर्ग में भी अधिकांश में इस 'समझौते' की आदत है। द्रष्टव्य तो यह है कि जो अपनी आवाज़ उठाते भी हैं वे भी स्वतंत्रता के आदर्श से प्रेरित होकर नहीं, किसी राजनीतिक चेतना के वशीभूत होकर नहीं, बल्कि मुख्यतः इसलिये कि अगले चुनाव में वे या उनका दल अधिक मत प्राप्त कर सकें। यही कारण है कि इस प्रकार के प्रतिवाद प्रायः गलत मार्ग अपना लेते हैं जिसके फलस्वरूप अव्यवस्था फैलती है तथा सभी राजनीतिक ढंग टूटने लगते हैं। इस परिस्थिति में लोकतांत्रिक आदर्शों की प्राप्ति असम्भव हो जाती है। अतः इन आदर्शों की प्राप्ति के लिये वैयक्तिक स्वतंत्रता के उपयोग पर राज्य के द्वारा कुछ प्रतिबन्ध भी लग जाते हैं। वैसे यह कुछ विचित्र लगता है, किन्तु भारतीय परिस्थिति की विशिष्टता इसे अर्थपूर्ण बना देती है। उदाहरणतः स्वतंत्रता के मूल्य की उचित अभिव्यक्ति तभी सम्भव है जब देश के प्रत्येक नागरिक को पूर्ण राजनीतिक चेतना रहे, अपने अधिकारों के साथ वह अपने राजनीतिक दायित्व तथा कर्त्तव्यों को भी समझे। जब तक यह भाव नहीं जागता पूर्ण स्वतंत्रता उच्छृंखलता तथा अनुशासन-हीनता का ही रूप ले लेती है। अतः जब तक व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता के उपयोग का अर्थ नहीं सीखता तब तक उसकी स्वतंत्रता को नियंत्रत रखना भी राज्य का ही कार्य हो जाता है। अतः संविधान-संशोधन के द्वारा यदि स्वतंत्रता पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगा दिये जांय तो इससे भारत का लोकतांत्रिक रूप खण्डित नहीं होता। क्योंकि प्रश्न स्वतंत्रता के हनन का नहीं, उसकी मात्रा का है, मूल प्रश्न यह है कि भारत की वर्तमान परिस्थिति में स्वतंत्रता की सीमा क्या हो—किस मात्रा तक व्यक्ति को छूट दी जा सकती है? असीमित स्वतंत्रता तभी सम्भव हो सकती है जब व्यक्ति को अपने उत्तरदायित्व की **पूर्ण चेतना** हो। भारत में अभी यह नहीं है। इसी कारण स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध भी लोकतांत्रिक प्रशासन-प्रणाली का ही कार्य हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका एक कारण और है। आम भारतीय आदमी अपनी वैयक्तिक उलझनों में इतना व्यस्त रहता है कि उसे राजनीतिक कुरीतियों को दूर करने के लिए अपनी आवाज़ उठाने की फुरसत भी नहीं है। अतः प्रशासन को यह पता भी नहीं चल पाता कि अधिकांश लोगों की क्या इच्छा है। अतः प्रशासन को ही अव्यवस्था की ओर ध्यान देना पड़ता है और कभी टूटती व्यवस्था को संभालने के लिए कुछ प्रतिबन्ध लगाना पड़ता है। फलतः भारतीय लोकतन्त्र अन्य लोकतन्त्रों से कुछ भिन्न हो जाता है। इस भिन्नता के पीछे जो विशेष भारतीय परिस्थिति है उसे ही पाश्चात्य विचारक समझ नहीं पाते।

बात यह है कि पाश्चात्य देशों में 'राजनीतिक स्वतन्त्रता' अपने-आप में चरम लक्ष्य है। भारतीय परम्परा में यह स्वतन्त्रता चरम लक्ष्य नहीं है। भारत में सदा से **पूर्ण शान्ति** एवं **आनन्द** को ही चरम लक्ष्य माना गया है। हिन्दू परम्परा में **मोक्ष** को चरम लक्ष्य माना गया है और मोक्षावस्था पूर्ण शान्ति एवं परमानन्द की अवस्था है। अन्य धर्मों में भी (जैसे इस्लाम में) भौतिक आदर्शों से कहीं अधिक धार्मिक आदर्शों या आदर्शात्मक आदर्शों को मूल्यवान् माना गया है। तो पाश्चात्य देश, जो मूलतः ऐहिकतावादी रहे हैं, राजनीतिक स्वतन्त्रता पर ही रुक जाते हैं क्योंकि यह स्वतन्त्रता ऐहिक सुख-सम्पन्नता का एक सोपान बन सकती है। भौतिकता या भौतिक सुख को भारत में परम आदर्श के रूप में कभी देखा नहीं गया है, बल्कि कभी-कभी तो आध्यात्मिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए भौतिकता के हनन का भी समर्थन किया गया है। स्वतन्त्रता को भी भारत में इसी पृष्ठभूमि में समझा जाता है। निम्नलिखित विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जायगा।

वैसे भारतीय लोकतन्त्र में भी राजनीतिक आदर्शों के रूप में भौतिक स्तर की कुछ स्वतन्त्रताओं का उल्लेख हुआ है, जैसे कहा गया है कि सम्पत्ति-अर्जन, अभिव्यक्ति आदि की स्वतन्त्रता हर व्यक्ति को है। किन्तु वस्तुतः आम भारतीय के लिए उन स्वतन्त्रताओं का उतना महत्त्व नहीं जितना आंतरिक अथवा आदर्शात्मक स्वतन्त्रता का है। अतः यदि उनकी सम्पत्ति पर राज्य के द्वारा कुछ प्रतिबन्ध लग जाता है अथवा वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होती है तो वह उतना विचलित नहीं होता जितना अपने ग़लत कर्म या पाप-कर्म के द्वारा होता है। मोक्ष का आदर्श तथा शान्ति एवं आनन्द का लक्ष्य सामान्य भारतीय को मूलतः वैयक्तिक बना देता है। 'वैयक्तिकता' तथा 'स्वार्थीपन' में अन्तर है। आम भारतीय आवश्यकता से अधिक स्वार्थी नहीं, किन्तु उसमें नागरिकता एवं सार्वजनिकता की वह भावना जाग नहीं पाती है जो पाश्चात्य लोकतन्त्र में दिखायी देती है। सम्भव है कि वर्तमान शिक्षा-दीक्षा तथा भौतिकता की बढ़ती हुई आकांक्षा बाद में भारतीय दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन करदे। किन्तु अभी तो उसमें नागरिकता, सामूहिकता आदि की भावना की कमी है। कहा जाता है कि भारत में छोटी-छोटी बातों में भी बेईमानी पायी जाती है। रेल के डब्बे से आइना निकाल लिया जाता है, सार्वजनिक स्थानों से कल-पुर्जे, पाइप आदि गायब कर दिये जाते हैं, मार्ग में बिछायी जल-व्यवस्था तोड़ दी जाती है, सार्वजनिक स्थान गंदे कर दिये जाते हैं आदि-आदि। किंतु, सच पूछा जाय तो इनके पीछे कोई बेईमानी अथवा चोरी की वृत्ति नहीं है। तथ्य यह है कि उसे सार्वजनिकता की पूरी चेतना ही नहीं है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे यह समझ नहीं आयी है कि सार्वजनिक वस्तुएँ उसकी अपनी निजी सम्पत्ति जैसी ही हैं। तभी तो वह किसी सार्वजनिक हानि को अपनी हानि नहीं समझता। फलतः हम इस प्रकार के कार्यों को नियन्त्रित करने के लिए ऐसे कानून बनाते हैं जो जनता की स्वतन्त्रता को सीमित कर देते हैं। पाश्चात्य राजनीतिशास्त्री के अनुसार, प्रशासन के द्वारा ऐसे नियमों का पारित करना लोकतांत्रिक कार्य नहीं है—किंतु, वे यह नहीं समझ पाते कि इन नियमों के द्वारा एक दृष्टि से लोकतन्त्र की रक्षा ही हो रही है।

इस सम्बन्ध में एक अन्य तथ्य भी विचारणीय है। लोकतन्त्र की प्रचलित धारणा के अनुसार लोकतन्त्र का आधार विभिन्न दल या पार्टियां हैं। लोकतांत्रिक प्रशासन-प्रणाली चुनाव के आधार पर चलती है और चुनाव सामान्यतः दलों या पार्टियों के द्वारा ही लड़े जाते हैं। आदर्श लोकतन्त्र में पार्टी या दल का गठन कुछ सिद्धांतों या आदर्शों के बल पर होता है। उन सिद्धांतों या आदर्शों का महत्त्व इतना रहता है कि विजयी दल के सिद्धांतों के आधार पर ही कहा जा सकता है कि उस दल का प्रशासन किस ढंग का होगा। किंतु भारतीय लोकतन्त्र में एक विशेष कठिनाई है। एक तो यहाँ अनगिनत दल हैं। साधारणतः अधिकांश दलों का संगठन किसी सिद्धांत के आधार पर नहीं होता। अधिकांश दल तो बस चुनाव को लक्ष्य रखकर ही अपनी पार्टी बनाते हैं। उनका गठन जाति, धर्म, स्वार्थ आदि तत्त्वों के आधार पर ही होता है। अतः कुछ व्यक्ति जो निर्वाचित हो जाते हैं उन्हें यह ज्ञान ही नहीं रहता कि उन्हें किन आदर्शों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना है। उनका चुनाव तो लोकतांत्रिक पद्धति से होता है। किंतु लोकतांत्रिक मूल्यों की वृद्धि में उनका योगदान सम्भव नहीं होता क्योंकि उनके चुनाव की जड़ें लोकतांत्रिक चेतना में नहीं होतीं। अतः या तो वे अपनी जाति या अपने धर्म के लिए कुछ करते हैं या पूर्ण अवसरवादी हो जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप प्रशासन-विधि भी दूषित हो जाती है, उसमें भी जातिवाद तथा धर्मवाद का प्रवेश हो जाता है। शायद ऐसे ही तत्त्वों को देखकर कहा जाता है कि भारत में लोकतन्त्र की जड़ें बहुत कमज़ोर हैं।

किन्तु भारतीय लोकतन्त्र की विशेषता है कि वह ऐसी परिस्थिति में भी जी सकता है। बहुत-से अन्य देशों में जब भी ऐसी स्थिति आयी है, सत्ता सेना के हाथ या किसी डिक्टेटर के हाथ चली गयी है। भारत में अभी तक ऐसा सम्भव नहीं हुआ है। इसके कारणों में एक विचित्र कारण भी है। यदि ध्यान से देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि भेद-भाव, धर्मवाद, जातिवाद, प्रांतवाद आदि जैसे तत्त्व, जो भारतीय लोकतन्त्र के लोकतांत्रिक रूप क दूषित कर रहे हैं, वही दूसरे ढंग से इसे जीवित रखने में सहायक हैं। यदि दोनों का भेद मूल्यों या आदर्शों के आधार पर होता तो या तो लोकतन्त्र ही किसी अन्य रूप में उभरता या स्थिति कुछ वैसी हो जाती जैसी अन्य देशों में देखी गयी है। भारत में ऐसा नहीं है क्योंकि यहाँ व्यक्ति या शासक को अपनी जाति या धर्म वाले से समर्थन भले ही मिले, किन्तु वैसा समर्थन कभी नहीं मिल पाता कि वह लोकतांत्रिक प्रणाली को तोड़ सत्ता अपने हाथ में ही ले सके। यदि एक ओर से किसी को सबल समर्थन मिलता है तो दूसरी ओर से—अन्य धर्म, जाति, प्रांत वालों की ओर से—उसका उतना ही सबल विरोध होता है। प्रांत-भेद, धर्म-भेद,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाति-भेद आदि के परिणामस्वरूप कोई सर्वथा शक्तिशाली नहीं हो पाता। अतः एक विचित्र तथ्य प्रकाश में आता है : एक दृष्टि से जो तत्त्व लोकतन्त्र के अनुरूप नहीं हैं वे ही तत्त्व अपने ढंग से लोकतन्त्र को जीवित रखने में सहायक हैं। भारतीय लोकतन्त्र की यह विशिष्टता है।

कहा जा सकता है कि इन सबका मूल कारण बस यही है कि अभी भी अस्सी प्रतिशत भारतीय अशिक्षित हैं। यह ठीक है कि लोकतन्त्र को चलाने वाला वर्ग शिक्षित वर्ग ही है, सामान्य भारतीय तो बस अनुसरण करता है। इस परिस्थिति में भारत में उस प्रकार का लोकतन्त्र आ ही नहीं सकता जिसकी अनुशंसा पाश्चात्य विचारक किया करते हैं। भविष्य में क्या होगा—यह अभी कहा नहीं जा सकता। अभी तो बस यही कहा जा सकता है कि भारत में अभी लोकतन्त्र अवश्य है, किंतु वह अपने ढंग का विशिष्ट भारतीय लोकतन्त्र है।

पटना विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अद्वैतवाद और आचार-दर्शन की सम्भावना

सागरमल जैन

आचार्य शंकर सत् को अद्वय, अविकारी और आध्यात्मिक मानते हैं। सत् के स्वरूप-सम्बन्धी इस अद्वैतवादी धारणा में आचार-दर्शन की क्या सम्भावना हो सकती है, यह विचारणीय है। यदि सत् भेदातीत है, यदि ब्रह्म अद्वय है, तो उसमें वैयक्तिक साधक की सत्ता ही नहीं बचती है। अद्वैतवाद में बन्धन और मुक्ति के प्रत्यय भी मात्र काल्पनिक रह जाते हैं। यदि ब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता ही नहीं है तो फिर न तो कोई बन्धन में आने वाला ही शेष रहता है और न कोई मुक्त होने वाला ही। यदि यह कहा जाय कि जीवात्मा बन्धन में आता है और वही अपनी ज्ञानात्मक साधना के द्वारा मुक्त होता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जीवात्मा भी तो ब्रह्म से अभिन्न ही है। इसका अर्थ तो यह होगा कि ब्रह्म ही बन्धन में आता है और ब्रह्म ही मुक्त होता है। किन्तु यह एक उपहासास्पद धारणा ही होगी। यदि यह कहा जाय कि जीव विवर्त है तो फिर जीव के सम्बन्ध में होने वाले बन्धन और मुक्ति भी विवर्त होंगे और बन्धन और मुक्ति के विवर्त होने पर सारी नैतिकता भी विवर्त होगी। ऐसी विवर्त-मूलक नैतिकता का क्या मूल्य होगा यह स्वयं अद्वैतवादियों के लिये भी विचारणीय है।

दूसरे, यदि उनके सिद्धान्त में विकार या परिवर्तन के लिये कोई स्थान नहीं है, यदि सत्ता विकार और परिवर्तन से रहित है, तो भी नैतिक पतन या विकास अथवा बन्धन और मुक्ति की धारणायें टिक नहीं पाती हैं। नैतिक पतन एवं विकास को परिवर्तन के अभाव में समझ पाना कठिन होगा।

तीसरे, यदि परम सत्ता मात्र आध्यात्मिक है तो फिर बन्धन कैसे होता है? बन्धन का कारण क्या है? वह स्वभाव तो नहीं है और बिना किसी अन्य कारण के विभाव की कल्पना असंगत है। दूसरे तत्त्व की सत्ता माने बिना विभाव या बन्धन की समीचीन व्याख्या दे पाना कठिन है।

स्वयं अद्वैतवाद को भी अनेकता और बन्धन के कारण की व्याख्या के लिए माया के प्रत्यय को स्वीकार करना पड़ा है। परमतत्त्व के समानान्तर अनादि और अनिर्वचनीय माया की धारणा कठोर एकत्ववादी निष्ठा के प्रतिकूल है। बन्धन का कारणभूत माया असत् तो नहीं मानी जा सकती क्योंकि जो असत् है वह कारण नहीं हो सकता। पुनः, असत् या मिथ्या कारण का कार्य भी असत् होगा और ऐसी स्थिति में बन्धन भी असत् या मिथ्या होगा। स्वयं आचार्य शंकरे ने भी माया को असत् नहीं माना है।[1] किन्तु यदि उसे असत् नहीं माना जायेगा तो सत् मानना होगा और माया को सत् मानने पर स्वयं अद्वैतवाद खण्डित हो जायेगा। पुनः, यदि माया अनिर्वचनीय है तो उसे असत् या अभाव भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

१. विवेक चूडामणि, माया-निरूपण

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं माना जा सकता है। यदि वह भावात्मक सत्ता है तो फिर ब्रह्म के समक्ष एक दूसरी सत्ता खड़ी हो जायेगी और अद्वैतवाद टिक नहीं पायेगा। यदि माया को स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानकर ब्रह्म के आश्रित माना जायेगा तो आश्रयानुपपत्ति का आक्षेप लागू होगा। शंकर का अद्वैतवाद चाहे तार्किक दृष्टि से सबल हो किन्तु नैतिकता की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत करने में तो निर्बल पड़ ही जाता है।

अनेक पाश्चात्य चिन्तकों ने भी इस अद्वैतवादी मत की धारणा में आचार-दर्शन की सम्भावना के प्रति शंका प्रकट की है। मैक्समूलर ने शंकर के वेदान्त को कठोर एकत्ववाद की संज्ञा देकर उसमें आचार-दर्शन की सम्भावना को अस्वीकार किया है। डा० अर्कहार्ट ने अपने शोध-ग्रन्थ "सर्वेश्वरवाद और जीवन-मूल्य" में लिखा है कि "ब्रह्म निर्गुण और भेदातीत है अतः शुभाशुभ-भेद से परे है और शुभाशुभ-भेद का निराकरण आचारशास्त्र के आधार को ही उन्मूलित कर देता है। वेदान्त में व्यक्तित्व को भी मिथ्या माना गया है। शुभाशुभ भेद का निराकरण नैतिक निर्णय को असम्भव बना देता है और उसके साथ ही व्यक्ति की वास्तविकता का निषेध नैतिक निर्णय को अनावश्यक भी बना देता है।"[२] कठोर अद्वैतवाद के दर्शन की नैतिक अक्षमता का चित्रण करते हुए जैनाचार्य समन्तभद्र आप्त मीमांसा में लिखते हैं कि "एकान्त अद्वैतवाद की धारणा में शुभाशुभ आदि कर्म-भेद, सुख दुःखादि फल-भेद, स्वर्ग-नर्क आदि लोक-भेद सम्यक्ज्ञान-मिथ्याज्ञान आदि ज्ञान-भेद तथा बन्धन और मुक्ति का भेद नहीं रहता है।"[३] अतः ऐसा सिद्धान्त नैतिक दृष्टि से सक्षम नहीं हो सकता है। नैतिकता के लिए तो द्वैत, अनेकता अनावश्यक है। आदरणीय डा० नथमल टाटिया लिखते हैं कि "एकान्त अद्वैतवादी धारणा को स्वीकार करने का अर्थ यह होगा कि समाज, वातावरण, परलोक तथा नैतिक और धार्मिक नियमों की पूर्ण समाप्ति। लेकिन ऐसा दर्शन, जो समस्त सामाजिक, नैतिक और धार्मिक जीवन एवं तत्सम्बन्धी संस्थाओं को परिसमाप्त कर देता हो, मानव-जाति के लिए उपादेय नहीं कहा जा सकता।"[४]

अद्वैतवाद में आचार-दर्शन की सम्भावना सिद्ध करने के लिये डा० रामानन्द तिवारी ने भी अपने शोध प्रबन्ध 'शंकराचार्य का आचार-दर्शन' में एकत्ववादी, सर्वेश्वरवादी एवं मायावादी विचार-प्रणाली का निरसन कर शंकर-दर्शन में भी जीव एवं जगत् की सत्ता को स्वीकार किया है। वे लिखते हैं "जीवन और जगत् दोनों अत्यन्त विविक्त सत्तायें हैं, चाहे वे ब्रह्म से पृथक् कल्पनीय न हों। मायावाद का प्रसिद्ध सिद्धान्त जगत् की सत्ता के प्रसंग में नितान्त असंगत है। जीवन की सत्ता वेदान्त का मूलाधार है। मोक्षावस्था में जीवतत्त्व और व्यक्तित्व के अक्षुण्ण रहने की सम्भावनाओं के साथ वेदान्त में आचार-दर्शन की सम्भावना भी अवगम्य हो जाती है।"[५]

२. उद्धृत–शंकराचार्य का आचार दर्शन, पृ० १६–१७
३. आप्त मीमांसा २५
४. Studies in Jain Philosophy, P. 178.
५. शंकराचार्य का आचार-दर्शन, पृ० १६–१७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार-दर्शन की सम्भावना के लिये सत्-सम्बन्धी कठोर अद्वैतवाद एवं अविकार्यता के सिद्धान्त छोड़ना आवश्यक-सा हो जाता है। डा० रामानन्द ने आचार्य शंकर के दर्शन में आचार-दर्शन की सम्भावना को सिद्ध करने के प्रयास में उसे जिस स्तर पर लाकर खड़ा किया है, वहाँ शंकर सत् की कठोर अद्वैतवादी धारणा से दूर हटकर अभेदाश्रित भेद की धारणा पर आ जाते हैं और शंकर एवं रामानुज में कोई विशेष दूरी नहीं रह जाती है। स्वयं डा० रामानन्द भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि रामानुज और शंकर में वह दूरी नहीं है जैसी परवर्ती शंकरानुयायियों ने बतायी है। अस्तु।

अद्वैतवाद में आचार-दर्शन सम्भावना तो तब समाप्त हो जाती है जब हर स्तर पर ही अभेद माना जाये। लेकिन अद्वैत के प्रस्तोता आचार्य शंकर भी हर स्तर पर अभेद की धारणा को स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं कि भेद असत् है लेकिन भेद या अनेकता के असत् होने का अर्थ यह नहीं है कि वह प्रतीति का विषय नहीं है यद्यपि यह समस्या है कि असत् अनेकता कैसे प्रतीति का विषय बन जाती है। लेकिन यहाँ इस चर्चा की गहराई में जाना इष्ट नहीं है। अद्वैतवाद यह मान कर चलता है कि प्रतीति की दृष्टि से न केवल वस्तुगत अनेकता है वरन् व्यक्तिगत अनेकता भी है, और प्रतीति के क्षेत्र में इस भेद तथा अनेकता के कारण बन्धन और मुक्ति एवं नैतिकता और धर्म की सम्भावनाएँ भी हैं। इस प्रकार अद्वैतवादी भी केवल पारमार्थिक स्तर पर ही अभेद का मानते हैं। व्यावहारिक स्तर पर तो उन्हें भी भेद स्वीकार है। व्यावहारिक स्तर पर जब भेद स्वीकार कर लिया जाता है तो आचार-दर्शन की सम्भावना अवगम्य हो जाती है। मेरी अपनी दृष्टि में शंकर जब तक पारमार्थिक स्तर पर अभेद और अद्वयता और व्यावहारिक स्तर पर भेद और अनेकता को स्वीकार करते हैं तब तक वे कोई गलती नहीं करते। स्वयं जैन एवं बौद्ध विचारक भी पारमार्थिक स्तर पर अभेद एवं व्यावहारिक स्तर पर भेद की संकल्पना को स्वीकार करते हैं।

इस आधार पर भी अद्वैतवाद की आलोचना करना उचित नहीं होगा कि अद्वैतवाद में नैतिक दर्शन की अवगम्यता व्यावहारिक स्तर तक होती है। स्वयं जैन एवं बौद्ध विचारणाओं में भी नैतिकता की अवधारणा व्यावहारिक स्तर पर ही सम्भव है।

अद्वैतवादी दर्शन की मूल-भूत कमजोरी :

पारमार्थिक दृष्टि से अभेद को ही सत्य और व्यवहार के भेद को मिथ्या कहकर भी शंकर कोई ग़लती नहीं करते हैं। परमार्थ की दृष्टि से व्यवहार मिथ्या है यह ठीक है; लेकिन उससे आगे बढ़कर हमें यह भी मानना पड़ेगा कि व्यवहार की अपेक्षा से अभेद भी मिथ्या होगा, क्योंकि वस्तु-तत्त्व स्वापेक्षा से सत्य होता है किन्तु पारपेक्षा से मिथ्या होता है। जिस प्रकार परमार्थ की अपेक्षा से अभेद सत्य है और भेद मिथ्या है उसी प्रकार व्यवहार की अपेक्षा से भेद सत्य और अभेद मिथ्या होंगे। शंकर आधी दूर आकर रुक जाते हैं। वे आगे बढ़कर व्यवहार की अपेक्षा से अभेद को मिथ्या कहने का साहस क्यों नहीं करते? जब परमार्थ की अपेक्षा व्यवहार को असत् कहा जाता है तो हमें यह ध्यान में रखना होगा कि यहाँ उसके असत् का प्रतिपादन परमार्थ की अपेक्षा विशेष से ही है, एक अपेक्षा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के द्वारा दूसरी अपेक्षाओं का समग्र निषेध तो कभी भी नहीं हो सकता। किसी तीसरी अपेक्षा से दोनों ही यथार्थ हो सकते हैं। यदि हम कहें कि राम दशरथ की अपेक्षा से पुत्र है और पिता नहीं है, तो इसमें उनके पितृत्व का समग्र निषेध नहीं होता है। लव और कुश की अपेक्षा से वे पिता हो सकते हैं। अद्वैतवादी ग़लती यह करते हैं कि वे परमार्थ की अपेक्षा से व्यवहार का पूर्ण निषेध मान लेते हैं। जिस प्रकार दशरथ की अपेक्षा से राम का पितृत्व मिथ्या है और पुत्रत्व सत्य है और लव-कुश की अपेक्षा से राम का पुत्रत्व मिथ्या है और पितृत्व सत्य है लेकिन स्वयं राम की अपेक्षा से न पितृत्व मिथ्या है न पुत्रत्व मिथ्या है वरन् दोनों ही यथार्थ हैं, उसी प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से भेद मिथ्या है और अभेद सत्य है, व्यावहारिक दृष्टि से भेद सत्य और अभेद मिथ्या है लेकिन परमतत्त्व की अपेक्षा से न तो अभेद मिथ्या है और न भेद मिथ्या है अपितु दोनों ही सत्य हैं। कठोर अद्वैतवादी विचारक यह भूल जाते हैं कि भेद और अभेद तो परमतत्त्व के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ हैं, वे स्व अपेक्षा से सत्य और पर अपेक्षा से मिथ्या होते हुए भी परम तत्त्व की अपेक्षा से दोनों ही सत्य हो सकती हैं। अद्वैतवादी दर्शन का मानदण्ड लेकर नापने वाले मनीषि डा० राधाकृष्णन् ने अनेकांतवादी यथार्थवाद को बीच मार्ग में पड़ाव जैसा कहा है।[६] जबकि वास्तविकता यह है कि अद्वैतवादी दर्शन केवल पारमार्थिक या तत्त्व दृष्टि से भेद का निषेध कर स्वयं बीच मार्ग में पड़ाव डाल देता है। वह आगे बढ़कर यह क्यों नहीं कहता है कि व्यावहारिक दृष्टि से अभेद भी मिथ्या है। इससे भी आगे बढ़कर वह यह क्यों नहीं स्वीकार करता है कि परम तत्त्व की अपेक्षा से भेद और अभेद दोनों ही सत्य हैं। पारमार्थिक और व्यावहारिक दृष्टियाँ सत् के सम्बन्ध में क्रमशः अभेदगामी और भेदगामी दृष्टियाँ हैं, उनमें से कोई भी असत्य नहीं है, दोनों ही अपनी-अपनी अपेक्षा से सत्य हैं। व्यावहारिक भेद भी उतना ही यथार्थ है जितना पारमार्थिक अभेद। दोनों में कोई तुलना नहीं हो सकती है, दो भिन्न-भिन्न स्थितियों से खींचे गये वस्तु के दो चित्रों में कोई भी मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। सत् का भेदवादी दृष्टिकोण भी उतना ही यथार्थ है जितना सत् का अभेदवादी दृष्टिकोण। क्योंकि दोनों सत्ता के ही दो पक्ष हैं। यदि अद्वैतवाद पारमार्थिक और व्यावहारिक ऐसी दो सत्ताएँ खड़ी करता है तो स्वयं अपने सिद्धान्त से पीछे हट जाता है और यदि परमार्थ और व्यवहार दोनों को वास्तविक मानता है तो उसका अद्वैत खण्डित हो जाता है, और यदि व्यवहार को मिथ्या कहता है तो आनुभविक जगत् की यथार्थता और आचार-दर्शन की सम्भावना निरस्त हो जाती है। कुमारिल ने भी शंकर के दर्शन में यही दोष दिखाया है। वस्तुतः परमार्थ और व्यवहार सत् के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ हैं, दोनों सत्ता के दो पहलू हैं और दोनों ही यथार्थ हैं।

हमारा अद्वैतवाद से न तो इसलिए कोई विवाद है कि वह पारमार्थिक दृष्टि से अभेद को मानता है, क्योंकि तत्त्व दृष्टि से अभेद को तो सभी ने स्वीकार किया है, और न इसलिए कोई विरोध है कि वह व्यावहारिक स्तर पर नैतिकता की धारणा को स्वीकार करता है, क्योंकि यह दृष्टिकोण जैन, बौद्ध आदि लगभग सभी प्रमुख दर्शनों को भी मान्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

६. भारतीय दर्शन, खण्ड १, पृष्ठ ३११.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा अगर अद्वैतवाद से कोई विरोध है तो वह मात्र यही कि अद्वैत व्यवहार को क्यों मिथ्या मानता है ? अद्वैत के इस दृष्टिकोण के प्रति हमारी आपेक्षा यह है कि असत् व्यवहार से सत् परमार्थ को कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? असत् नैतिकता सत् परम तत्त्व का साक्षात्कार नहीं करा सकती। असत् व्यावहारिक नैतिकता और सत् पारमार्थिक परम तत्त्व में कोई सम्बन्ध ही नहीं बन पाता, क्योंकि उनमें एक असत् और दूसरा सत् है। जब हम व्यवहार और परमार्थ को सत् सम्बन्धी दो दृष्टियाँ मानते हैं तो वे परस्पर सम्बन्धित हो जाती हैं लेकिन जब उनमें से परमार्थ को सत्ता और व्यवहार को दृष्टि मानते हैं तो वे परस्पर विरोधी एवं असम्बन्धित हो जाती हैं। सत् से ही सत् पाया जा सकता है असत् से सत् नहीं पाया जा सकता। लेकिन यदि विचारपूर्वक देखें तो अद्वैतवाद भी व्यवहार को असत् कहने का साहस नहीं कर सकता क्योंकि उसकी व्यावहारिक सत्ता की धारणा माया पर अवलम्बित है और यदि माया असत् नहीं है तो व्यावहारिक स्तर पर होने वाले भेद एवं परिवर्तन भी असत् नहीं कहे जा सकते। भेद भी उतना ही सत्य है, जितना अभेद और ऐसी स्थिति में शंकर के अद्वैतवाद में आचार-दर्शन की सम्भावना स्पष्ट हो जाती है।

हमीदिया महाविद्यालय,
भोपाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौद्ध परिप्रेक्ष्य में व्यक्तित्व की इदंता

केवलकृष्ण मित्तल

अन्य भारतीय दर्शन-प्रस्थानों की ही भाँति बौद्ध दर्शन भी संसार को अनादि मानता है। उस मान्यता के अनुरूप एक 'व्यक्तित्व' जन्म, शैशव, यौवन, वृद्धावस्था, मृत्यु एवं तदुपरान्त पुनर्जन्म और फिर उसी प्रकार के क्रम से संसरण करता हुआ निर्वाण अथवा मुक्ति की प्राप्ति तक आवागमन के चक्र में घूमता रहता है। इस मान्यता के अन्तर्गत ही हम उन जातक कथाओं को समझ सकते हैं जिनमें भगवान बुद्ध द्वारा शाक्य मुनि के रूप में सम्यक् सम्बोधी द्वारा निर्वाणोपलब्धि से पहले विभिन्न पशु-पक्षी एवं मानव शरीरधारी-जन्तुओं की भूमिकाओं में बार-बार जन्म लेने का वर्णन है। यदि स्वयं बुद्ध ने अपने आपको उनमें से प्रत्येक कथा का नायक न बताया होता तो इन कथाओं को चतुर भिक्षुओं द्वारा श्रद्धावन्तों को शिक्षा देने के लिये कल्पित गल्प साहित्य ही माना जाता। यदि हम केवल श्रद्धा एवं विश्वास के सहारे ही उन कहानियों को बिना विचार किये ही मान लें तो बात दूसरी है अन्यथा तो हमें जातक कथाओं के उस नायक के व्यक्तित्व की इदंन्ता का प्रश्न उठाना ही पड़ेगा जो कभी गीध, कभी राजकुमार, कभी मर्कट, कभी राजा अथवा राजा का विद्वान मन्त्री, कभी कबूतर, कभी व्यापारी, कभी मृग, कभी सन्यासी अथवा भिक्षुक आदि के रूप में प्रकट होता है। वह व्यक्तित्व जो इन अनेक जन्म-जन्मान्तरों में से होता हुआ संसरण करता है उसे 'वही अस्तित्व' संभवतः तभी माना जा सकता है जब हम समस्त परिवर्तनों (गतिशीलता) को आभास मात्र अथवा नित्य, अजर, अमर एवं अविनाशी आत्मा पर माया रूपी अध्यास ही मानें। किन्तु इस प्रकार से किया गया समस्या का सुलझाव तो बौद्धमत में कदापि स्वीकार्य हो ही नहीं सकता, क्योंकि गतिशीलता अथवा 'अनित्यता' का ही नहीं अपितु नैरात्म्य का सिद्धान्त भी बौद्ध दर्शन के मुख्य मन्तव्यों में से एक है। बौद्ध दर्शन के अनुसार कोई भी ऐसी चीज़ अथवा व्यक्तित्व नहीं है जो कि क्षण मात्र के लिये भी एक-सा रहता हो (क्षण भंगवाद)। अतः जातक कथाओं को सीधे सादे रूप में एक ही आत्मा द्वारा अनेक शरीर धारण करने की विधि से नहीं समझा जा सकता। विवर्तवाद की अपेक्षा परिणामवादी दृष्टिकोण भी यहां कुछ विशेष सहायता नहीं करता क्योंकि विभिन्न जन्मों में व्यक्तित्व के लक्षणों का वैषम्य कुछ इस प्रकार का है कि किन्हीं भी दो में अथवा पूरी लड़ी की कड़ियों में किसी भी प्रकार की क्रमबद्धता का एकदम अभाव है। स्थिति वैष्णव अवतारवाद की कल्पना से नितान्त भिन्न है जिसके अन्तर्गत मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह एवं वामन के पश्चात् ही पूरे मानव-शरीर में विष्णु की अवतारणा को देखते हुए एक सुप्रसिद्ध जीव-वैज्ञानिक जे. बी. एस. हाल्डेन ने उस कल्पना में विकासवाद का उदाहरण देखा है। जातक कथाओं के सन्दर्भ में व्यक्तित्व की इदन्ता का प्रश्न न उठता यदि ऐसा मान लिया जाता कि प्रत्येक कहानी का नायक नितान्त भिन्न है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा उन कथाओं में वर्णित एक ही व्यक्तित्व के भिन्न रूपों अथवा व्यक्तित्वों में तनिक मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। बौद्ध मत की धारणा है कि प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त के अनुरूप जातक कथाओं में एक तारतम्य है जिसके अनुसार एक कथा के नायक का निश्चित सम्बन्ध दूसरी कथा के नायक से है। कठिनाई यह है कि प्रतीत्यसमुत्पाद को भी वस्तुओं अथवा व्यक्तियों की 'अस्मिता' तथा 'इदन्ता' के माध्यम से ही समझा जा सकता है। अतः यदि हम उस सिद्धान्त का सहारा लेते भी हैं तो हमारी समस्या सुलझती नहीं है। ऐसा क्योंकर होता है, इसकी चर्चा को स्थगित रखकर पहले हम व्यक्तित्व की इदन्ता की समस्या की व्यापकता के विषय में तनिक विचार करें तो हमें लगेगा कि २५०० वर्ष पूर्व की कल्पित अथवा तथ्यपूर्ण घटनाओं—जातक कथाओं—के सन्दर्भ में ही नहीं अपितु हमारे आज के दैनंदिन जीवन की गतिविधि में भी व्यक्तित्व की इदन्ता की समस्या ज्यों की त्यों विद्यमान है।

हम किसी भी समय किसी 'व्यक्ति' को बदलता हुआ किन्तु 'अमुक' करके जानते और कुछ समय पश्चात् बदला हुआ किन्तु 'वही' करके पहचानते हैं। एक व्यक्ति, जिससे हमारी शिशु के रूप में जानकारी है, उसे हम उगती मूँछ-दाढ़ी वाला युवक अथवा सुन्दर-सुघड़-सजीली-शर्मीली युवती के रूप में 'वही' करके पहचानते हैं। एक सजीला गठीला नवयुवक समय पाकर एक झुर्रियों वाला बलहीन वृद्ध करके जाना जाता है। विद्यार्थी एवं अध्यापक नित्य-प्रति कक्षाओं में एक-दूसरों को जानने और पहचानने में ग़लती नहीं करते। कुछ व्यक्ति, जिन्हें मैंने परिषद् के पहले अधिवेशनों में जाना था— मेरे द्वारा इस अधिवेशन में पहचाने गये हैं और ऐसा ही उन्हें मेरे विषय में लग रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं, जबकि इस सारे समय में न केवल वे बदले हैं अपितु मैं भी एक प्रकार से वैसे का वैसा नहीं रहा। यह स्थिति व्यक्तित्व की इदन्ता का प्रश्न उत्पन्न करती है और यह समस्या और भी उग्र रूप में प्रस्तुत होती है जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि एक ही व्यक्ति को एक ही समय पर बहुत-से अन्य व्यक्ति अपने-अपने विशिष्ट ढंग से जानते-पहचानते हैं। यदि किसी के लिए वह एक मस्तमौला प्रकार का चिन्तामुक्त, स्वच्छंद युवक (अथवा युवती) है तो किसी अन्य के लिए चिन्तनशील एवं गम्भीर प्रकृतिवाला समझदार व्यक्ति। यदि वह किसी को दयालु एवं प्रेमपूर्ण हृदय वाला व्यक्ति प्रतीत होता है तो किसी अन्य को एक ऐसी प्रस्तर मूर्ति जिसका हृदय दया एवं प्रेम जैसे सद्गुणों से नितान्त अनभिज्ञ है। उसमें वे सभी तत्त्व विद्यमान हैं जो उसे किसी एक की दया एवं सुहृदता का तथा किसी अन्य की घृणा एवं वैरभाव का पात्र अथवा भाजन बनाते हैं। किसी कपोल-कल्पित स्थिति से भी बढ़कर जो आश्चर्यजनक तथ्य है तो यह है कि कोई भी व्यक्ति विभिन्न गुण-लक्षणों का समूह (पुद्गल) मात्र है और कोई भी ऐसी एकरस इकाई नहीं है जिसे उसके अस्तित्व का एकान्त मूलाधार कहा जा सके। बौद्ध जब पुद्गल-नैरात्म्य की चर्चा करते हुए आत्मा की उपमा उस परम सुन्दरी से देते हैं जो साम्राज्ञी होकर हवाई किले में रहती है किन्तु है बन्ध्या दुहित्री तो वे इसी प्रकार की स्थिति का द्योतन करते हैं। हाँ, बौद्धों को भी यह तो मानना ही पड़ता है कि संसार रूपी रंगमंच पर एक व्यक्ति एकमात्र अथवा क्षण-क्षण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बदलने वाले एक के पश्चात् दूसरे इतने अभिनय करता है कि हम ठगे-से रह जाते हैं और सोच नहीं पाते कि उसे एक ही (व्यक्ति) अभिनेता मानें अथवा उतने ही जितने रूप दिखायी पड़ते हैं।

हम किसी भी व्यक्ति को जानने-पहचानने में सहारा लेते हैं उसके बाह्य आकार-प्रकार (रूप) का; उसकी आन्तरिक सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष रूपी अनुभव-भावना (वेदना) का; उसके समझने-बूझने के ढंग अर्थात् दृष्टिकोण (संज्ञा) का; उसके विचारों अर्थात् विचार-धारा (विज्ञान) का एवं उसकी विभिन्न प्रभावों को आत्मसात् करने की क्षमता, द्रवण-शीलता अथवा अद्रवणशीलता (संस्कार) आदि का। 'रूप' के आधार पर हम किसी को सुन्दर, असुन्दर, मोटा-पतला, गोरा-काला, गेहुएं रंग का, काले लम्बे घने केशों वाला अथवा श्वेत रंग के, असघन केशों वाला अथवा गंजा, निखरा-सँवरा, सज-धज वाला अथवा मैला-कुचैला एवं प्रसाधन-हीन मुखाकृति वाला, चुस्त अथवा ढीली, झीनी अथवा झरोखों वाली पोशाक पहने हुए आदि करके जानते हैं। भावना अथवा अनुभव (वेदना) के आधार पर हम किसी व्यक्ति को कामुक अथवा कामोत्तेजना रहित, क्रोधी अथवा अक्रोधी, मोही अथवा निर्मोही, लोभी अथवा अलोभी, अहंकार पूर्ण अथवा नम्र स्वभाव वाला आदि जान-समझ सकते हैं। दृष्टिकोण अर्थात् 'संज्ञा' की दृष्टि से किसी नारी अथवा पुरुष को आशावादी अथवा निराशावादी, उदार अथवा अनुदार आदि व्यक्तित्व करके आंका जा सकता है। विचारों अर्थात् 'विज्ञान' के बल पर किसी भी व्यक्ति को भौतिकवादी अथवा अध्यात्मवादी, उदारवादी अथवा पुराणपंथी, प्रगतिवादी अथवा प्रतिक्रियावादी, नास्तिक अथवा आस्तिक, यथार्थवादी अथवा प्रत्ययवादी आदि रूपों में जाना-समझा जा सकता है। कर्म-प्रभाव, अर्थात् 'संस्कार' के आधार पर किसी को मृदुल स्वभाव वाला अथवा कठोर प्रकृति, हृदय-हारी अथवा निष्ठुर, चिड़चिड़ापन लिये हुए अथवा सहनशील, स्वार्थी अथवा परोपकारी आदि समझा जा सकता है।

यह तो स्पष्ट ही है कि व्यक्तित्व के आधार रूप, वेदना, संज्ञा, विज्ञान एवं संस्कार—इन पाँचों स्कन्धों में से किसी को भी नित्य, एकरस एवं द्रव्यात्मक इकाई के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। वस्तुतः उनमें से प्रत्येक उन अनेक धर्मों (गुण-लक्षणों) का समूह मात्र है जिनमें से किसी को भी निश्चित, नित्य, आत्मस्थ एवं आत्म-व्याख्यात नहीं कहा जा सकता। इसीलिए बौद्ध-काल में पुद्गल-नैरात्म्य ही नहीं अपितु धर्म-नैरात्म्य की भी स्थापना की जाती है। धर्म अथवा गुण-लक्षण अपने अस्तित्व के लिए एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं (प्रतीत्य-समुत्पाद) किंतु ऐसा तय करना कि किस गुण-लक्षण ने किसको और किस मात्रा तक उत्पन्न किया है, किसी भी प्रकार सरल नहीं है। प्रायः ऐसी अपेक्षा रहती है कि एक व्यक्ति, जिसका शरीर सुघड़ एवं सुन्दर है, उसमें अभिमान की भावना होगी और जिसके शरीर की बनावट त्रुटिपूर्ण है उसमें एक प्रकार की हीन भावना जनित नम्रता होगी। किन्तु वास्तविक जीवन में स्थिति कुछ इसके विपरीत ही है। उदाहरण के लिए अष्टावक्र शारीरिक दुर्गुणों को मानसिक उत्कृष्टता से ढँककर गर्व के साथ राजा जनक की सभा में उनके वक्र शरीर पर हँसने वालों को 'नर्मकर' कहकर प्रताड़ना कर सके। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार की अनेक घटनाएँ हैं जो हमें दैनंदिन जीवन में चकित करती रहती हैं; जैसे सुन्दर नारियों का भौंडे पुरुषों के साथ भाग जाना और चोरों-डाकुओं द्वारा कुछ ऐसे दयापूर्ण मानवीय कृत्य जोकि समाज-सेवियों को भी लजा दें, आदि।

जीवन की गतिविधि के सामाजिक पक्ष को छोड़कर यदि हम बौद्ध सिद्धांत प्रतीत्य-समुत्पाद का विश्लेषण करें तो भी हमारी समस्या कुछ विशेष रूप से नहीं सुलझती क्योंकि यह सिद्धांत व्यक्तित्व के गुणों की सम्बन्ध-संरचना को ऊपरी रूप से ही छूता लगता है। आंतरिक एवं सूक्ष्म स्तर पर इसके द्वारा निर्दिष्ट सम्बन्ध को समझना अत्यन्त कठिन है। इस सिद्धांत की मूल प्रतिज्ञ है : 'अस्मिन् सति इदम् भवति'। हमारी दृष्टि से महत्त्व है : 'अस्मिन्' एवं 'इदं' की व्याख्या का। बौद्ध-दर्शन के अनुसार इन्हें काल-यापी वस्तुएँ ही नहीं क्षणिक सत्ता के उदाहरण भी— जैसा कि श्चर्बात्स्की सरीखे कुछ विद्वानों का मत है— नहीं माना जा सकता। 'अस्मिन्' एवं 'इदं'—जिन्हें कुछ तार्किक केवलमात्र विशिष्ट संज्ञाएँ ही मानते हैं—वस्तुतः संज्ञावाचक न होकर ऐसे सर्वनाम हैं जो, अधिक से अधिक, एक चलायमान दृश्य की चलचित्रक अभिव्यक्ति की अचल फिल्मों की भाँति सत्ता का प्रतिनिधित्व मात्र करते हैं, उसका प्रस्तुतीकरण नहीं। वे वस्तुरूपी इकाइयाँ न होकर चलायमान प्रक्रिया के विश्लेषित शक्ति-अंश (वैक्टर्ज़) हैं जो सभी अस्तित्वों (सर्वास्ति) का, गतिशील चित्त की अवस्थाओं (विज्ञान-सन्तानों) का अथवा ऐसी 'शून्य' स्थितियों का द्योतन करते हैं जिन्हें 'है', 'नहीं है', 'दोनों ही' और 'कोई भी नहीं' किसी भी कोटि में वर्णन नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में गुण-लक्षणों की प्रतीत्य-समुत्पन्नता के आधार पर भी व्यक्तित्व की इंदता का निर्णय असंभव जैसा ही लगता है।

बौद्ध तार्किकों ने कल्पनापोढ़ प्रत्यक्ष के रूप में 'स्वलक्षण' एवं 'अनुमान' के विषय के रूप में 'कल्पना' में भेद किया है। व्यक्तित्व तथा वे सभी गुण-धर्म जिनका सहारा हम उसकी इदंता को समझने में लेते हैं, कल्पना के अन्तर्गत आते हैं। हमारे समस्त साधारण अनुभव कल्पना-मिश्रित रहते हैं जिनमें से कल्पना-रूपी अन्य को निकाले (अपोह) बिना हम अनुभव के वस्तु-पक्ष को ज्ञान-समझ नहीं सकते और यदि हम उस स्वलक्षण वस्तुपक्ष में व्यक्तित्व की इदंता खोजें तो कठिनाई यह होगी कि वे बोधगम्य अथवा अनुभवपरक तो होंगे किंतु होंगे साथ में ही 'अन-अभिलाप्य' भी। कल्पनापोढ़ प्रत्यक्ष का विषय अनिर्वचनीय है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि बौद्ध परिप्रेक्ष्य में व्यक्तित्व की इदन्ता का निश्चित निर्णय करने में हम असमर्थ हैं। किन्तु हमारी इस असमर्थता का यह अर्थ नहीं कि हम जीवन के साधारण आदान-प्रदान में एक-दूसरे को जान-पहचान नहीं सकते। इसी बात को ध्यान में रखते हुए बौद्ध मत में व्यक्तित्व को संवृति सत् के अन्तर्गत रखा गया है। अतः उसे जरामरण-ग्रस्त माना जाता है और इस प्रकार जाति, भव, उपादान, तृष्णा, वेदना, स्पर्श, षडायतन, नामरूप, विज्ञान, संस्कार एवं अविद्या-सहित द्वादश-निदान रूप कार्य-कारण-शृंखला की एक कड़ी के रूप में ही ग्रहण किया जाता है। व्यक्तित्व अविद्या की ही उत्पत्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, 'प्रज्ञा' का प्रतिफलन नहीं। परमार्थ सत् अर्थात् निर्वाण अवर्णनीय पद अथवा स्थिति है जहाँ अविद्या-जनित जरामरण-स्वरूप व्यक्तित्व का लेश मात्र भी शेष नहीं रहता। संवृति का अर्थ है ढँकाव, छुपाव अथवा छद्मवेष और व्यक्तित्व का अर्थ है मुखौटा। कोई भी मुखौटा तब तक काम देता है जब तक उसको उलट-पुलट कर, उघाड़कर जाँचा नहीं जाय। जब हम व्यक्तित्व की इदंता का प्रश्न उठाकर उसका परीक्षण करते हैं तो अनित्यता एवं अनात्म ही सम्मुख आते हैं। बौद्ध मत में 'होने' का अर्थ है 'दुःख' और दुःख एक क्रिया है। क्रियात्मक जगत् में अर्थक्रियाकारी व्यक्तित्व ही की सत्ता कही जा सकती है और उसकी इदंता व्यावहारिक स्तर पर ही मानी जा सकती है।

दिल्ली विश्वविद्यालय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक आंग्ल दर्शन में नैतिक अंतःप्रज्ञावाद

वेदप्रकाश वर्मा

१. प्रारम्भिक

वर्तमान शताब्दी में विकसित अधिनीतिशास्त्र का मुख्य उद्देश्य नैतिक निर्णयों के अर्थ, स्वरूप तथा युक्तता का ठीक-ठीक विश्लेषण करना ही माना जाता है। इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए आधुनिक नीतिशास्त्रियों ने दो भिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जिन्हें 'वर्णनात्मक सिद्धान्त' और 'अवर्णनात्मक सिद्धान्त' की संज्ञा दी जाती है। प्रथम सिद्धान्त के समर्थकों के मतानुसार नैतिक निर्णय कुछ विशेष तथ्यों का वर्णन मात्र करते हैं, अतः वे मूलतः तथ्यात्मक निर्णयों के समान ही होते हैं। इसके विपरीत द्वितीय सिद्धान्त के प्रणेताओं का विचार है कि मुख्यतः हमारी भावनाओं अथवा अभिवृत्तियों को अभिव्यक्त करने के कारण नैतिक निर्णय तथ्यात्मक निर्णयों से मूलतः भिन्न होते हैं। वर्णनात्मक सिद्धान्त के दो प्रमुख भेद हैं— एक प्रकृतिवाद और दूसरा अंतःप्रज्ञावाद। प्रकृतिवादियों के अनुसार नैतिक निर्णय कुछ अनुभवमूलक प्राकृतिक गुणों का वर्णन करते हैं। उदाहरणार्थ 'यह शुभ या उचित है' इस नैतिक निर्णय का अर्थ है 'यह सुखद अथवा रुचिकर है'। इस प्रकार प्रकृतिवादी नैतिक निर्णयों को मनोवैज्ञानिक अथवा समाजशास्त्रीय निर्णयों से मूलतः भिन्न नहीं मानते। सभी विकासवादी, सुखवादी तथा उपयोगितावादी विचारक किसी न किसी रूप में इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। इसके विपरीत अंतःप्रज्ञावादियों का मत है कि नैतिक निर्णय प्राकृतिक गुणों का वर्णन नहीं करते, अतः उनकी व्याख्या किसी प्रकार के प्राकृतिक निर्णयों के आधार पर नहीं की जा सकती। प्रकृतिवादियों के मत का खण्डन करते हुए अंतःप्रज्ञावादी नैतिक निर्णयों को 'अनुपम' अथवा 'अद्वितीय' मानते हैं। उनका विचार है कि ये निर्णय कुछ ऐसे अ-प्राकृतिक गुणों अथवा सम्बन्धों की ओर संकेत करते हैं जिनका ज्ञान हमें केवल अंतःप्रज्ञा द्वारा ही प्राप्त होता है। इसी कारण इन विचारकों के सिद्धान्त को 'अ-प्रकृतिवाद' अथवा 'अंतःप्रज्ञावाद' की संज्ञा दी गई है।

वैसे तो पाश्चात्य नैतिक दर्शन में अंतःप्रज्ञावाद का उदय सत्रहवीं तथा अट्ठारहवीं शताब्दियों में ही हो चुका था। उस समय रैल्फ कडवर्थ, सैम्युअल क्लार्क, रिचर्ड प्राइस आदि अनेक दार्शनिकों ने इसी सिद्धान्त के आधार पर नैतिक निर्णयों के स्वरूप की व्याख्या की थी। इन सभी दार्शनिकों का यह विचार था कि हमें अपनी विशेष इन्द्रिय-अंत प्रज्ञा—द्वारा ही शुभ-अशुभ तथा उचित-अनुचित का अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है। अनुभव एवं तर्क का आधार लिये बिना ही हम अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा अपरोक्षतः यह जान लेते हैं कि किस परिस्थिति में हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। हम आगे देखेंगे कि अंतःप्रज्ञावाद की इस आधारभूत मान्यता को आधुनिक युग के अंतःप्रज्ञावादी भी किसी न किसी रूप में अवश्य स्वीकार करते हैं। परन्तु इसके साथ ही आधुनिक अंतःप्रज्ञावाद में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ऐसी नयी मान्यता का भी उद्गम हुआ है जो प्राचीन अंतःप्रज्ञावाद में उपलब्ध नहीं होती। यह मान्यता है प्राकृतिक गुणों अथवा सम्बन्धों की परिकल्पना, जिसके आधार पर आधुनिक अंतःप्रज्ञावादी नैतिक निर्णयों के स्वरूप की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। आधुनिक अंतःप्रज्ञावादियों में जी० ई० मूर, एच० ए० प्रिचर्ड, सी० डी० ब्रोड, डब्ल्यू० डी० रॉस, ई० एफ० कैस्टि आदि दार्शनिकों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी दार्शनिकों का विचार है कि शुभ, उचित आदि नैतिक प्रत्यय एक विशेष अ-प्राकृतिक गुण अथवा सम्बन्ध की ओर संकेत करते हैं जिसका बोध हमें अंतःप्रज्ञा द्वारा होता है। यह अ-प्राकृतिक गुण या सम्बन्ध ही नैतिक प्रत्ययों को अन्य सभी प्रत्ययों से पृथक् करता है। वस्तुतः इसी मान्यता के आधार पर आधुनिक अंतःप्रज्ञावादी नैतिक निर्णयों को अन्य सभी प्रकार के निर्णयों से भिन्न और अद्वितीय मानते हैं। इस प्रकार अंतःप्रज्ञा द्वारा एक विशेष अ-प्राकृतिक गुण या सम्बन्ध के बोध की परिकल्पना आधुनिक अंतःप्रज्ञावाद की प्रमुख विशेषता मानी जा सकती है जो उसे प्राचीन अंतःप्रज्ञावाद से कुछ सीमा तक पृथक् करती है। वर्तमान शताब्दी में बहुत-से दार्शनिकों ने इस नवीन अंतःप्रज्ञावाद का समर्थन किया है जिनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण दार्शनिकों के नामों का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इस संक्षिप्त लेख में इन सभी आधुनिक अंतःप्रज्ञावादियों के मत का विवेचन करना सम्भव नहीं है, अतः यहाँ हम केवल दो प्रमुख अंतःप्रज्ञावादियों—एच० ए० प्रिचर्ड तथा डब्ल्यू० डी० रास के विचारों पर ही चर्चा करेंगे।

२. एच० ए० प्रिचर्ड

प्रकृतिवादियों के विपरीत अधिकतर अंतःप्रज्ञावादी परिणाम-निरपेक्ष नैतिकता को ही कर्मों के औचित्य अथवा कर्त्तव्य के निर्णय का आधार मानते हैं। उनका मत है कि किसी कर्म का औचित्य अथवा अनौचित्य उसमे उत्पन्न परिणामों पर आधारित न होकर स्वयं उसी कर्म में निहित रहता है। कर्मों एवं नियमों के औचित्य या अनौचित्य का निर्णय करते समय उनके वास्तविक अथवा सम्भावित परिणामों पर ध्यान देना अनावश्यक तथा अनुचित है। किसी विशेष परिस्थिति में हमारे लिए कौनसा कर्म उचित या अनुचित है इसका अपरोक्ष ज्ञान हमें अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा ही हो जाता है, अतः इसके लिए हमें उस कर्म के परिणामों पर विचार करने की आवश्यकता नहीं होती। स्पष्ट है कि अधिकतर अंतःप्रज्ञावादियों द्वारा मान्य यह परिणाम-निरपेक्ष नैतिक सिद्धान्त विकासवाद, सुखवाद, स्वार्थवाद, उपयोगितावाद आदि उन सभी सिद्धान्तों को अस्वीकार करता है जो परिणामों के आधार पर ही कर्मों तथा नियमों के औचित्य एवं अनौचित्य का निर्णय करते हैं। एच० ए० प्रिचर्ड और डब्ल्यू० डी० रॉस दोनों ही इस परिणामनिरपेक्षतावाद के दृढ़ समर्थक हैं।

प्रिचर्ड का एक महत्त्वपूर्ण लेख 'डज़ मारल फिलासफी रैस्ट ऑन ए मिस्टेक' अर्थात् 'क्या नैतिक दर्शन भ्रांति पर आधारित है?' १९१२ में 'माइंड' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। इसके पश्चात् उन्होंने नैतिक दर्शन की समस्याओं पर अन्य लेख भी लिखे जो १९४९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित उनकी कृति 'मॉरल आब्लिगेशन' में संकलित हैं। जैसाकि 'माइंड' में प्रकाशित प्रिचर्ड के उपर्युक्त लेख के शीर्षक से ही स्पष्ट है, इस लेख में उन्होंने यह प्रश्न उठाया कि क्या वास्तव में सम्पूर्ण नैतिक दर्शन किसी भ्रांति पर आधारित है ? अपने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि सचमुच अभी तक नैतिक दर्शन के आधार में एक बहुत बड़ी भ्रांति प्रतिष्ठित रही है और वह है कर्त्तव्य-पालन के लिए किन्हीं प्रमाणों अथवा कारणों की खोज करना। प्राचीन काल से ही यह प्रश्न उठाया जाता रहा है कि हमें अपने कर्त्तव्य का पालन क्यों करना चाहिए— अर्थात् कर्त्तव्यपालन को अनिवार्य सिद्ध करने के लिए हम कौनसे तर्क अथवा कारण प्रस्तुत कर सकते हैं ? बहुत-से दार्शनिक इस प्रश्न को महत्त्वपूर्ण मानकर अपने-अपने ढंग से इसका उत्तर देने का प्रयास करते रहे हैं। परन्तु प्रिचर्ड के मतानुसार कर्त्तव्यपालन के सम्बन्ध में उपर्युक्त प्रश्न नितांत अनुचित और अनावश्यक है, क्योंकि कर्त्तव्यपालन के लिए कोई भी तर्क अथवा कारण प्रस्तुत करना न तो सम्भव है और न आवश्यक। जो दार्शनिक कर्त्तव्य-पालन के लिए तर्क अथवा कारण प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहे हैं वे यह मान लेते हैं कि कर्त्तव्यपालन किसी अन्य उद्देश्य की पूर्ति का साधन मात्र है। प्रिचर्ड का कथन है कि कर्त्तव्यपालन को उचित एवं आवश्यक सिद्ध करने के लिए इन दार्शनिकों ने मुख्यतः दो तर्क या कारण प्रस्तुत किये हैं। इस सम्बन्ध में इन दार्शनिकों का पहला तर्क यह है कि अपने कर्त्तव्य का पालन करना स्वयं व्यक्ति के लिए लाभप्रद है— अर्थात् ऐसा करने से अंततः स्वयं उसे सुख प्राप्त होता है। कर्त्तव्यपालन के विषय में इन दार्शनिकों का दूसरा तर्क यह है कि इसके फलस्वरूप अंततः शुभ की उत्पत्ति होती है। एक ही वाक्य में इन दोनों तर्कों को स्पष्ट करते हुए प्रिचर्ड ने कहा है कि "व्यक्ति के अपने सुख तथा कर्म से उत्पन्न होने वाले शुभ को ही कर्त्तव्य का कारण बताया गया है।"[1] प्रिचर्ड के विचार में प्लेटो, हचिसन, पेले, मिल आदि दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से स्वयं व्यक्ति के सुख को ही कर्त्तव्यपालन का आवश्यक और अन्तिम आधार माना है।[2] स्पष्ट है, कि ये सभी दार्शनिक कर्त्तव्यपालन को अंततः व्यक्ति के सुख का साधन मात्र मानते हैं।

परन्तु प्रिचर्ड का निश्चित मत है कि कर्त्तव्यपालन के सम्बन्ध में उपर्युक्त दोनों तर्क अनुचित एवं भ्रामक हैं, क्योंकि इनमें कर्त्तव्य को किसी अन्य प्रयोजन का साधन मात्र मान लिया गया है। वस्तुतः प्रिचर्ड कर्त्तव्यपालन को सुख, विकास, समाज-हित आदि किसी भी उद्देश्य का साधन न मानकर स्वतःसाध्य ही मानते हैं। यही कारण है कि उन्होंने इस प्रश्न को अनुचित और अनावश्यक माना है कि हमें अपने कर्त्तव्य का पालन क्यों करना चाहिए। इस प्रश्न को उठाने वाला व्यक्ति यह मान लेता है कि कर्त्तव्यपालन स्वतःसाध्य न होकर किसी अन्य उद्देश्य की प्राप्ति का साधन मात्र है। प्रिचर्ड का विचार है कि हमें अपने कर्त्तव्य का पालन केवल इसलिए करना चाहिए कि वह हमारा कर्त्तव्य है; उसके

१. एच. ए. प्रिचर्ड, 'डू मॉरल फिलासफी रेस्ट ऑन ए मिस्टेक ?' कैनेथ पहल और मार्विन शिलर द्वारा सम्पादित 'रीडिंग्ज इन कन्टेम्पोरेरी एथिकल थ्योरी' में संकलित, पृ. ४०३।

२. वहीं, पृ. ४०३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए कोई अन्य तर्क खोजना अथवा कारण पूछना अनावश्यक और अनुचित है। किसी कर्म को करने के लिए हमारा यह ज्ञान ही पर्याप्त कारण है कि वह हमारा कर्त्तव्य है; इसके अतिरिक्त, उसे करने के लिए कोई अन्य कारण खोजना न तो वांछनीय है और न आवश्यक। स्पष्ट है कि प्रिचर्ड के मतानुसार किसी कर्म को कर्त्तव्य के रूप में करते समय उसके वास्तविक अथवा सम्भावित परिणामों का हमारे लिए कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि उस कर्म के परिणाम हमारे कर्त्तव्य को निर्धारित नहीं करते। हम अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा ही अपरोक्षतः यह जान सकते हैं कि किसी विशेष परिस्थिति में हमारा कर्त्तव्य क्या है। हमारा यह कर्त्तव्य-बोध किन्हीं तर्कों अथवा कारणों पर आधारित न होकर गणित के सत्यों के ज्ञान की भाँति ही स्वतःसिद्ध तथा नितांत अपरोक्ष होता है।[3] कुछ कारण हमें कर्त्तव्यपालन के लिए प्रेरित कर सकते हैं, किन्तु वे हमारे कर्त्तव्यपालन का आधार नहीं हो सकते।

प्रिचर्ड यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि किसी भी परिस्थिति में कर्तव्य का भली-भाँति पालन करने के लिए प्रासंगिक तथ्यों का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि ये तथ्य हमें कर्तव्य-पालन के लिए सजग और प्रेरित कर सकते हैं। इस दृष्टि से कर्म के परिणामों तथा व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का पर्याप्त महत्त्व है। कर्तव्य-पालन के विषय में दो उदाहरणों द्वारा अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए प्रिचर्ड ने कहा है कि "हम कोई कहानी सुनाने के अनौचित्य का तबतक अनुभव नहीं कर सकते जबतक हमें यह ज्ञान न हो जाय कि इससे हम किसी श्रोता के मन को आघात पहुँचाएँगे।...इसी प्रकार, जबतक हमें यह याद न आ जाय कि 'क' ने हमारा उपकार किया है तब तक हम उसे उपहार देने के कर्तव्य की बाध्यता का अनुभव नहीं कर सकते।"[4] इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कर्तव्य-पालन के विषय में प्रिचर्ड विशेष परिणामों तथा सम्बन्धों की उपेक्षा नहीं करते। वस्तुतः कर्तव्य-निर्धारण में व्यक्तियों के कुछ पारस्परिक सम्बन्धों को तो उन्होंने विशेष महत्त्व दिया ही है। इस विषय में उनका कथन है कि "विभिन्न कर्तव्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्बन्ध निहित रहते हैं। कुछ कर्तव्य हमारे अपने अथवा दूसरों के भूतकालीन कार्यों द्वारा ही निर्धारित होते हैं। उपकार के प्रतिदान का कर्तव्य भूतकाल में हमारे प्रति किसी व्यक्ति द्वारा किये गये उपकार पर आधारित है। बिल को अदा करने का कर्तव्य भूतकाल में किये गये हमारे उस वादे पर आधारित है जिसमें हमने कहा है कि किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर हम उसका मूल्य चुकायेंगे।... किसी अन्य व्यक्ति के मन को आघात न पहुँचाने के कर्तव्य का आधार वह सम्बन्ध है जो मनुष्य होने के नाते हम दोनों में अनिवार्यतः विद्यमान है।"[5] इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रिचर्ड किन्हीं विशेष परिस्थितियों में कर्तव्य-निर्धारण की दृष्टि से व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों को बहुत महत्त्व देते हैं। परन्तु वे यह मानते हैं कि किसी कर्म के वास्तविक या सम्भावित परिणामों के आधार पर इस बात का निर्णय नहीं किया

३. देखिये, वहीं, पृ. ४०८।
४. वहीं, पृ. ४०८।
५. वहीं, पृ. ४०८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता कि वह कर्म हमारा कर्तव्य है अथवा नहीं। उनके विचार में किसी कर्म के परिणामों के आधार पर उसे कर्तव्य के रूप में प्रमाणित करने का सम्पूर्ण प्रयास अनावश्यक और व्यर्थ है। इसी कारण उनके अंतःप्रज्ञात्मक सिद्धान्त को 'परिणामनिरपेक्षतावाद' की संज्ञा दी गई है।

प्रिचर्ड के कर्तव्य-सम्बन्धी उपर्युक्त सिद्धान्त के विरुद्ध दो मुख्य आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं जिनकी ओर उन्होंने स्वयं भी संकेत किया है। प्रथम आपत्ति यह है कि यदि सभी व्यक्तियों को अन्तःप्रज्ञा द्वारा अपने कर्तव्यों का अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है और यदि इस अर्थ में कर्तव्य स्वतःसिद्ध हैं तो इन कर्तव्यों के सम्बन्ध में तीव्र मतभेद की व्याख्या कैसे की जा सकती है? यदि एक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि अमुक कर्म उसका कर्तव्य है और दूसरा व्यक्ति उसके ठीक विपरीत कर्म को उस व्यक्ति का कर्तव्य मानता है तो ऐसी स्थिति में उन दोनों के कर्तव्य सम्बन्धी इस मतभेद को समाप्त करने का क्या उपाय है? इस आपत्ति का उत्तर देते हुए प्रिचर्ड ने कहा है कि विभिन्न व्यक्तियों में कर्तव्य सम्बन्धी यह मतभेद उनके नैतिक विकास के भिन्न स्तरों के कारण ही है। कुछ व्यक्तियों के नैतिक विकास का स्तर अन्य व्यक्तियों के नैतिक विकास के स्तर की अपेक्षा निम्न कोटि का होता है, अतः वे अपने कर्तव्य को भली-भाँति नहीं समझ पाते। परन्तु उपर्युक्त आपत्ति के सम्बन्ध में प्रिचर्ड का यह उत्तर पूर्णतः सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होता। इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि यदि वास्तव में कर्तव्य स्वतःसिद्ध हैं और सभी मनुष्यों को अंतःप्रज्ञा द्वारा ही उनका स्पष्ट एवं अपरोक्ष ज्ञान हो सकता है तो कर्तव्य-बोध की दृष्टि से विभिन्न व्यक्तियों के नैतिक विकास के स्तर में अन्तर नहीं होना चाहिए। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, प्रिचर्ड ने इस कठिनाई का कोई सन्तोषजनक समाधान प्रस्तुत नहीं किया। उनके कर्तव्य-सम्बन्धी सिद्धान्त के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि इसके आधार पर कर्तव्यों में होने वाले संघर्ष की सन्तोषप्रद व्याख्या नहीं की जा सकती। हमें कई बार ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ता है जब हमारे कर्तव्यों में संघर्ष होता है और हमें दो विरोधी कर्तव्यों में से किसी एक का पालन करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। अब प्रश्न यह है कि यदि हमारे कर्तव्य स्वतःसिद्ध हैं, जैसाकि प्रिचर्ड मानते हैं, तो उनमें यह संघर्ष क्यों होता है? इसके अतिरिक्त यह प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है कि कर्तव्यों में होने वाले इस संघर्ष का निराकरण कैसे किया जा सकता है? प्रिचर्ड ने इन दोनों प्रश्नों का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया है। वे गणित के नियमों की भांति ही कर्तव्यों को स्वतःसिद्ध मानते हैं, किंतु वे यह भूल जाते हैं कि गणित के दो नियमों में कभी संघर्ष नहीं होता जबकि कई बार हमारे दो कर्तव्यों में संघर्ष होता है और उनमें से हम किसी एक कर्तव्य का ही पालन कर सकते हैं। वस्तुतः जब हमारे समक्ष ऐसी स्थिति आती है तो हम प्रायः परिणामों के आधार पर ही यह निर्णय करते हैं कि हम किस कर्तव्य का पालन करें और किसका न करें। ऐसी स्थिति में हम सामान्यतः उसी कर्तव्य का पालन करते हैं जिससे अधिकतम शुभ परिणाम उत्पन्न होने की आशा होती है। परन्तु इस तथ्य की उपेक्षा करते हुए प्रिचर्ड कहते हैं कि परिणामों के आधार पर कर्तव्य का निर्धारण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार वे अपने कर्तव्य सम्बन्धी सिद्धान्त के विरुद्ध उपर्युक्त दोनों आपत्तियों का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे पाये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. डब्ल्यू० डी० रॉस

प्रिचर्ड की भांति डब्ल्यू० डी० रॉस ने भी अन्तःप्रज्ञावाद के आधार पर ही 'उचित', 'कर्तव्य', 'शुभ' आदि नैतिक प्रत्ययों की व्याख्या की है और वे भी कर्मों के औचित्य को उनके वास्तविक अथवा सम्भावित परिणामों पर आधारित न मानकर परिणामनिरपेक्ष ही मानते हैं। उन्होंने अपनी दो प्रमुख पुस्तकों —'दि राइट एण्ड दि गुड' तथा 'फाउंडेशन्स् आफ एथिक्स'— में नैतिक दर्शन सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। ये पुस्तकें क्रमशः १९३० तथा १९३९ में प्रकाशित हुईं। जैसाकि प्रथम पुस्तक के शीर्षक से ही स्पष्ट है, इसमें रॉस ने 'उचित' और 'शुभ' इन दो नैतिक प्रत्ययों की विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। वे 'उचित' तथा 'शुभ' दोनों को समान रूप से अपरिभाष्य मानते हैं, अतः उन्होंने जी० ई० मूर के इस मत का खण्डन किया है कि 'उचित' की परिभाषा 'शुभ' के आधार पर की जा सकती है। उनका विचार है कि जिस तर्क के आधार पर मूर ने 'शुभ' को अपरिभाष्य सिद्ध किया है उसी तर्क के आधार पर 'उचित' को भी अपरिभाष्य मानना आवश्यक है। जिस प्रकार 'सुखद', 'रुचिकर', 'विकसित', 'उपयोगी' आदि किसी भी प्रत्यय के आधार पर 'शुभ' को परिभाषित नहीं किया जा सकता ठीक उसी प्रकार 'अधिकतम शुभ की उत्पत्ति' के आधार पर 'उचित' की भी परिभाषा नहीं की जा सकती। 'शुभ' के समान ही 'उचित' को भी अपरिभाष्य मानते हुए वे कहते हैं कि "मुझे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'उचित' का वही अर्थ नहीं होता जो 'नैतिक दृष्टि से शुभ' का होता है और इस तथ्य की परीक्षा हम एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग कर कर सकते हैं। यदि इन दोनों का अर्थ एक ही होता है तो 'वह नैतिक दृष्टि से अच्छा मनुष्य है' के स्थान पर हम यह कह सकते थे कि 'वह उचित मनुष्य है'। .... परन्तु ऐसा कहना भाषा की दृष्टि से ही अशुद्ध नहीं है अपितु निरर्थक भी है। इससे स्पष्ट है कि 'उचित' और 'नैतिक दृष्टि से शुभ' इन दोनों का अर्थ भिन्न है।.... 'उचित' और 'अनुचित' का प्रयोग कर्म के लिए किया जाता है जबकि 'नैतिक दृष्टि से शुभ तथा अशुभ' का प्रयोग उस प्रयोजन के लिए किया जाता है जिससे प्रेरित होकर मनुष्य कर्म करता है।"[६] इस प्रकार रॉस मनुष्य के कर्मों के सन्दर्भ में ही 'उचित' शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त मानते हैं। 'वह कर्म उचित है' इस वाक्य का अर्थ उनके मतानुसार यही है कि 'वह कर्म हमें करना चाहिए' अथवा 'वह कर्म करना हमारा नैतिक कर्त्तव्य है'।[७] संक्षेप में, रॉस का यह निश्चित मत है कि 'उचित' एवं 'शुभ' ये दोनों ही अपरिभाष्य हैं और हमें अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा ही इन दोनों का अपरोक्ष ज्ञान होता है, अतः इनमें से किसी एक को दूसरे के आधार पर परिभाषित करने का प्रयास व्यर्थ एवं अनुचित है।

जैसाकि ऊपर कहा गया है, कर्त्तव्य-निर्धारण की दृष्टि से प्रिचर्ड की भांति रॉस भी परिणामनिरपेक्षवाद को ही स्वीकार करते हैं। वे भी यह मानते हैं कि कर्मों का औचित्य अथवा अनौचित्य उनके परिणामों पर निर्भर न होकर स्वयं उन्हीं में निहित रहता है और

६. डब्ल्यु. डी. रॉस, 'दि राइट ऐंड दि गुड', पृ. ३, ७।
७. वहीं, पृ. ३०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे मूल कर्त्तव्यों को परिणामों के आधार पर निर्धारित नहीं किया जा सकता। जब हम किसी कर्म को नैतिक दृष्टि से उचित या अनुचित कहते हैं तो हमारा यह निर्णय उस कर्म से उत्पन्न वास्तविक अथवा सम्भावित परिणामों पर आधारित नहीं होता। हम केवल यही देखते हैं कि वह कर्म विशेष परिस्थिति—जिसमें वह किया गया है—के अनुरूप है अथवा नहीं। अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति करते समय हम उनके परिणामों पर ध्यान नहीं देते; हम उन्हें अपना कर्तव्य समझकर उनका पालन करते हैं, किसी अन्य कारण से प्रेरित होकर नहीं। एक उदाहरण द्वारा अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए रॉस ने लिखा है कि "जब एक साधारण मनुष्य यह कहता है कि वादों को पूरा करना उचित है तो वह इस कर्म के सम्पूर्ण परिणामों के विषय में ज़रा भी नहीं सोचता; वह न तो उन्हें जानता है और न जानने की चेष्टा ही करता है। ... जब एक सामान्य व्यक्ति केवल इसलिए अपना वादा पूरा करता है कि उसे ऐसा करना चाहिए, तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह इसके सम्पूर्ण परिणामों अथवा सर्वोत्तम परिणामों के विचार से प्रेरित होकर ऐसा नहीं करता।... इसके लिए जो कारण उसे प्रेरित करता है वह केवल यही है कि उसने वादा किया है—इसके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं सोचता। वह अपने कर्म को इसलिए उचित नहीं कहता कि सब मिलाकर उसके सर्वोत्तम परिणाम निकलेंगे।"[८] इस उद्धरण से कर्त्तव्य-निर्धारण के सम्बन्ध में रॉस का परिणामनिरपेक्षतावाद पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः इसी सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने मनुष्य के सभी मूल कर्त्तव्यों की व्याख्या की है, अतः इस दृष्टि से उनका मत प्रिचर्ड के मत से भिन्न नहीं है।

परंतु हमारे कर्तव्यों के विषय में रॉस के विचार प्रिचर्ड के विचारों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और संतोषजनक प्रतीत होते हैं। वे हमारे सभी कर्तव्यों को स्वतःसिद्ध नहीं मानते, जैसाकि प्रिचर्ड का मत है। उनके विचार में कुछ थोड़े-से कर्तव्य ही ऐसे हैं जो स्वतःसिद्ध हैं और सामान्य परिस्थितियों में जिन का पालन करना सभी मनुष्यों के लिये आवश्यक है। इन कर्तव्यों को रॉस ने 'मूल कर्तव्य' अथवा 'प्राइमाफेसी ड्यूटीज़' की संज्ञा दी है। उनका कथन है कि हमें अपनी अंतःप्रज्ञा द्वारा ही इन मूल कर्तव्यों का अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है, अतः ये स्वतःसिद्ध हैं—अर्थात् इसकी अनिवार्यता को प्रमाणित करने के लिये किसी प्रकार के तर्क या प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। निम्नलिखित कर्तव्यों को रॉस ने मनुष्य के मूल कर्तव्यों के रूप में स्वीकार किया है :—अपना वचन पूरा करना, सत्य बोलना, यदि हमारे अनुचित आचरण के कारण किसी को हानि पहुंची है तो उसकी क्षतिपूर्ति करना, सेवा अथवा सहायता प्राप्त करने पर कृतज्ञता का अनुभव करना, सुख तथा उसके साधनों के वितरण के संबंध में दूसरों के साथ न्याय करना, दूसरों के सुख तथा कल्याण के लिये यथासम्भव प्रयत्न करना, अपने भीतर सद्गुणों के विकास द्वारा आत्मोन्नति के लिये प्रयास करना, दूसरों को किसी प्रकार की क्षति अथवा हानि न पहुंचाना।[९] सामान्य परिस्थितियों में परिणामों पर विचार किये बिना इन सभी मूल कर्तव्यों का पालन

८. वहीं, पृ. १, १७ :

९. वहीं, पृ. २१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना रॉस प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक मानते हैं, किन्तु उन्होंने स्पष्ट कहा है कि मूल कर्तव्यों की यह सूची पूर्ण और अंतिम नहीं है—इसमें संशोधन एवं परिवर्धन किया जा सकता है। वस्तुतः साधारण परिस्थितियों में मनुष्य मात्र के लिये इन मूल कर्तव्यों की अनिवार्यता के सम्बन्ध में रॉस का मत उचित ही प्रतीत होता है। परन्तु यहां यह उल्लेखनीय है कि शताब्दियों पूर्व गौतम बुद्ध ने जिस अष्टांगिक मार्ग का और पतंजली ने जिन पांच मूल नियमों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य—का प्रतिपादन किया था उनमें रॉस के सभी उपर्युक्त मूल कर्तव्यों का समावेश हो जाता है। इस दृष्टि से मनुष्य के मूल कर्तव्यों के विषय में उनके इस मत को नवीन और मौलिक नहीं कहा जा सकता। फिर भी रॉस ने मानव के मूल कर्तव्यों का जो विवेचन प्रस्तुत किया है सामान्य परिस्थितियों में उसकी सत्यता असंदिग्ध ही प्रतीत होती है। परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में प्रिचर्ड के सिद्धांत की भाँति रॉस का उपर्युक्त कर्तव्य-सम्बन्धी सिद्धांत भी हमारा ठीक-ठीक मार्ग-दर्शन नहीं कर पाता। कई बार दो मूल कर्तव्यों में संघर्ष होता है और ऐसी स्थिति में मनुष्य के लिये यह निर्णय करना अत्यंत कठिन हो जाता है कि वह उन दो कर्तव्यों में से किस का पालन करे। जहां तक मुझे ज्ञात है, प्रिचर्ड की भाँति रॉस ने भी मनुष्य की इस कर्तव्य-सम्बन्धी कठिनाई का कोई निश्चित और संतोषप्रद समाधान प्रस्तुत नहीं किया। वस्तुतः जिन सिद्धांतों—अंतः-प्रज्ञावाद तथा परिणाम-निरपेक्षतावाद -- में प्रिचर्ड और रॉस विश्वास करते हैं उनके आधार पर इस समस्या का समाधान समुचित प्रतीत नहीं होता।

रॉस के कर्तव्य-सम्बन्धी सिद्धान्त की उपर्युक्त कठिनाई का मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि प्रिचर्ड की भाँति वे भी कर्तव्य-निर्धारण के लिये परिणामों को अप्रासंगिक तथा अनावश्यक मानते हैं। उनके मतानुसार परिणामों पर विचार किये बिना ही मनुष्य को सभी मूल कर्तव्यों का पालन करना चाहिये, क्योंकि कर्मों का औचित्य अथवा अनौचित्य उनके परिणामों पर निर्भर न होकर स्वयं कर्मों में ही निहित रहता है। कर्तव्य-पालन के विषय में अपने इसी मत को स्पष्ट करते हुए रॉस ने लिखा है कि "कुछ विशेष परिणामों को ध्यान में रख कर कर्म करना हमारा कर्तव्य नहीं है। हमारे कर्म, कम से कम विशेष कर्तव्यों का पालन करने के लिये किये गए हमारे कर्म, इसलिये उचित नहीं हैं कि उनके फलस्वरूप कुछ परिणाम उत्पन्न होंगे, जैसाकि उपयोगितावादियों का मत है। ..... हमें एक विशेष प्रकार के कर्म के आंतरिक औचित्य को स्वीकार करना पड़ेगा जो उसके परिणामों पर आधारित न होकर उसके स्वरूप में ही निहित रहता है।"[१०] इस प्रकार स्पष्ट है कि रॉस सुखवाद, उपयोगितावाद आदि सभी परिणाम-सापेक्ष सिद्धांतों का मंडन करते हैं। उनका यह परिणाम-निरपेक्षतावाद इस मान्यता पर आधारित है कि 'औचित्य' एक ऐसा 'अ-प्राकृतिक गुण' है जो उचित कर्मों में निहित रहता है और जिसका हमें अपरोक्ष रूप से अंतःप्रज्ञा द्वारा ज्ञान हो जाता है। परन्तु अ-प्राकृतिक गुण होते हुए भी यह 'औचित्य' उचित कर्म के कुछ विशेष प्राकृतिक गुणों पर ही निर्भर रहता है। रॉस की यह मान्यता

१०. वहीं, पृ. ४६, ४७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ अस्पष्ट और असंतोषजनक ही प्रतीत होती है। सर्वप्रथम उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया कि 'औचित्य' उचित कर्म के किन प्राकृतिक गुणों पर निर्भर रहता है और क्यों। इसके अतिरिक्त, उनकी उपर्युक्त मान्यता के विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि यदि कर्तव्य-चेतना से प्रेरित कर्म ही उचित हैं, जैसाकि वे मानते हैं, तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन कर्मों का औचित्य कर्तव्य-चेतना पर ही निर्भर है और यह कर्तव्य-चेतना कर्मों में निहित न होकर उन्हें करने वाले व्यक्तियों में ही निहित रहती है। इस प्रकार अंततः कर्मों के औचित्य का आधार मनुष्य की कर्तव्य-चेतना ही है स्वयं कर्मों का स्वरूप नहीं, जैसाकि रॉस का मत है।

'औचित्य' की भाँति 'शुभत्व' को भी रॉस वस्तुगत अ-प्राकृतिक गुण मानते हैं जो शुभ वस्तुओं के कुछ प्राकृतिक गुणों के फलस्वरूप उनमें विद्यमान रहता है। इसी कारण वे उन सभी सिद्धान्तों को अस्वीकार करते हैं जो शुभ को अंततः मनुष्य की इच्छाओं, भावनाओं अथवा रुचियों पर आधारित मानते हैं। रॉस का निश्चित मत है कि कर्मों या वस्तुओं का शुभ होना किसी व्यक्ति अथवा समुदाय की भावनाओं, रुचियों तथा इच्छाओं पर निर्भर नहीं होता; यदि कोई वस्तु शुभ है तो वह शुभ ही रहेगी —चाहे उसके सम्बन्ध में हमारी भावनाएँ कुछ भी हों। दूसरे शब्दों में, शुभत्व पूर्णतः वस्तुगत गुण है जो मनुष्य की भावनाओं या इच्छाओं के साथ परिवर्तित नहीं होता। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रॉस नैतिक दृष्टि से 'स्वतः शुभ' को ही महत्त्व देते हैं, 'परतः शुभ' को नहीं। इसका कारण यह है कि मात्र साधन होने के कारण परतः शुभ परिवर्तित होता रहता है जबकि स्वतः शुभ सदैव अपरिवर्तित रहता है। अपने-आप में शुभ होने के कारण स्वतःशुभ किसी अन्य वस्तु के शुभत्व पर निर्भर नहीं रहता। रॉस ने स्वतःशुभ के स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया है :—"स्वतःशुभ वह है जो परिणामों पर निर्भर नहीं रहता, अर्थात् उसके परिणाम चाहे कुछ भी हों, वह सदा शुभ ही रहता है। ··· जो वस्तु स्वतःशुभ है वह सदा शुभ ही बनी रहेगी चाहे अन्य वस्तुएँ रहें या न रहें। ··· यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जो सिद्धान्त शुभत्व को शुभ वस्तु और किसी अन्य वस्तु में सम्बन्ध मात्र मानता है वह किसी वस्तु को स्वतःशुभ नहीं मान सकता, क्योंकि किसी वस्तु को स्वतःशुभ कहने का अर्थ यही है कि अन्य कुछ भी शेष न रहने पर वह वस्तु शुभ ही बनी रहेगी।"[११] वस्तुतः रॉस यह मानते हैं कि यदि कोई वस्तु स्वतः शुभ है तो समय और स्थान के परिवर्तन के फलस्वरूप उसके शुभत्व में कोई परिवर्तन नहीं होता। औचित्य की भांति स्वतःशुभत्व भी अ-प्राकृतिक गुण है जो शुभ वस्तु के कुछ प्राकृतिक गुणों पर ही निर्भर रहता है और जिसका ज्ञान हमें अपरोक्षतः अंतःप्रज्ञा द्वारा ही प्राप्त होता है। स्वतःशुभत्व के विषय में रॉस के इस मत के विरुद्ध भी वही आपत्ति उठायी जा सकती है जो औचित्य के सम्बन्ध में उनके मत के विरुद्ध उठायी गई है—अर्थात् वे यह स्पष्ट नहीं करते कि शुभत्व शुभ वस्तु के कौन से प्राकृतिक गुणों पर निर्भर रहता है और क्यों ?

प्रस्तुत खंड को समाप्त करने से पूर्व इस प्रश्न पर भी विचार कर लेना आवश्यक है

११. वहीं, पृ. ६८, ७२;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि रॉस के मतानुसार कौन-सी वस्तुएँ हैं। स्वतःशुभ हैं। मूल कर्तव्यों की भाँति स्वतःशुभ वस्तुओं के सम्बन्ध में भी उनका मत बहुत स्पष्ट और निश्चित है। उनके विचार में सद्गुण, ज्ञान, न्याय तथा सुख ये चारों वस्तुएँ निश्चय ही स्वतःशुभ हैं। सद्गुण के अंतर्गत उन्होंने कुछ विशेष **सदिच्छाओं** को सम्मिलित किया है। उदाहरणार्थ कर्तव्य-पालन की इच्छा, दूसरों को सुख प्रदान करने की इच्छा तथा दूसरों के दुःख को दूर करने की इच्छा ऐसी ही **सदिच्छाएँ** हैं। इन इच्छाओं अथवा सद्वृत्तियों को रॉस ने स्वतःशुभ माना है। इन **सदिच्छाओं** के अतिरिक्त ज्ञान को भी रॉस स्वतःशुभ मानते हैं किंतु, जहां तक मुझे मालूम है, उन्होंने 'ज्ञान' का अर्थ भलीभाँति स्पष्ट नहीं किया है। सद्गुण और ज्ञान के साथ-साथ उन्होंने न्याय को भी स्वतःशुभ के रूप में स्वीकार किया है। व्यक्ति के सद्गुणों तथा दुर्गुणों के अनुपात में उसे क्रमशः समुचित सुख और दुःख प्रदान करना ही उनके विचार में 'न्याय' है।[१२] सद्गुण, ज्ञान और न्याय की भाँति सुख को भी वे स्वतःशुभ ही मानते हैं। परन्तु वे सुखवादियों के इस मत का खंडन करते हैं कि सुख सदैव अपने-आप में शुभ और दुःख सदैव अपने-आप में अशुभ होता है। इस मत के विरुद्ध उनका कथन है कि व्यक्ति के ऐसे सुख को स्वतःशुभ नहीं माना जा सकता जिसका वह अधिकारी नहीं है। यही नहीं, यदि कोई व्यक्ति दुर्गुणयुक्त है तो उसे प्राप्त होने वाला दुःख उनके मतानुसार शुभ है। सुख को सदैव स्वतःशुभ मानने के विरुद्ध रॉस ने यह भी कहा है कि कुछ परिस्थितियों में प्राप्त सुख अपने-आप में अशुभ होता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति अश्लील अथवा निर्दयतापूर्ण कर्मों द्वारा सुख प्राप्त करता है तो उसके सुख को अपने-आप में अशुभ ही माना जायेगा। संक्षेप में, रॉस का विचार है कि न तो सुख सदैव स्वतःशुभ होता है और न दुःख सदैव अपने-आप में अशुभ। परन्तु यहां उनके विचारों में कुछ आत्म-विरोध दृष्टिगोचर होता है। एक ओर तो वे यह मानते हैं कि जो वस्तु स्वतःशुभ है वह सदैव स्वतःशुभ रहती है—समय, स्थान और परिस्थितियों के फलस्वरूप उसके शुभत्व में कभी किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं हो सकता। दूसरी ओर वे सुख को स्वतःशुभ मानते हुए भी उसे सदैव अपने-आप में शुभ नहीं मानते। जहां तक मुझे ज्ञात है, रॉस ने अपने विचारों में इस आत्म-विरोध का कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया। वस्तुतः यदि सुख सदैव और सभी परिस्थितियों में शुभ नहीं है, जैसाकि रॉस मानते हैं, तो उसे स्वतःशुभ मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। परन्तु अपने विचारों में आत्मसंगति की ओर समुचित ध्यान दिये बिना सुख को स्वतःशुभ वस्तुओं में सम्मिलित करते हुए वे कहते हैं कि "चार स्वतःशुभ प्रतीत होते हैं—सद्गुण, सुख, सद्गुणयुक्त व्यक्तियों को सुख की प्राप्ति और ज्ञान। मैं किसी ऐसी वस्तु को खोजने में असमर्थ हूँ जो स्वतःशुभ हो किंतु इनमें से कोई भी न हो अथवा जिसमें इन स्वतःशुभ वस्तुओं में से दो या अधिक सम्मिलित न हों।"[१३] स्पष्ट है कि रॉस स्वतःशुभ वस्तुओं की सूची में सुख को भी समाविष्ट करते हैं, किंतु, जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, ऐसा करना उनके विचारों में आत्म-विरोध उत्पन्न करता है।

१२ देखिये, वहीं, पृ० ११३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः सुख को स्वतःशुभ मानते हुए भी रॉस उसे अन्य स्वतःशुभ वस्तुओं की अपेक्षा निम्नकोटि का और कम मूल्यवान् मानते हैं। सद्गुण और ज्ञान के साथ सुख की तुलना करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा है :—"मैं समझता हूं कि मूल्य की दृष्टि से सुख सद्गुण तथा ज्ञान की अपेक्षा निश्चय ही निम्नकोटि का अथवा निकृष्ट है।··· सुख तथा सद्गुण के सम्बन्ध में मुझे यह अधिक सत्य प्रतीत होता है कि सुख चाहे कितना ही अधिक हो वह थोड़े-से सद्गुण के समकक्ष भी नहीं हो सकता; वस्तुतः मूल्य की दृष्टि से सुख की अपेक्षा सद्गुण का कहीं अधिक उच्च स्थान है।"[१४] अपने इस मत के समर्थन में रॉस ने अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं। उनका प्रथम तर्क यह है कि यद्यपि अनेक पशुओं के जीवन में दुःख की अपेक्षा सुख की मात्रा अधिक होती है और इसके विपरीत बहुत-से मनुष्यों को सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक प्राप्त होता है, फिर भी सामान्यतः मानव-जीवन को पशु के जीवन की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् समझा जाता है। इस संदर्भ में उन्होंने मिल की इस प्रसिद्ध उक्ति को भी उद्धृत किया है कि "संतुष्ट सूअर की अपेक्षा असंतुष्ट मनुष्य होना अधिक अच्छा है।" सद्गुण की अपेक्षा सुख को निकृष्ट मानने के लिये रॉस का दूसरा तर्क यह है कि अपने लिये सुख प्राप्त करना सामान्यतः व्यक्ति का कर्तव्य नहीं माना जाता जबकि अपने भीतर सद्गुणों का विकास करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य समझा जाता है। इससे निश्चय ही यह प्रमाणित होता है कि सुख की अपेक्षा सद्गुण कहीं अधिक उत्कृष्ट है। यदि किसी व्यक्ति में सद्गुण की कमी है तो फिर चाहे वह कितना ही सुख प्राप्त करले उसके आधार पर वह अपनी इस क्षति की पूर्ति नहीं कर सकता। सद्गुण की अपेक्षा सुख को निकृष्ट सिद्ध करने के लिये रॉस ने तीसरा तर्क यह दिया है कि कुछ कर्मों—यथा, निर्दयता—से प्राप्त सुख अपने-आप में अशुभ होता है जबकि सद्गुण सदैव स्वतःशुभ ही रहता है। इन सब तर्कों के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि सद्गुण की अपेक्षा सुख कम मूल्यवान् है और सुख की उत्पत्ति तथा प्राप्ति तभी तक शुभ मानी जा सकती है जब तक वह सद्गुण के विकास में बाधक सिद्ध न हो। इसी प्रकार रॉस ने ज्ञान की अपेक्षा भी सद्गुण को मूल्य की दृष्टि से कहीं अधिक उच्च स्थान दिया है। स्वकर्तव्य-पालन की इच्छा को सद्गुण का सर्वोत्तम रूप मानते हुए वे कहते हैं कि अपने कर्तव्य का त्याग और चरित्र का पतन करके ज्ञान की असीमित वृद्धि भी नैतिक दृष्टि से अनुचित है।[१५] संक्षेप में, सद्गुण—विशेषतः कर्तव्यनिष्ठा—को ही रॉस सर्वोत्तम स्वतःशुभ वस्तु मानते हैं।

४. मूल्यांकन

सम्भवतः यह कहना अनुचित न होगा कि अंतःप्रज्ञावाद में आंशिक सत्य अवश्य विद्यमान है। इस सिद्धान्त के प्रणेताओं का यह मत उचित ही प्रतीत होता है कि प्राकृतिक अथवा अनुभवात्मक प्रत्ययों के आधार पर नैतिक प्रत्ययों की ठीक-ठीक परिभाषा नहीं की जा सकती और नैतिक निर्णय भावनाओं की अभिव्यक्तियाँ तथा आदेशों से भिन्न होते हैं।

१३. वहीं, पृ. १४०।
१४. वहीं, पृ. १४१, १५०।
१५. देखिये, वहीं, पृ. १५२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी कर्म को नैतिक दृष्टि से उचित या शुभ कहना उसे सुखद कहने अथवा उसके विषय में अपनी भावनाएँ अभिव्यक्त करने से निश्चय ही भिन्न है। इसी प्रकार अंत प्रज्ञावादियों की इस मान्यता को भी कुछ सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है कि कर्मों का औचित्य उनके परिणामों पर निर्भर नहीं होता। हम कुछ विशेष परिस्थितियों में परिणामों पर विचार किये बिना भी कुछ कर्मों को उचित या अनुचित कहते हैं। उदाहरणार्थ हम यह मानते हैं कि निर्दोष व्यक्ति को मृत्यु-दण्ड देना नैतिक दृष्टि से अनुचित है—फिर चाहे इससे किसी व्यक्ति या समुदाय का कितना ही हित क्यों न हो। इसके अतिरिक्त सामान्य व्यक्ति ऋण चुकाते समय अथवा अपने वचन का पालन करते समय प्रायः इन कर्मों के परिणामों पर ध्यान नहीं देता। इस दृष्टि से अंतःप्रज्ञावादियों के परिणामनिरपेक्षतावाद को अंशतः उचित माना जा सकता है। अन्त में अंतःप्रज्ञावादियों की इस मान्यता का भी समर्थन किया जा सकता है कि नैतिक प्रत्यय प्राकृतिक गुणों का बोध नहीं कराते, क्योंकि वे इन गुणों का बोध कराने वाले अनुभवात्मक प्रत्ययों से भिन्न होते हैं।

परन्तु अंतःप्रज्ञावाद के उपर्युक्त आंशिक सत्यों को स्वीकार करते हुए भी यह कहना पड़ता है कि वास्तव में यह कोई सन्तोषप्रद सिद्धान्त नहीं है। हम पिछले दो खण्डों में देख चुके हैं कि प्रिचर्ड और रॉस के अंतःप्रज्ञात्मक सिद्धान्त के विरुद्ध ऐसी अनेक आपत्तियाँ हैं जिनका वे सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे पाये। इन आपत्तियों के अतिरिक्त उनके सिद्धान्त के विरुद्ध अन्य बहुत-सी आपत्तियाँ भी उठायी जा सकती हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :—

(१) अंतःप्रज्ञावादियों की आधारभूत मान्यता यह है कि नैतिक प्रत्यय कुछ विशेष अ-प्राकृतिक गुणों का बोध कराते हैं और इसी कारण वे अनुपम अथवा अद्वितीय हैं। उनकी यह मान्यता इस सिद्धान्त पर आधारित है कि प्रत्येक विशेषण अनिवार्यतः किसी गुण का बोध कराता है। परन्तु आधुनिक भाषाशास्त्री इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि सभी विशेषण गुणबोधक नहीं होते; कुछ विशेषण वक्ता की भावनाओं अथवा अभिवृत्तियों को अभिव्यक्त करते हैं और श्रोता में उन्हीं भावनाओं या अभिवृत्तियों को जागृत करते हैं। उदाहरणार्थ 'उत्तम', 'प्रशंसनीय', 'दुष्ट', 'घृणास्पद' आदि विशेषण 'लाल', 'सफेद', 'लम्बा', 'चौड़ा' आदि विशेषणों की भाँति गुणबोधक नहीं हैं। इस नवीन सिद्धान्त के आधार पर अधिकतर समकालीन दार्शनिक यह मानते हैं कि 'शुभ', 'उचित', 'उत्कृष्ट', 'निकृष्ट' आदि नैतिक प्रत्ययों का सम्बन्ध मनुष्य की भावनाओं अथवा अभिवृत्तियों से है, अतः वे न तो प्राकृतिक गुणों का बोध कराते हैं और न अ-प्राकृतिक गुणों का। ऐसी स्थिति में नैतिक प्रत्ययों के अर्थ और स्वरूप के विषय में अंतःप्रज्ञावादियों का मत भी उतना ही अनुचित एवं अमान्य है जितना प्रकृतिवादियों का। इसके अतिरिक्त अंतःप्रज्ञावादी 'अ-प्राकृतिक गुणों' के स्वरूप को भी स्पष्ट नहीं कर पाये। उनका कथन है कि ये गुण अनुभवनिरपेक्ष तथा देश-कालातीत हैं, अतः हमें केवल अंतःप्रज्ञा द्वारा ही इनका अपरोक्ष ज्ञान हो सकता है। परन्तु उनकी इस परिभाषा से अ-प्राकृतिक गुणों का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। जब एक साधारण व्यक्ति किसी कर्म को शुभ या उचित कहता है तो यह मानना बहुत कठिन है कि उसे अंतःप्रज्ञा द्वारा उस कर्म के किसी विशेष अ-प्राकृतिक गुण का ज्ञान होता है। वस्तुतः हमारा सामान्य अनुभव ऐसे रहस्यमय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथाकथित 'अ-प्राकृतिक गुणों' के अस्तित्व की पुष्टि नहीं करता। इस प्रकार अंतःप्रज्ञा-वादियों ने अ-प्राकृतिक गुणों की जो कल्पना की है वह निराधार ही प्रतीत होती है।

(२) अंतःप्रज्ञावादियों की दूसरी आधारभूत मान्यता यह है कि प्रत्येक मनुष्य में एक विशेष शक्ति– अर्थात् अंतःप्रज्ञा—अवश्य विद्यमान रहती है जो उसे कर्मों के औचित्य तथा अनौचित्य का ज्ञान कराती है। परन्तु उनकी यह मान्यता भी उचित एवं युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। सर्वप्रथम यह कहना बहुत कठिन है कि 'अंतःप्रज्ञा' का वास्तविक अर्थ और स्वरूप क्या है। फिर यदि इस कठिनाई को छोड़ भी दिया जाय तो यह प्रमाणित करना असम्भव प्रतीत होता है कि प्रत्येक मनुष्य में यह अंतःप्रज्ञा विद्यमान रहती है। यदि इन दोनों कठिनाइयों पर ध्यान न देते हुए हम यह मान लें कि सभी मनुष्यों में अंतःप्रज्ञा विद्यमान रहती है तो फिर यह प्रश्न उठता है कि विभिन्न व्यक्तियों में कर्मों के औचित्य के विषय में तीव्र मतभेद क्यों होता है और इस मतभेद का निराकरण कैसे किया जा सकता है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, अंतःप्रज्ञावादी इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का कोई सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दे सके। यदि एक व्यक्ति की अंतःप्रज्ञा किसी कर्म को उचित बताती है और दूसरे व्यक्ति की अंतःप्रज्ञा उसी कर्म को अनुचित बताती है तो हमारे पास यह जानने का कोई वैज्ञानिक उपाय नहीं है कि इन दोनों में से किसकी अंतःप्रज्ञा वास्तव में मान्य है और क्यों। स्पष्ट है कि यह कठिनाई अंतःप्रज्ञावादियों के सिद्धान्त को अंततः व्यक्तिनिष्ठवाद में ही परिणत कर देती है जिसका वे स्वयं दृढ़तापूर्वक खण्डन करते रहे हैं।

(३) कर्मों के औचित्य तथा कर्त्तव्यों को परिणामों पर आधारित न मानने के कारण अंतःप्रज्ञावादी इस प्रश्न को अनुचित एवं निरर्थक मानते हैं कि हमें अपने कर्त्तव्यों का पालन क्यों करना चाहिए। परन्तु उनके इस मत का पूर्णतः समर्थन करना बहुत कठिन प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि हमारे कर्मों के औचित्य और कर्त्तव्यों का उनके परिणामों से अनिवार्य सम्बन्ध है। हम केवल उन्हीं कर्मों को कर्त्तव्यों के रूप में स्वीकार करते हैं जो अंततः शुभ होते हैं। ऐसे किसी कर्म को कर्त्तव्य नहीं माना जा सकता जिससे किसी का हित नहीं होता। स्पष्ट है कि हमारे सभी कर्त्तव्य अंततः व्यक्ति और समाज के कल्याण पर ही आधारित हैं, अतः यह प्रश्न निरर्थक नहीं है कि हमें अपने कर्त्तव्यों का पालन क्यों करना चाहिए।

(४) प्रकृतिवाद का खण्डन करते हुए भी स्वयं अंतःप्रज्ञावादी भी प्रकृतिवादियों के समान ही नैतिक निर्णयों को पूर्णतः तथ्यात्मक मानते हैं। इस दृष्टि से इन दोनों सिद्धांतों में अन्तर केवल इतना ही है कि प्रकृतिवाद के अनुसार नैतिक निर्णय प्राकृतिक गुणों का बोध कराते हैं और अंतःप्रज्ञावाद के अनुसार अ-प्राकृतिक गुणों का। परन्तु जैसाकि हम देख चुके हैं, गुणबोधक न होने के कारण नैतिक निर्णय वास्तव में तथ्यात्मक निर्णयों से भिन्न होते हैं। किसी कर्म को नैतिक दृष्टि से उचित या अनुचित कहते समय हम उसके प्रति पूर्णतः तटस्थ अथवा उदासीन नहीं रहते; हम उसके सम्बन्ध में अपनी भावनाओं तथा अभिवृत्तियों को अवश्य अभिव्यक्त करते हैं। परन्तु प्रकृतिवादियों की भाँति अंतःप्रज्ञा-वादी भी इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को स्वीकार नहीं करते।

उपर्युक्त सभी आपत्तियों के कारण अंतःप्रज्ञावाद को पूर्णतया सन्तोषप्रद सिद्धान्त नहीं माना जा सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिषद् के पदाधिकारी तथा आजीवन सदस्य

अध्यक्ष	:	यशदेव शल्य, डी-३१, बापूनगर, जयपुर ।
उपाध्यक्ष	:	डा० अनन्तगणेश जावडेकर, आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग, म० स० विश्वविद्यालय, बड़ौदा ।
उपाध्यक्ष	:	डा० रमाकांत त्रिपाठी, आचार्य दर्शन विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
मन्त्री	:	श्री चांदमल, दर्शन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ।
संयुक्त मन्त्री	:	डा० रामजी सिंह, दर्शन विभान, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर ।
संयुक्त मन्त्री	:	डा० ज० अ० याज्ञिक, आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद ।
संयुक्त मन्त्री	:	डा० जगत्प्रकाश आत्रेय, अध्यक्ष दर्शन विभाग, के० जी० के० कालेज, मुरादाबाद ।
सम्पादक दार्शनिक त्रैमासिक तथा नेतृत्व तथा समाज-दर्शन	:	यशदेव शल्य ।

आजीवन सदस्य

१. श्रीमती महादेवी वर्मा
महिला विद्यापीठ,
इलाहाबाद

२. श्री संगमलाल पाण्डेय
दर्शन विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

३. डा० किशोरीशरण वर्मा
कुल सचिव,
बिहार विश्वविद्यालय,
मुज़फ्फरपुर (बिहार)

४. डा० सच्चिदानन्द मिश्र
अध्यक्ष, अंग्रेज़ी विभाग,
जगजीवन कालेज, बुनियादगंज,
गया (बिहार)

५. डा० अयोध्याप्रसाद अचल
प्राचार्य,
जगजीवन कालेज, बुनियादगंज,
गया (बिहार)

६. डा० रमाशंकर श्रीवास्तव
आचार्य एवं अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
रांची विश्वविद्यालय,
रांची (बिहार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७. श्री अशोककुमार वर्मा
अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
बी० एन० कालेज,
पटना

८. श्री सुशीलकुमार पटेसिया
गोल बाज़ार,
जबलपुर

९. श्री मधुसूदनप्रसाद
१–ई, राजेन्द्रनगर,
पटना

१०. सुश्री विनीता बांचू
दर्शन विभाग, आई० टी० कालेज,
लखनऊ

११. श्री राघवेन्द्र शरण
अध्यक्ष, मनोविज्ञान विभाग,
बुद्ध डिग्री कालेज,
कुशीनगर, देवरिया (बिहार)

१२. डा० रामजी सिंह
ज्ञानेन्द्र मुखर्जी रोड,
नया टोला, भीखनपुरा,
भागलपुर

१३. श्री लाल अमरेन्द्र सिंह
मनोविज्ञान विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर

१४. श्री श्यामकिशोर सेठ
दर्शन विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

१५. डा० के० सच्चिदानन्द मूर्ति
कुलपति, वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय,
तिरुपति (आंध्रप्रदेश)

१६. डा० बी० वी० कृष्ण
दर्शन विभाग,
आंध्र विश्वविद्यालय,
वाल्तेर (आंध्र प्रदेश)

१७. डा० शिवनारायणलाल श्रीवास्तव
१३७१, नेपियर टाउन,
जबलपुर

१८. श्री केदारनाथ तिवारी
दर्शन विभाग,
भागलपुर विश्वविद्यालय,
भागलपुर

१९. श्री सुरेशनारायण मल्ल,
एड्वोकेट, स्टेन्ले रोड,
इलाहाबाद

२०. श्री ची० व० रावल
दर्शन विभाग,
वहाउद्दीन कालेज,
जूनागढ़

२१. डा० धीरेन्द्र शर्मा
एम–१२०, ग्रेटर कैलाश,
नयी दिल्ली

२२. श्री परमानन्द भाई पटेल
गोल बाज़ार,
जबलपुर

२३. डा० अजीत सिन्हा
दर्शन विभाग,
गया विश्वविद्यालय,
गया (बिहार)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२४. श्री एस० एस० मेहता
दर्शन विभाग,
राजकीय महाविद्यालय,
मन्दसौर (म० प्र०)

२५. डा० हज़ारीलाल माहेश्वरी
श्री अरविन्द आश्रम,
पांडिचेरि

२६. डा० शिवानन्द शर्मा
दर्शन विभाग,
सेंट एंड्रूस कालेज,
गोरखपुर

२७. डा० धर्मेन्द्र गोयल
ई–१/३९, सेक्टर–१४,
चण्डीगढ़

२८. श्री हरिश्चन्द्र शर्मा
एड्वोकेट, एड्मांस्टन रोड,
इलाहाबाद

२९. डा० अवधविहारीलाल कपूर,
राजकीय डिग्री कालेज,
ज्ञानपुर (वाराणसी)

३०. श्री चन्द्रशेखर शरण
बैरिस्टर, एड्मांस्टन रोड,
इलाहाबाद

३१. स्वामी रामानन्द भारती
जानी बिगहा मठ,
पोस्ट–ठनकुप्पा,
गया (बिहार)

३२. श्री यशदेव शल्य
डी–३१, बापूनगर,
जयपुर

३३. श्री चांदमल
दर्शन विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

३४. डा० कुमारी सुनयना दिवेटिया
म० स० विश्वविद्यालय,
बड़ौदा

३५. डा० शांतिप्रकाश आत्रेय
संचालक, ग्राम विद्यापीठ,
सरस्वती नगर,
पो० आ० राजपुर (सहारनपुर)

३६. ड० या० मसीह
प्रति कुलपति,
रांची विश्वविद्यालय,
रांची

३७. डा० हरिमोहन झा
रानीघाट क्वार्टर्ज़,
पटना–५

३८. श्री जगदानन्द पाण्डेय
मनोविज्ञान विभाग,
जगजीवन कालेज,
आरा (बिहार)

३९. श्री ब० स० चौहान,
दर्शन विभाग,
ल० सिंह कालेज,
मुज़फ्फरपुर (बिहार)

४०. डा० इशरत हसन अनवर
प्रेम निशान, दूधपुर,
अलीगढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४१. प्रो० राममूर्ति लूंबा
आचार्य एवं अध्यक्ष मनोविज्ञान विभाग,
काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

४२. डा० नन्दकिशोर देवराज
आचार्य दर्शन विभाग,
हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

४३. डा० बसन्तकुमार लाल
२३/१७४, राजेन्द्रनगर,
पटना-१६

४४. डा० जगत्मोहन प्रसाद
दर्शन विभाग,
भागलपुर विश्वविद्यालय,
भागलपुर

४५. श्री अमिनेश सेनगुप्त
२७, डी० एन० सिंह रोड,
भागलपुर

४६. श्री विनयानन्द दास
मुगल बाज़ार,
मुंगेर (बिहार)

४७. प्रिंसिपल
मुरारका कालेज, सुल्तान गंज,
भागलपुर

४८. श्री मदनसिंह हिम्मतसिंह
श्री अरविन्द आश्रम,
पांडिचेरि

४९. श्री कार्यानन्द शर्मा
द्वारा डा० बसन्तकुमार लाल,
२३/१७४, राजेन्द्रनगर,
पटना-१६

५०. श्री सपूतलाल झा
दर्शन विभाग,
गणेशदत्त कालेज,
बेगूसराय, जि० मुंगेर (बिहार)

५१. डा० राजेन्द्रप्रसाद
आचार्य, दर्शन विभाग,
आई० आई० टी०,
कानपुर

५२. डा० राजनारायण
दर्शन विभाग,
मेरठ विश्वविद्यालय,
मेरठ

५३. डा० कुमारी रूपरेखा वर्मा
एम-१/१४, अलीगंज स्कीम, महानगर,
लखनऊ

५४. डा० कुमारी छाया राय
७९६, नेपियर टाउन,
जबलपुर

५५. डा० ए० एन० वर्मा
दर्शन विभाग,
बिरला इंस्टीट्यूट आफ टेक्नालोजी,
पो०-मेसरा, रांची

५६. डा० महेशचंद्र भारतीय
के० जी०-९२, न्यू कविनगर,
गाजियाबाद (उ० प्र०)

५७. डा० केवलकृष्ण मित्तल
३/३९, रूप नगर,
दिल्ली-७

५८. डा० एस० एन० शर्मा
प्रिंसिपल,
गवर्नमेंट हायर सेकेण्डी स्कूल,
जब्बल (हिमाचल प्रदेश)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५९. श्री हरिमुकुन्द शर्मा
द्वारिका पुरी,
अलीगढ़

६०. डा० श्रीमती प्रकाश आत्रेय
दीवान बाजार,
मुरादाबाद

६१. श्रीमती शांति त्रिपाठी
द्वारा डा० डी० एन० त्रिपाठी,
लोहागढ़, मुरादाबाद

६२. ला० पंचानन सिन्हा
दर्शन विभाग,
पटना कालेज,
पटना-५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

113444
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

113444

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के प्रकाशन

१.	अनुभववाद	सं. यशदेव शल्य	५.५०
२.	समकालीन दार्शनिक समस्याएं	सं. यशदेव शल्य	१३.००
३.	दार्शनिक विश्लेषण	ले. यशदेव शल्य	१२.००
४.	विषय और आत्म	ले. यशदेव शल्य	२०.००
५.	समकालीन भारतीय दर्शन	सं. के. सच्चिदानन्द मूर्ति	१२.००
६.	भारतीय मनोविज्ञान	सं. नारायण शास्त्री द्राविड़	९.००
७.	अपोहसिद्धि, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	३.००
८.	न्यायबिन्दु, अनुवाद एवं व्याख्या	गोविन्दचन्द्र पाण्डे	८.००
९.	नृतत्त्व तथा समाजदर्शन (७ खंड)	सं. दयाकृष्ण, गोविन्दचन्द्र पाण्डे, यशदेव शल्य	५२.००

श्री यशदेव शल्य द्वारा अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के लिये डी ३१, बापूनगर जयपुर से संपादित तथा प्रकाशित एवं जयपुर मान प्रिंटर्स, बाण वालों का दरवाज़ा, चौड़ा रास्ता, जयपुर से मुद्रित।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Computed
199 -2006

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by the Internet Archive in 2007 with funding from Microsoft Corporation